शेषिक
र्शन

महर्षि कणाद प्रणीत

भाष्यकार—
स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती

॥ ओ३म् ॥

श्रीमन्महर्षि कणाद मुनि प्रणीत

वैशेषिक-दर्शन

भाष्यकार

श्री १०८ स्वामी दर्शनानन्द जी सरस्वती

प्रेम पुस्तक भण्डार

बिहारीपुर — बरेली (उ. प्र.)

दान दाताओं की सूची

१, श्री सीताराम जी आर्य "प्रधान"
६—किंगस रोड हावड़ा, कलकत्ता — २०११)

२. श्री गजानन्द जी आर्य
१६-वालीगञ्ज किलकिलेवर रोड, ६-फ्लोर कलकत्ता-१६ — १०१)

३. ईश्वर चन्द आर्य टाँडा, (फैजाबाद) — १०१)

४. श्री सूरजमल वैजनाथ
१३८-कानिंग स्ट्रीट, कलकत्ता-७०००० — ५१)

५. श्री भूपेन्द्र पाल कपूर
न:—६५ कालेज स्ट्रीट, कलकत्ता-६ — २५)

६. श्री परमेश्बरी दयाल एन्ड कम्पनी
टांडा, (फैजाबाद) — २५)

७. प्रधानः— आर्य समाज मन्दिर
दारजिलिंग, (उड़ीसा) — ११)

८. प्रधानः— आर्य समाज मन्दिर. शाहजहाँपुर — २१)

९. मंत्रीः— आर्य समाज मन्दिर
सुभाष नगर, फैजाबाद. — २१)

१०. प्रधान आर्य समाज मन्दिर, अखवर पुर — ५०)

११. आर्य समाज मन्दिर, जगत पुर, बरेली, — ११)

१२. रामलखन अग्रवाल, टाँडा (फैजाबाद) — ११)

१३. देवेन्द्र कुमार सर्राफ, टाँडा (फैजाबाद) — ११)

१४. आर्य समाज मन्दिर, आँवला, बरेली, — ११)

१५. श्री दया सागर जी, (फैजाबाद) — १५)

१६. श्री राम कुमार जी मंत्री
आर्य समाज मन्दिर, भूड़, बरेली — २५)

प्रस्तावना

संस्कृत पदार्थ-विज्ञान में यह पुस्तक सबसे अधिक प्रामाणिक है। जहाँ तक विचार किया जाता है, इमसे अधिक उत्तम पदार्थ-विज्ञान की पुस्तक मिलनी असम्भव है। इस ग्रन्थ के रचयिता का मुख्य उद्देश्य यह है कि इसको पढ़ने वाला प्रत्येक वस्तु के तत्व को जानकर अपना अभीष्ट सिद्ध करे। क्योंकि सांसारिक पुरुष इस बात को नहीं जान सकते कि दुःख का कारण क्या है, इस ही प्रकार सुख कैसे प्राप्त हो यह भी जानने में असमर्थ रहते हैं। यह उनकी अल्पज्ञता का कारण है। यह जानना भी अत्यन्त कठिन है कि आत्मा के अनुकूल क्या वस्तु है और प्रतिकूल क्या? इस कारण रात-दिन कठिन परिश्रम करने पर भी दुःखो से निवृत्त नहीं होते। इन सारी बातों से विदित होता है कि संसार को इस रोग का निदान ठीक-ठीक ज्ञात नहीं। पश्चिमीय विद्वानों ने साइन्स के विषय में जितना अन्वेषण किया है वह सब प्राकृतिक है, उससे आत्मिक ज्ञान किञ्चिन्मात्र भी नहीं होता। दूसरे उनका ज्ञान कार्य पदार्थों का है जिससे उन अनादि सिद्ध तीन पदार्थों का कुछ भी ज्ञान नहीं होता, जिनको-ईश्वर-जीव प्रकृति कहते हैं और जो होना आवश्यक है, अतः सामयिक साइन्स के जानने वालों को प्राकृतिक वस्तुओं के अतिरिक्त आत्मिक लाभ कुछ भी नहीं। यह ज्ञान दुःख दूर करने का कारण नहीं हो सकता। इसलिये कि दुःख का कारण प्रकृति का सम्बन्ध है। जिस वस्तु के सेवन से रोग की अधिकता होती है उस ही के सेवन से रोग दूर नहीं हो सकता। संसार में दुःख और सुख दोनों ही गुण विपरीत

देखे जाते हैं, अतः दोनों का कारण एक ही नहीं हो सकता क्योंकि एक वस्तु में दो विरुद्ध गुण एक ही समय नहीं रह सकते। जब तक दूसरी वस्तु का संयोग न हो तब तक एक ही प्रकार की वस्तु मे विरुद्ध गुण उत्पन्न नहीं हो सकता अतः केवल जीवात्मा ही दुःख और सुख का अधिष्ठान नहीं हो सकता। यदि यह कहा जावे की जीवात्मा का स्वाभाविक गुण ही दुःख है तब तो उसका दुःख किसी प्रकार दूर ही नहीं हो सकता। क्योंकि स्वाभाविक गुण का नाश हो नहीं सकता। यदि उसका गुण सुख माना जावे तो उसको सुख का यत्न नहीं करना चाहिये क्योंकि वह तो नित्य ही सुखी रहना चाहिये। जबकि जीवात्मा को दुःख दूर करने का और सुख के प्राप्त करने का यत्न करते देखते हैं तो विदित होता है कि जीव सुख और दुःख दोनों से पृथक् है, और ये दोनों गुण जीवात्मा में किसी अन्य वस्तु मे आये हैं। इन दोनों के आने का कारण भी एक नहीं हो सकता, क्योंकि इन दोनों के गुण विरुद्ध हैं। इसलिए इन दोनों के अधिष्ठान भी जीवात्मा से कोई विरुद्ध वस्तु है जिनके गुणों में भेद है। अब जब कि दुःख से हानि और सुख से लाभ होता है तो जीवात्मा के साधर्म्य गुण वाली दो वस्तुएं सिद्ध हुई। जो जीवात्मा के अनुकूल है उसके सम्बन्ध से सुख और जो प्रतिकूल है उसके सम्बन्ध मे दुःख प्राप्त होता है। इसलिए जीवात्मा को उचित है कि साधर्म्य और वैधर्म्य का ज्ञान प्राप्त करे। बिना इस ज्ञान के प्राप्त किये कभी भी उद्देश्य पूर्ति नहीं हो सकती। सारे कर्मों का मूल यथार्थ ज्ञान है। विना कर्म के फल कैसे प्राप्त हो सकता है? इसलिये महात्मा कणाद ने यह शास्त्र बनाया है कि जिसके द्वारा प्रत्येक वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो जावे। इस शास्त्र में १० अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में दो आह्निक हैं। इस शास्त्र के

पढ़ने वाले को आत्मिक और शारीरिक दोनों ही लाभ प्राप्त होगें, इसी कारण यह देवनागरी अनुवाद आर्य भाषा के जानने वालों के लाभार्थ किया गया है परन्तु जब तक न्यायदर्शन भली प्रकार न समझ लिया जाये तब तक यह शास्त्र सरल प्रतीत नहीं होगा क्योंकि शास्त्र-परम्परा में न्याय दर्शन सबसे पहला शास्त्र है, और यह वैशेषिक दूसरा शास्त्र है।

भाष्य कर्त्ता

स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती

प्रकाशक के दो शब्द

भारतीय दार्शनिकों में वैशेषिक दर्शन के कर्त्ता महर्षि कणाद मुनि का महत्वपूर्ण स्थान है। महर्षि के इस दर्शन पर प्राचीन काल में अनेक आचार्यों ने संस्कृत भाष्य किये थे उनमें से कतिपय आज भी उपलब्ध हैं। वर्तमान काल में भी अनेक विद्वानों ने इसी वैशेषिक दर्शन पर राष्ट्र भाषा हिन्दी में भाष्य किए हैं। इन अनेक भाष्यों में तार्किक शिरोमणि स्वर्गीय श्री स्वामी दर्शनानन्द जी महाराज के भाष्य को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। श्री स्वामी जी महाराज के भाष्य करने की शैली इतनी सरल और सारगर्भित है कि दर्शन जैसे गम्भीर विषय को सरलता से हृदयगंम करा देती है।

स्वर्गीय श्री स्वामी दर्शनानन्द जी महाराज ने चार दर्शनों पर भाष्य लिखे हैं। हमारी प्रबल इच्छा है कि भारतीय दर्शनकारों की इन अमूल्य निधियों को जनता के लाभार्थ प्रकाशित कर दें। अतः स्वामी दर्शनानन्द जी के भाष्य के अलावा "मीमांसा दर्शन" तो हम पहले ही प्रकाशित कर चुके हैं, अब "वैशेषिक दर्शन" और "वेदान्त दर्शन" भी आपकी सेवा में प्रस्तुत कर रहे हैं। वेदान्त दर्शन और मीमांसा दर्शन का प्रकाशन भी हमने किया है।

संचालक

प्रेम पुस्तक भण्डार

बिहारीपुर, बरेली।

ओ३म्

वैशेषिक दर्शन

प्रथमाऽध्याय

प्रथम आह्निक

अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः ॥१॥

अर्थः—महात्मा कणाद जी कहते हैं कि प्रमाण इत्यादि सोलह पदार्थों के जानने के अनन्तर, प्रमेय ज्ञान की आवश्यकता है। क्योंकि धर्म के ज्ञान के बिना अर्थ, काम और मोक्ष का ज्ञान होना और उनका प्राप्त होना असम्भव है, इसलिये सबसे पहले धर्म की व्याख्या करते हैं। अर्थात धर्म क्या वस्तु है ? इसका विवरण करके सर्वसाधारण को, धर्म की परीक्षा के लिये अधिकारी बनाते हैं। क्योंकि जब तक किसी स्थान तक पहुँचने के लिये मार्ग का ज्ञान न हो, वा किसी वस्तु के लक्षण का ज्ञान न हो, तब तक उस स्थान व वस्तु का पाना असम्भव है। इस लिये दुःख दूर करने का उपाय जो धर्म है, उसकी व्याख्या करते हैं। वा ऐसा समझना चाहिये कि जीवन के प्रश्न के अनन्तर उसके उत्तर में धर्म की व्याख्या करते हैं। इस सूत्र में "अर्थ" शब्द का अर्थ "मंगल" भी है।

प्रश्न--विज्ञान और धर्म का क्या सम्बन्ध है ? यदि यह पुस्तक धर्म शास्त्र होती तब तो इसमें धर्म की व्याख्या की आवश्यकता होती, परन्तु यह पुस्तक तो पदार्थ विद्या की है, इस में धर्म की व्याख्या की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर--जब कि प्रत्येक विद्या का जानना दुःखों के दूर करने के लिये है. और दुःखों का दूर होना धर्मानुष्ठान से होता है क्योंकि पाप से दुःख और पुण्य से सुख होता है, इसलिये प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करना भी धर्म ही के लिये है जिससे दुःख से छूटकर सुख प्राप्त कर सकें।

प्रश्न--धर्म किसको कहते है ?

उत्तर--यतोभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ॥२॥

अर्थ—अभ्युदय = तत्त्वज्ञान* अर्थात् जिससे प्रत्येक वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो और मुक्ति, ये दोनों जिससे प्राप्त हों उसे "धर्म" कहते हैं, वा इस प्रकार भी इसका अर्थ हो सकता है कि तत्त्व-ज्ञान के द्वारा जो दुःख दूर करने का कारण है उसे "धर्म" कहते हैं।

प्रश्न—तत्त्वज्ञान के कहने की क्या आवश्यकता थी ? क्योंकि "जिससे मुक्ति हो जावे वही धर्म है" ऐसा कह देना पर्याप्त था।

उत्तर--यदि ऐसा कहते कि जिससे मुक्ति हो जावे वह धर्म है, तो पहिले धर्म करना पड़ता तदनन्तर मुक्ति होती वा न होती। ऐसी अवस्था में अधर्म को भी धर्म कह सकते, धर्म और अधर्म करने की पहिचान न रहती, केवल फल मिलने पर ही जान सकते जिससे लाखों मनुष्यों के जीवन व्यर्थ ही जाते। द्वितीय कारण यह भी है कि यह ईश्वरीय नियम है कि जो देख-भाल कर चलता है वह अपने अभीष्ट स्थान पर पहुँच जाता

* "अभ्युदय-तत्त्वज्ञान" -- उदयनाचार्य।

है। यदि उल्टा कार्य किया जावे तो हानि के अतिरिक्त लाभ कुछ नहीं होता। जैसे कोई कहे कि पहले चलकर देख लो, यदि जहाँ पहुँचना है वह स्थान नहीं मिला तो पुनः लौट आना। इसमें जो समय जाने और आने में लगा वह तो व्यर्थ ही गया न, इसलिये ऋषि बताते हैं कि जो प्रत्येक वस्तु के यथार्थ ज्ञान द्वारा मुक्ति का साधन विदित हो वही "धर्म" है।

प्रश्न—जबकि मनुष्य अल्पज्ञ है तो किसी वस्तु का ज्ञान होने पर भी यह निश्चय कैसे हो कि यह यथार्थ ज्ञान है?

उत्तर—यदि वह ज्ञान वस्तु के यथार्थ ज्ञान के विरुद्ध है तो वह तत्त्वज्ञान ही नहीं हो सकता इसलिये उसके द्वारा मुक्ति न होगी। यदि वह तत्त्वज्ञान वास्तव में सत्य है तो इससे अवश्य ही मुक्ति होगी।

प्रश्न—जबकि यह अल्पज्ञ जीवात्मा एक नगर की वस्तुओं को भी सम्यक्तया नहीं जान सकता तो सारी ही वस्तुओं का तत्त्वज्ञान होना तो असम्भव है और जब तत्त्वज्ञान ही नहीं हो सकता तो मुक्ति किस प्रकार हो सकती है? इसलिये यह लक्षण ही असम्भव होने से दूषित है।

उत्तर तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् ॥३॥

अर्थ—यद्यपि जीवात्मा का ज्ञान परिमित है, तथापि उसमें दूसरे की सहायता लेने का गुण पाया जाता है।

ज्ञान से जो वस्तु किसी दूसरे ने देखी है, उस देखने वाले से सुनकर जीव अपने दिल में उसका चित्र खींच सकता है। अतः तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिये जो ईश्वरीय वचन अथवा उपदेश वेद है, वही प्रमाण है। सारांश यह है कि वह आत्मा वेद से तत्त्वज्ञान प्राप्त कर सकता है।

तत्त्वज्ञान के वास्ते, सिवाय वेद के कोई दूसरा प्रमाण नहीं

हो सकता क्योंकि वेद का बनाने वाला ईश्वर सर्वज्ञ और सर्व-व्यापक है। जो जहां होता है वह वहां के हाल को अच्छी तरह जान सकता है। ईश्वर, जबकि सर्वव्यापक है वही सारी वस्तुओं का यथार्थ ज्ञाता है। इसलिये ईश्वर के सिवाय और कोई सर्व-व्यापक नहीं। अतः वह सर्वज्ञ है। ईश्वर के सर्वज्ञ होने से उसका ज्ञान वेद है। वह तत्त्वज्ञान के लिये प्रमाण समझा जाना चाहिये, और जो ज्ञान वेदानुकूल है वही तत्त्वज्ञान है। जो वेद के विरुद्ध हैं वह तत्त्वज्ञान नहीं।

प्रश्न—सूत्र में "तत्" शब्द है, तुमने उससे ईश्वर अर्थ कैसे लिया ?

उत्तर—"तत्" शब्द से दो ही अर्थ लिये जा सकते हैं, १-ईश्वर, २-धर्म, क्योंकि 'तत्' सर्वनाम है जो वेदों के कर्त्ता के लिये है, इसलिये 'तत्' शब्द वेदों के रचयिता की ओर संकेत करता है। वेदों का बनाने बाला ईश्वर है, यह बात सारे ऋषियों ने मान ली है इसलिये 'तत्' शब्द का अर्थ ईश्वर लिया गया। दूसरे जिस प्रकार न्याय भाष्य में शब्द प्रमाण की परीक्षा के समय वेदों का ग्रहण है इसी तरह इस स्थल पर भी ईश्वर के लिये 'तत्' शब्द ग्रहण किया गया है। वहाँ पर सर्वोत्तम शब्द प्रमाण की परीक्षा अभीष्ट थी, इसी प्रकार यहाँ पर सर्वोत्तम आप्तवचन प्रकट करने का आशय है। आगे चलकर जो ऋषि ने वेदों के विषय में लिखा है, उससे भी प्रमाणित होता है की यहाँ 'तत्' शब्द से ईश्वर ही का ग्रहण है।

प्रश्न—यदि हम वेदों का कर्त्ता ईश्वर को न मानें तो 'तत्' शब्द से ईश्वर का ग्रहण कैसे होगा ? क्योंकि हम वेद के बनाने वाले किसी ऋषि का ग्रहण करेंगे।

उत्तर—वेद ऋषियों के हृदय में प्रकट हुये हैं और वे ऋषि संख्या में चार हैं इस वास्ते 'तत्' शब्द से चारों का ग्रहण कर नहीं

मकते। किसी एक की विशेषता सूत्र में विद्यमान है, इसलिये 'तत्' शब्द से कोई ऋषि नहीं लिया जा सकता।

प्रश्न—यदि "तत्" शब्द से धर्म का ग्रहण हो तो क्या हानि है?

उत्तर—ऐसी अवस्था में तत्त्वज्ञान जिसको असम्भव बताया गया था और तत्त्वज्ञान के द्वारा मुक्ति दिलाने वाले का नाम था, और तत्त्वज्ञान के असम्भव हो जाने से धर्म संदिग्ध अवस्था में प्रमाण की अपेक्षा रखता था। जो धर्म अपनी सत्ता को प्रमाणित करने में किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा रखता है, वह वेदों के लिये प्रमाण होने में कैसे समर्थ हो सकता है, इसलिये "तत्" शब्द का अर्थ ईश्वर ही हो सकता है।

प्रश्न—क्या ईश्वर अपनी सत्ता और वेदों के कर्त्ता होने में किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं रखता, क्योंकि बहुत से लोग ईश्वर को नहीं मानते, और वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानने वाले भी बहुत कम हैं, इसलिये "तत्" शब्द से ईश्वर का अर्थ लेना ठीक नहीं।

उत्तर—निःसंदेह यह बात ठीक है कि इस समय बहुत कम लोग ईश्वर को मानते हैं और वेदों को भी ईश्वरीय ज्ञान बहुत कम लोग मानते हैं, परन्तु जिस समय यह शास्त्र रचा गया था उस समय सब ही ईश्वर और उसके ज्ञान वेदों को मानते थे। दूसरे यह भी है कि इससे पहले न्यायशास्त्र में भी यह बात अच्छी तरह सिद्ध कर दी गई है कि ईश्वर की सत्ता अवश्य है और वेद उसका ज्ञान है।

प्रश्न—वेदों में बहुत से दोष हैं जिसके कारण उनका प्रमाण नहीं माना जा सकता क्योंकि उसमें अनृत, व्याघात और पुनरुक्ति दोष हैं। इसलिये उनको ईश्वरीय ज्ञान नहीं मान सकते।

उत्तर—वेदों में इस प्रकार के कुछ भी दोष नहीं हैं, यह बात न्यायदर्शन के शब्द प्रमाण की परीक्षा में भली प्रकार पुष्ट कर चुके हैं। यहाँ फिर दुहराकर लिखना व्यर्थ है। यहां तक ऋषि ने शास्त्र-रचना का उद्देश्य बतलाकर आगे पदार्थ विद्या का आरम्भ किया।

धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ॥४॥

अर्थ—धर्म विशेष से उत्पन्न द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छः पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य के ज्ञान से तत्वज्ञान उत्पन्न होता है उससे मुक्ति होती है।

प्रश्न—इस प्रकार का तत्वज्ञान कैसे हो सकता है ?

उत्तर—वैशेषिक दर्शन में इस प्रकार के ज्ञान का उपदेश है, और वह ज्ञान मुक्ति का कारण है, क्योंकि जिससे किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो वही तत्वज्ञान है।

प्रश्न—वैशेषिक शास्त्र और मुक्ति का क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर—यह शास्त्र मुक्ति का कारण बताता है। बस यह कारण रूप ही इस शास्त्र का सम्बन्ध है।

प्रश्न—शास्त्र और तत्वज्ञान में क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर—शास्त्र और तत्वज्ञान में विषय और विषयी (जिस में विषय रहे) का सम्बन्ध है। शास्त्र विषयी है और तत्वज्ञान विषय है इस ही को प्रतिपादक और प्रतिपाद्य भी कहते हैं।

प्रश्न—मुक्ति और तत्वज्ञान से क्या सम्बन्ध है।

उत्तर—मुक्ति और तत्वज्ञान में कार्य और कारण का सम्बन्ध है। तत्वज्ञान कारण है और मुक्ति कार्य है।

प्रश्न--द्रव्य आदि पदार्थों और इस शास्त्र में क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर---शास्त्र पदार्थों का वर्णन करता है अतः शास्त्र ज्ञापक है और पदार्थ ज्ञेय है। इस प्रकार के सम्बन्ध के ज्ञान प्राप्त करने के लिये ही मुक्ति की इच्छा रखने वाले (मुमुक्षु) इस शास्त्र को पढ़ते हैं।

प्रश्न---मुक्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर---दुःख का बीज सहित नाश हो जाना मुक्ति कहाती है।

प्रश्न---कुछ लोग कहते हैं कि दुःख के अत्यन्ताभाव को मुक्ति कहते हैं अर्थात् तीनों कालों में दुःख न रहना मुक्ति कहाती है।

उत्तर---मुक्ति का अर्थ 'छूटना' है। जो तीन काल में कभी बन्धन में आया ही न हो उसका 'छूटना' कैसा ? क्योंकि जब पहले जीव फंस ले तब तो छूटे। जबकि छूटने से पहले बंधा था एवं दुखी भी था तो दुःख का अत्यन्ताभाव कैसे हो सकता है ? किसी असम्भव का अत्यन्ताभाव हो सकता है। जो किसी काल में विद्यमान हो, उसका अत्यन्ताभाव नहीं हो सकता। इसलिये आत्मा में दुःख का अत्यन्ताभाव नहीं हो सकता किन्तु जड़ वस्तुओं में हो सकता है। मुक्ति में दुःख का अत्यन्ताभाव मानने वाले जीव की मुक्ति न मानकर जड़ पदार्थों की मुक्ति कह सकते हैं।

प्रश्न---यदि मुक्ति में दुःख का अत्यन्ताभाव नहीं मानते तो "दुःखेनात्यन्तवमुक्तिश्चरति" इस वाक्य का क्या अर्थ होगा ? क्योंकि इसका पदार्थ तो यही हुआ कि "दुःख से बिलकुल छूट कर विचरता है।"

उत्तर---छूटने की चर्चा होने से इसके अर्थ ये होंगे कि दुःख के बीज से रहित होकर विचरता है ? क्योंकि मुक्त आत्मा को दुःख और उसके बीज मिथ्याज्ञान इन दोनों से ही कुछ सम्बन्ध नहीं रहता और जबकि दुःख का अत्यन्ताभाव होना ही असम्भव है

और इस अवस्था में जीव के उद्देश्य का भी नाश हो जाता है। अतः दुःख के अत्यन्ताभाव से मुक्ति कहना सत्य नहीं और भविष्यत् में दुःख के स्वयं नाश हो जाने से दुःख का नाश होना मुक्ति नहीं, किन्तु दुःख उत्पन्न न होना ही मुक्ति है।

प्रश्न---मनुष्य की इच्छा दुःख के दूर करने की नहीं होती, किन्तु सुख की इच्छा से यह समझकर कि दुःख की विद्यमानता में सुख प्राप्त नहीं होगा, सुख की इच्छा से दुःख के दूर करने का यत्न करता है।

उत्तर---यह सत्य नहीं, क्योंकि इसके विरुद्ध भी युक्ति काम देती है। सुख की इच्छा दुःख के दूर करने के लिये होती है। क्योंकि देखा जाता है कि सुख के विरुद्ध दुःख से छूटने के लिये विष खाते हैं और फांसी दे लेते हैं इत्यादि। उस विष के खाने और फाँसी दे लेने में सुख की इच्छा तो होती ही नहीं, केवल दुःख से छूटने की इच्छा होती है।

प्रश्न---जबकि पुरुषार्थ या परिश्रम किसी वस्तु को जानकर उसके लिये किया जाता है परन्तु दुःख के न होने को जो मुक्ति कहते हैं उस मुक्ति को तो किसी ने जाना ही नहीं अर्थात् दुःख के अभाव का किसी को ज्ञान ही नहीं, इसलिये उसको मुक्ति कहना ठीक नहीं, यदि बिना जाने हुये किसी वस्तु की इच्छा हो तो मूर्छावस्था में इच्छा क्यों नहीं होती ?

उत्तर---जब कि दुःख का अभाव श्रुति और अनुमान से सिद्ध है, तो वह बिना जाना हुआ नहीं और इच्छा होती है। एक श्रुति की तो इस सूत्र में चर्चा हो चुकी। अनुमान यह है कि दुःख की समानता का अत्यन्ताभाव हो जाता है उसके लिये युक्ति यह है कि सूर्य की उत्पत्ति होने से दीपक की किरणों का नाश हो जाता है और भले प्रकार दुःख के नाश से एक क्षण के लिये उसका प्रत्यक्ष

भी होता है। योगी लोगों को योग शक्ति से आगामी दुख के नाश का भी ज्ञान हो जाता है।

प्रश्न--जबकि दुःख और सुख दोनों के आय और व्यय बराबर हैं अर्थात् हानि और लाभ दोनों समान हैं अतः यह मनुष्य-जन्म का उद्देश्य नहीं हो सकता।

उत्तर--जो मनुष्य दुःख के भय से थोड़े से सुख को छोड़ देते हैं वही सांसारिक इच्छाओं से बचकर मुक्ति प्राप्त करते हैं। दुनियाँ में दुःख बहुत और सुख थोड़ा है अतः दुःख के दूर करने का यत्न अवश्य करना चाहिये।

प्रश्न--यदि दुःख की अपेक्षा सुख न्यून भी मान लिया जावे तो भी दुःख का दूर करना पुरुषार्थ नहीं, क्योंकि आने वाले दुःख को दूर करना तो असम्भव है जो दुःख व्यतीत हो चुका वह तो गया ही और जो दुःख वर्तमान है वह पुरुषार्थ से नाश होगा इस समय नाश हो नहीं सकता।

उत्तर--अनागत दुःख का नाश करना ही परम पुरुषार्थ है दुःख के कारण के दूर हो जाने से उसके कर्म का नाश हो जाना सम्भव है। मिथ्याज्ञान ही इच्छा आदि दोषों के साथ मिलकर दुःख का कारण होता है, और उस मिथ्याज्ञान का नाश आत्मा का यथार्थ स्वरूप जानने से होता है। और तत्त्वज्ञान योग की रीति पर चलने से होता है अतः योग की रीति पर चलना आवश्यक है।

प्रश्न—दुःख का नाश मुक्ति नहीं, किन्तु नित्य सुख का होना ही मुक्ति है।

उत्तर—नित्य सुख को मुक्ति मानना ठीक नहीं, क्योंकि प्रथम तो नित्य सुख के मानने में कोई युक्ति ही नहीं, दूसरे यदि

जीवात्मा को नित्य सुख प्राप्त होना मान भी लिया जावे तो मुक्त जीव और बद्धजीव में कोई अन्तर नहीं रहेगा ।

प्रश्न परमात्मा में जीवात्मा का लय अर्थात मिल जाना मुक्ति है ?

उत्तर– यह भी ठीक नहीं । क्योंकि यदि मिल जाने का अर्थ दोनों का एक हो जाना लिया जाय तो नितान्त भूल है । क्योंकि दो विरुद्ध गुणवाली वस्तुएं एक हो नहीं सकतीं । यदि लिंग शरीर का पृथक् हो जाना ही माना जावे तो ग्यारह इन्द्रियों के नाश हो जाने से दुःख की सामग्री का नाश होना ही मानना पड़ेगा । इसलिये दुःख का नाश होना ही मुक्ति है । इन्द्रियों के पृथक् होने से अविद्या की पृथक्ता और अकेले आत्मा का रहना ही मुक्ति है । यह एक दण्डी का मत है ।

आत्मा ज्ञान सुख वाला है परन्तु यह ठीक नहीं । क्योंकि आत्मा के ज्ञान और सुख होने में कोई प्रमाण नहीं । और जो श्रुति प्रमाण में दी जाती है वह यह है नित्य विज्ञान आनन्द ब्रह्म है इससे ब्रह्म, ज्ञान वाला सिद्ध होता है । जीवात्मा कभी ऐसा नहीं कहता कि "मैं सुख हूं या ज्ञान हूं" यदि जीव को भी ब्रह्म ही माना जावे तो ब्रह्म के उस समय भी ज्ञान और आनन्द वाला होने से मुक्त और फंसे जीव एक हो जावेंगे जब कि अविद्या का नाश करना मनुष्य जीवन का परमोद्देश्य है ब्रह्म के नित्य होने से उसमें अविद्या की उत्पत्ति और नाश सम्भव नहीं, क्योंकि ब्रह्म से ज्ञान और आनन्द का दूर होना सम्भव नहीं, वह स्वाभाविक गुण है, अतः सुख और ज्ञान की प्राप्ति जीव के लिये है । ब्रह्म में अविद्या का आना भी सम्भव नहीं । ब्रह्म न तो आनन्द को भोगता है और न उससे पृथक् होता है । अतः जीव को ब्रह्म मानने से पुरुषार्थ का नाश हो जायेगा ।

प्रश्न--हम चित्त की वृत्तियों का शान्त होना ही मुक्ति मानते है।

उत्तर—दुःख रूप जो चित्त का चाञ्चल्य हैं यदि उस ही को दूर करना मुक्ति है, तो केवल उसके दूर करने को ही पुरुषार्थ मानने में कोई प्रमाण नहीं है, अतः दुःख दूर करना ही मुक्ति है।

प्रश्न---क्या छः पदार्थों के अतिरिक्त और कोई पदार्थ नहीं है ?

उत्तर---सम्पूर्ण वस्तुएं जो सत्ता रखती हैं, इन छः पदार्थों में आ जाती हैं इनसे पृथक कोई नहीं रहती।

प्रश्न---द्रव्य कितने हैं ?

उत्तर---द्रव्य नौ हैं, और वे ये हैं---

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ॥५॥

अर्थ---पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नौ द्रव्य हैं।

"इति' शब्द से यह सूचित कर दिया कि द्रव्य नौ ही हैं न्यूनाधिक नहीं।

प्रश्न--ये नौ द्रव्य कैसे हैं, हम तो इनसे अधिक भी पाते हैं। यथा--सुवर्ण। इसको न तो पृथवी ही कह सकते हैं क्योंकि इसमें गन्ध नहीं है। न इसको जल कह सकते हैं क्योंकि चिकनाहट और बहने का गुण नहीं। न इसको तेज कह सकते हैं, क्योंकि इसमें गुरुत्व (बोझ) है और अग्नि में गुरुत्व नहीं इसी प्रकार वायु, आकाश, समय, दिशा, आत्मा और मन भी नहीं कह सकते क्योंकि इन सबमें भी विरुद्ध गुण पाये जाते हैं। अतः सुवर्ण नौ से अलग दसवां द्रव्य है।

उत्तर--यह आक्षेप ठीक नहीं क्योंकि सुवर्ण मिश्रित द्रव्य है भला मिश्रित की एक द्रव्य के साथ किस प्रकार तुलना हो सकती है ? सुवर्ण में तेज का अंश अधिक है, अतः सुवर्ण तैजस कहाता है ।

प्रश्न---अन्धकार असंयुक्त भी है और नव द्रव्यों में भी नहीं है । अतः वह अलग दसवाँ द्रव्य क्यों नहीं ?

उत्तर---अन्धकार तमोगुण अर्थात् पृथवी का धर्म है । धर्म गुण में सम्मिलित होता है । अतः अन्धकार धर्म है द्रव्य नहीं ।

प्रश्न---साइन्स वाले या और लोग भी सुवर्ण को पृथक् द्रव्य मानते हैं ।

उत्तर---सामयिक साइन्सों से केवल गैस तक ही द्रव्य बनाया जाता है, जो पारिमाण्डल (वे अणु जो झरोकों से आये हुए सूर्य के प्रकाश से चमकते हैं) की अवस्था में होता है और यह संयुक्त होता है । इसलिये उनका कथन सत्य नहीं, उन्होंने परमाणु की जाँच नहीं की है । परमाणु के अतिरिक्त कोई भी असंयुक्त तत्व नहीं, और जो असंयुक्त तत्व न हो वह अपने कारणों से पृथक् कोई वस्तु नहीं, केवल अपने कारणों का विकार मात्र है ।

प्रश्न---इन पदार्थों में से कितने व्यापक हैं और कितने परिच्छिन्न (एकदेशी) हैं ?

उत्तर---पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और मन ये पांच परिच्छिन्न (एकदेशी) हैं और आकाश, काल, दिशा आत्मा ये चार द्रव्य सब वस्तुओं से सम्बन्ध रखने वाले व्यापक हैं ।

प्रश्न---क्या जीवात्मा भी विभु है ? यदि जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही विभु मान लिये जावें तो उन दोनों में अन्तर ही क्या रहेगा ?

उत्तर---परमात्मा एक और विभु है, किन्तु जीवात्मा संख्या में अनन्त होने से विभु है स्वरूप से विभु नहीं । यहाँ विभु से

आशय यह है कि जिसका प्रत्येक शरीर के साथ सम्बन्ध हो अर्थात् संसार में कोई ऐसा शरीरधारी नहीं जिसके साथ जीव का सम्बन्ध न हो।

प्रश्न--क्रिया का प्रभाव किन द्रव्यों पर पड़ता है ? अर्थात् वे कौन से द्रव्य हैं जो क्रिया के कारण अपनी अवस्थाओं को बदलते हैं ?

उत्तर--वही पांच द्रव्य परिच्छिन्न हैं। पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और मन ये अपनी अवस्थाओं को क्रिया से प्रभावित होकर परिणत करते हैं। दूसरे चार विभु द्रव्य अपनी अवस्थाओं को क्रिया से प्रभावित होकर नहीं बदलते।

प्रश्न--उरे और परे के गुण किन-किन द्रव्यों में हैं ?

उत्तर--सान्त (परिच्छिन्न वा एकदेशी) वस्तुओं में ही उरे और परे का गुण रहता है, विभु में नहीं।

प्रश्न---गुण कितने हैं और कौन-कौन से हैं ?

उत्तर---गुण २४ हैं, और वे ये हैं---

रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः ।।६।।

अर्थ--रूप, रस, गन्घ, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म और शब्द। इनमें प्रयत्न तक १७ सूत्र में बतलाये गये हैं, और शेष ७ 'च' से बतलाये हैं। ये चौवीसों गुण नव द्रव्यों में रहते हैं। इनमें से रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व और संस्कार ये विशेषतया विख्यात गुण हैं।

प्रश्न---रूप किसको कहते हैं ?

उत्तर--जो आंख से दीखे उसको रूप कहते हैं। वह काला, पीला, श्वेत और हरा आदि नाना प्रकार का है।

प्रश्न---रस किसको कहते हैं ?

उत्तर--जिस गुण का रसना इन्द्रिय से अनुभव हो वह रस है, यथा--खट्टा, मीठा और खारा आदि।

प्रश्न--गन्ध किसको कहते हैं ?

उत्तर---जिस गुण का नाक से अनुभव हो वह गन्ध है। वह दो प्रकार का है--(१) सुगन्ध और (२) दुर्गन्ध।

प्रश्न---स्पर्श किसको कहते हैं ?

उत्तर---जिसका त्वचा के द्वारा अनुभव किया जावे, परन्तु स्पर्श गर्म और सर्द से नितान्त पृथक् होता है। संयोग होने पर शीत उष्ण प्रतीत होता है।

प्रश्न---संख्या किसको कहते हैं ?

उत्तर--एक से लेकर अरबों आदि तक संख्या कहाती है।

प्रश्न--गुरुत्व किसको कहते हैं

उत्तर---जिसके कारण वस्तु भूमि पर गिरती है वही गुरुत्व है। यह गुरुत्व पृथ्वी की आकर्षण शक्ति से उत्पन्न होता है। जब तक एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ संयोग रहता है तब तक दूसरी वस्तु की ओर से भी आकर्षण होने से वस्तु नहीं गिरती। जब संयोग नहीं रहता तब गुरुत्व के कारण वस्तु नीचे गिर पड़ती है।

प्रश्न--द्रवत्व किसको कहते हैं ?

उत्तर---किसी वस्तु में बहने के गुण को द्रवत्व कहते हैं। वह द्रवत्व विशेषकर जल में रहता है।

प्रश्न---संस्कार किसको कहते हैं ?

उत्तर--किसी कर्म के करने से जो स्वभाव पड़ता है वह या जो मन के भीतर कर्म की वासना उत्पन्न हो जाती है वह संस्कार कहलाता है। इसी प्रकार और गुणों के भी लक्षण समझ लेने चाहिये।

प्रश्न--रूप आदि कितने गुण संयुक्त पदार्थों में रहते हैं और कितने असंयुक्त पदार्थों में ?

उत्तर--रूप, रस, गन्ध और स्पर्श जिनकी प्रतीति प्राकृतिक इन्द्रियों से होती है वे पाकज अर्थात् संयुक्त (संयोगजन्य) के गुण हैं।

प्रश्न--पृथक्त्व को अलग क्यों वर्णन किया ?

उत्तर--संख्या एक, दो और बहुत होने के कारण सन्देह हो सकता था, इस कारण पृथक्त्व अर्थात् सबके अलग वा एकत्व का वर्णन किया।

प्रश्न परिमाण के साथ बहुवचन क्यों लगाया ?

उत्तर—अणु, मध्यम और विभु ये तीन प्रकार के परिमाण होते हैं, और उनमें भी अपेक्षा से छोटा और बड़ा लगा रहता है इसलिये बहुवचन का प्रयोग किया है। परिमाण बहुत हैं।

प्रश्न—पृथक्त्व, जो कि प्रत्येक में रहने से बहुत हैं, उसको एक वचन में क्यों कहा ?

उत्तर—यद्यपि संख्या की तरह पृथक्त्व को भी अनेकों में रहने से, बहुवचन युक्त कहना चाहिये था तो भी सीमा को बतलाने वाला गुण संख्या से भिन्न है इस बात को बतलाने के लिये एक वचन का प्रयोग किया है।

प्रश्न--संयोग विभाग द्विवचन क्यों कहा है ?

उत्तर--संयोग अर्थात् मिलना, विभाग अर्थात् अलग होना ये दोनों एक ही कर्म से उत्पन्न होते हैं, अतः द्विवचन से पुकारे गये।

प्रश्न--परत्व और अपरत्व में द्विवचन क्यों कहा ?

उत्तर--परत्व और अपरत्व ये दोनों सापेक्ष होने से एक दूसरे के सहारे रहते हुये दिशा, काल और चिह्न को बतलाने मे प्रयोग किये जाते हैं, अतः द्विवचन से बतलाये गये ।

प्रश्न--बुद्धि को बहुवचन से क्यों कहा ?

उत्तर--विद्या और अविद्या के भेद से बुद्धि बहुत प्रकार की है, इसलिये बुद्धि के साथ बहुवचन का प्रयोग किया जिससे मनुष्य बुद्धि को एक और ही द्रव्य न समझ ले किन्तु गुण और बहुत सी समझें ।

प्रश्न--सुख और दुःख के साथ द्विवचन क्यों किया ?

उत्तर--सुख-दुःख दोनों वचन हैं और विशेषकर पूर्व जन्म के फल को प्रगट करते हैं, और ज्ञानी मनुष्यों के विचार में सुख भी एक प्रकार का दुख ही है, इस पर कहीं आगे चलकर विचार होगा । अतः द्विवचन में कहे गये हैं ।

प्रश्न इच्छा और द्वेष को द्विवचन से क्यों कहा ?

उत्तर---इच्छा और द्वेष दोनों एक ही कार्य में लगाने का कारण है । जिस वस्तु की इच्छा होती है उसको प्राप्त करने की चेष्टा और जिससे द्वेष होता है उसको दूर करने का यत्न किया जाता है इस कारण द्विवचन कहा ।

प्रश्न--प्रयत्न को बहुवचन से क्यों कहा ?

उत्तर--प्रयत्न बहुत प्रकार का है । कोई पाप का कारण है और कोई पुण्य का, उनमें भी प्रत्येक नाना प्रकार का है, अतः बहुवचन से कहा ।

प्रश्न--कर्म कितने प्रकार के हैं ?

उत्तर--उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि ॥७॥

अर्थ--कर्म पाँच प्रकार के हैं---१. उत्क्षेपण = ऊपर को जाना या उछलना। २. अवक्षेपण = नीचे को गिरना। ३. आकुञ्चन = सिकुड़ना। ४. प्रसारण = फैलाना। ५. गमन = चलना।

प्रश्न--क्या घूमना आदि कर्म नहीं है, फिर उनकी चर्चा सूत्र में क्यों नहीं की ?

उत्तर--वे सब गमन के अन्तर्गत बता दिये गये हैं। अतः उनको पृथक् नहीं गिनाया। जो लोग पाँच तत्वों के स्थान में चार बताते हैं, या अंग्रेजी वालों के समान जो बहुत से तत्व बताते हैं वे भूल पर हैं। उनको ध्यान रखना चाहिये कि तत्व पाँच हैं और प्रत्येक तत्व का एक-एक कर्म और एक इन्द्रिय है जिससे उनके गुणों का पता लगता है। ऊपर चलना अग्नि का कर्म है और आँख उसके गुणों का अनुभव करने वाली इन्द्रिय है। नीचे गिरना पानी का कर्म है और रसना उसका गुण अनुभव करने वाली इन्द्रिय है। संकोच अर्थात् सिकुड़ना पृथ्वी का कर्म है, नासिका उसको अनुभव करने वाली इन्द्रिय है। फैलना आकाश का कर्म है, कान उसको अनुभव करने वाली इन्द्रिय हैं। बराबर चलना वायु का कर्म है त्वचा उसको अनुभव करने वाली इन्द्रिय है।

प्रश्न--गमन और कर्म ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं, इसलिये कर्म के चार भेद हो सकते हैं। गमन को उसमें सम्मिलित नहीं करना चाहिये।

उत्तर--यद्यपि चलना (गमन) और कर्म पर्यायवाची शब्द हैं, परन्तु उनका पृथक् भेद इस कारण माना गया है कि उससे घूमना आदि नाना प्रकार के शेष कर्मों को ग्रहण किया जाता है। चलने के भीतर तो घूमना आदि का ग्रहण हो सकता है। दूसरे एक के भीतर सब कर्म नहीं आ सकते।

प्रश्न--निष्क्रमण और प्रवेशन = निकलना और प्रवेश करना भी दो प्रकार के कर्म हैं उनकी गणना क्यों नहीं कराई ?

उत्तर--ये दोनों भी एक ही कर्म हैं। एक घर से निकलकर दूसरे घर में जाना एक बात है, ये भी गमन में ही आ जाते हैं।

प्रश्न--उत्क्षेपण आदि को दृष्टान्त के साथ समझाओ ?

उत्तर--धान कूटते समय जब मूसल ऊपर को जाता है तब उसे उत्क्षेपण कहते हैं, जब नीचे को जाता है तब अवक्षेपण कहते हैं, जब रुई के बोरे को मशीन से दबाकर छोटा करते हैं तो उस को आकुञ्चन = संकोचन कहते हैं। जब उसी रुई को धुनते समय फैलाते हैं तो उसको प्रसारण कहते हैं। घूमना, चलना, बहना आदि ये सब गमन कहाते हैं।

अब आगे उद्देश्य अर्थात् नाम बताकर इन सबका साधर्म्य और वैधर्म्य बताते हैं। ये सब मुमुक्षु के जानने योग्य हैं।

सदनित्यं द्रव्यवत्कार्यं कारणं सामान्यविशेषवदिति द्रव्य-गुणकर्मणामविशेषः ॥८॥

अर्थ--द्रव्य, गुण और कर्म में ये बातें अविशेष अर्थात् सामान्य रीत्या हैं। तीनों में सत्ता सामान्यतया पाई जाती है, अर्थात् यह कहा जाता है कि द्रव्य है, गुण है, कर्म है। इसी प्रकार अनित्यता और नित्यता अर्थात् कार्य द्रव्य अनित्य है, और कारण द्रव्य नित्य है। इसी प्रकार कार्य गुण और कार्य कर्म अनित्य हैं और कारण गुण व कारण कर्म नित्य हैं। कारण गुण से आशय स्वाभाविक गुण से है, और कार्य गुण से नैमित्तिक गुण का आशय है। कारण कर्म चेतन का प्रयत्न है, कार्य कर्म चेतन के सहारे जड़ प्रकृति का है।

कारण कर्म नित्य है और कार्य कर्म अनित्य है। इसी प्रकार

द्रव्य, गुण कर्म ये तीनों द्रव्य के सहारे रहने वाले हैं। बिना द्रव्य के ये तीनों नहीं रह सकते, ये बातें तीनों में समान हैं। आशय यह है कि इन तीनों को आधार की आवश्यकता है अर्थात् एक द्रव्य का प्रत्यक्ष बिना दूसरे द्रव्य के हो नहीं सकता। इसी प्रकार गुण, कर्म भी बिना किसी द्रव्य के अनुभव में नहीं आ सकते और न अकेले रह ही सकते हैं। जिस प्रकार सामान्य और विशेष होना, द्रव्य, गुण, कर्म तीनों में समान है इसी प्रकार कार्य और कारण होना भी तीनों में समान हैं। ऊपर की कही हुई बातों में ये तीनों समान हैं और अन्य बातों में भिन्न हैं।

प्रश्न--कारण किसको कहते हैं ?

उत्तर--ज्ञान के अतिरिक्त जो कार्य के लिये नियत हो अर्थात् जिसकी सत्ता की आवश्यकता अवश्य हो। जिसके बिना किसी प्रकार कार्य न बन सके उसे कारण कहते हैं।

प्रश्न--कार्य किसको कहते हैं ?

उत्तर--जो पूर्व विद्यमान न हो, कारण के सम्बन्ध से उत्पन्न होकर पृथक् व्यक्ति को उत्पन्न करे उसको कार्य कहते हैं।

द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यम् ॥९॥

अर्थ--द्रव्य और गुण में ये बातें समान हैं कि वे अपने सजातीय की उत्पत्ति के कारण होते हैं अर्थात् कारण द्रव्य से कार्य द्रव्य की उत्पत्ति होती है और कारण गुण से कार्य गुण की उत्पत्ति होती है, द्रव्य मे गुण की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती। परन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि यह गुण उन्हीं द्रव्यों में होगा जो परिणामी होते हैं जैसे पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि परन्तु आकाश आदि द्रव्यों में जो परिणामी नहीं, यह बात नहीं हो सकती। आशय यह है कि जिस वस्तु के परमाणु होते हैं उनमें संयोग वियोग होने से परिणाम

हो सकता है। जिस वस्तु में परमाणु नहीं उनमें ये सम्भव ही नहीं, जैसे मिट्टी के परमाणु किसी अवस्था में मिलकर घट बन सकते हैं परन्तु आकाश के परमाणु ही नहीं उससे क्या बन सकता है? जैसे जल से बर्फ बन सकता है किन्तु देश से कोई भी कार्य नहीं बन सकता। इसको अगले सूत्र में विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं।

द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम् ॥१०॥

अर्थ– द्रव्य के परमाणु मिलने से उसका कार्य घड़ा और कपड़ा बन सकते हैं। इसी प्रकार द्रव्य के परमाणु में जो गुण हैं उनके संयोग से कार्य गुण की उत्पत्ति होती है। यथा-अग्नि के एक अणु में जो उष्णता और प्रकाश था वह सूक्ष्म होने के कारण दृष्टि में नहीं आता था जब अग्नि से परमाणु मिलकर एक रूप में आगये जिससे उसका प्रत्यक्ष हो गया। इसी प्रकार गुण प्रकाश आदि का भी प्रत्यक्ष होने लगा।

आशय यह है कि जो मनुष्य शब्द से (जो गुण है), कार्य जगत् की (जो द्रव्य है), उत्पत्ति मानते हैं वे भूल पर हैं। जो लोग अभाव से भाव की उत्पत्ति मानते हैं और दृष्टान्त देते हैं कि जिस प्रकार हल्दी और चूना के मिलाने से लाली उत्पन्न हो जाती है और यह गुण उन दोनों में न था यह भी उनकी भूल है, क्योंकि गुणों के संयोग से इस गुण का प्रत्यक्ष उदय हुआ है, अभाव से भाव नहीं हुआ?

कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते ॥११॥

अर्थ–कर्म से कर्म की उत्पत्ति नहीं होती, अर्थात् जिस प्रकार, कारण द्रव्य अपने कार्य द्रव्य को उत्पन्न करता है और कारण गुण कार्य गुण को उत्पन्न करता है परन्तु कर्म कर्म को उत्पन्न नहीं कर सकता। यह द्रव्य और गुण से कर्म में विशेषता है।

प्रश्न–कर्म का कारण कर्म क्यों नहीं होता ?

उत्तर–कर्म संयोग और विभाग का कारण है। यदि कर्म से कर्म की उत्पत्ति मानी जावे तो पहले कर्म होकर दूसरे कर्म को पैदा करेगा। जिस प्रकार एक शब्द के उपरान्त दूसरे शब्द की उत्पत्ति होती है। अब सोचना चाहिये कि कर्म सदैव रहने वाला तो है नहीं फिर पहले कर्म की उत्पत्ति किस प्रकार होगी ? यदि कहीं द्रव्य से, तो कहीं कर्म की उत्पत्ति द्रव्य से और कहीं कर्म से, इस प्रकार कर्म के कारण की व्यवस्था ठीक नहीं रहेगी। अतः कर्म का कारण कर्म किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता। अब इस बात पर विचार करते हैं कि कारण द्रव्य कार्य द्रव्य का नाशक होता है या नहीं और कार्य द्रव्य कारण द्रव्य का नाश करता है या नहीं ?

द्रव्य में यह गुण औरों से विशेष है।

न द्रव्यं कार्यं कारणं च वर्धति ॥२२॥

अर्थ–कोई कार्य द्रव्य अपने कारण को नाश नहीं करता और न कोई कारण द्रव्य कार्य का नाश करता है। आशय यह है कि कार्य कारण द्रव्य एक दूसरे के (परस्पर) विरोधी नहीं हैं। कार्य के बनने पर भी कारण बना ही रहता है। जिस प्रकार सुवर्ण से आभूषण बनता है, परन्तु आभूषण में सोना रूपी कारण बना ही रहता है। आभूषण सोने का नाश नहीं करता, सोना भी बना हुआ है और आभूषण भी कहाता है। या यह कहो कि द्रव्य का कारण जो परमाणु है वह भी उसका नाशक नहीं है और जो उससे बने हुये कार्य घड़ा, कपड़ा आदि हैं वे भी नाश नहीं करते किन्तु कार्य द्रव्य को नाश करने वाला कर्म ही हो सकता है। जिस कर्म से संयोग वियोग होते हैं वह कर्म ही द्रव्य के नाश का कारण हो सकता है। यह सदैव ध्यान रखना चाहिये कि नाश सदैव कार्य द्रव्य का ही हुआ करता है, कारण द्रव्य का कभी नाश नहीं होता।

प्रश्न - नाश किसको कहते हैं ?

उत्तर—जिस कारण के अवयवों के संयोग से कार्य की उत्पत्ति हुई है उसी कारण में कार्य का अवयव होकर मिल जाना ही नाश कहाता है।

प्रश्न—क्या नाश का अर्थ बिलकुल न रहना अर्थात् अभाव नहीं है ?

उत्तर—नाश शब्द 'णश' अदर्शने धातु से बना है जिसके अर्थ बिलकुल न रहने के नहीं हैं किन्तु प्रत्यक्ष न होने के हैं। यदि कोई नाश के अर्थ अभाव के करता है तो उससे बूझना चाहिये कि अभाव चार प्रकार का होता है।

१. प्रागभाव। २. विध्वंसाभाव। ३. अन्योन्याभाव। ४. अत्यन्ताभाव।

१. प्रागभाव—जैसे घड़े की उत्पत्ति से पूर्व घड़े का अभाव था।

२. विध्वंसाभाव—घड़े के टूटने पर उसका अभाव हो गया।

३. अन्योन्याभाव - जिस प्रकार घड़े में कपड़ापन नहीं और कपड़े में घड़ापन नहीं है।

४. अत्यन्ताभाव - जिसका कभी अस्तित्व नहीं, जैसे मनुष्य के सींग, यदि कहो कि नाश के अर्थ अत्यन्ताभाव के हैं, तो किसी प्रकार सम्भव नहीं, क्योंकि नाश से पूर्व वह वस्तु विद्यमान थी, यदि इसके अतिरिक्त कोई अभाव सिवाय ध्वंसाभाव के मानोगे तो भी ठीक नहीं, न तो कोई वस्तु अत्यन्ताभाव से उत्पन्न हो सकती है और न किसी का अत्यन्ताभाव हो सकता है।

उभयथा गुणाः ॥१३॥

अर्थ—द्रव्य और गुण में यह भेद दिखलाया कि गुण दोनों को नाश करता है। जैसे, वह ध्वनि जो कि अर्थवत् शब्दों के निकलने से पूर्व होती है वह शब्दमयी वाणी का कारण है परन्तु

शब्दों के निकलने मे उसका नाश हो जाता है। शब्दों की समाप्ति पर फिर वही ध्वनि उत्पन्न होकर शब्दों का नाश कर देती है। अतः गुण अपने कार्य का भी नाश करता है और अपने कारण का भी नाशक है। कुछ आचार्यों के मत में शब्द नित्य है, परन्तु न्याय और वैशेषिक के मत में शब्द आकाश का गुण है, और गुणों के समान नित्य और अनित्य दोनों ही हैं।

कार्यविरोधि कर्म ॥१४॥

अर्थ—कर्म का नाश उसके कार्य ही से होता है। आशय यह है कि संयोग और वियोग कर्म से ही उत्पन्न होते हैं, परन्तु अन्तिम संयोग या वियोग से कर्म का नाश हो जाता है, अर्थात् जिस देश को पहुंचने के लिये कर्म किया जाता हैं, उस देश में पहुंचने से कर्म का नाश हो जाता है।

इन सूत्रों में द्रव्य, गुण और कर्म का वैधर्म्य दिखलाया कि द्रव्य तो अपने कार्य और कारण दोनों का नाश नहीं करता, गुण दोनों का नाश करता है, कर्म का नाश करने वाला उसका कार्य है। अब आगे द्रव्यादि के लक्षण कहते हैं। क्योंकि बिना लक्षण के किसी वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती। प्रथम क्रमानुसार द्रव्य का लक्षण करते हैं।

क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् ॥१५॥

अर्थ—जिसमें क्रिया को ग्रहण करने की शक्ति हो वा क्रिया करने की शक्ति या गुण हो अथवा गुण ही जिसमें विद्यमान हो, वा किसी वस्तु का उपादान कारण हो सके, उसको द्रव्य कहते हैं। उपादान को ही समवायि कारण कहते हैं, क्योंकि जिसका कार्य के साथ नित्य सम्बन्ध रहे वही समवायि कारण कहाता है। उपादान कारण के अतिरिक्त और किसी कारण का कार्य के साथ नित्य सम्बन्ध नहीं रहता। जिस प्रकार एक घड़े के

बहुत से कारण हैं--एक कुम्हार है, दूसरा मिट्टी या दोनों कपालों का संयोग है, तीसरा दण्ड और चाक आदि हैं। इनमें से घड़ा बनने पर सब कारण अलग हो जाते हैं, केवल मिट्टी वा दोनों कपलों का संयोग ही घड़े के साथ रहता है। जिस प्रकार कुम्हार के मर जाने से उसके बनाये हुये घड़े को कोई हानि नहीं, जिस प्रकार दण्ड और चक्र के टूटने से घड़े को कोई हानि नहीं पहुंचती, परन्तु जिस मिट्टी से घड़ा बना है उस मिट्टी के न रहने से घड़ा किसी प्रकार नहीं रह सकता। इस कारण मिट्टी ही समवायि कारण है वही उपादान कारण भी कहलाता है। आशय यह है कि जिसमें क्रिया हो, जिसमें गुण हो, जो समवायि कारण हो सकता हो, वही द्रव्य है क्योंकि गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय आदि दूसरे पदार्थों में गुण और क्रिया नहीं रहती। अतः उनसे पृथक् करने वाला लक्षण किया गया। द्रव्यों में कुछ द्रव्य क्रिया सहित (सक्रिय) हैं। यथा, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और मन। गुण सब हीं द्रव्यों में रहता है।

अब गुण के लक्षण कहते हैं :--

द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम् ॥१६॥

अर्थ--द्रव्य के सहारे रहने वाला हो, अर्थात् बिना द्रव्य के न रह सके, जिसमें कोई अन्य गुण न हो और वस्तुओं के संयोग और वियोग में कारण न हो। अपेक्षा रहित हो अर्थात् क्रिया और विभाग की अपेक्षा न रखता हो। यही गुण का लक्षण है। यद्यपि 'द्रव्य में रहने वाला' कहने से गुण का लक्षण हो जाता परन्तु द्रव्य के सहारे कर्म रहता है इसलिये कहा गया कि कोई गुण न रखता हो। जब इतना कहने पर भी लक्षण ठीक नहीं हुआ क्योंकि कर्म में भी गुण नहीं है, अतः लक्षण में अतिव्याप्ति

दोष आ गया। इसलिये पुनः यह कहना पड़ा कि "संयोग विभाग में कारण न हो" क्योंकि कर्म संयोग और विभाग में कारण है। अतः कर्म से पृथक् गुण का निर्दोष लक्षण हो गया।

अब कर्म का लक्षण कहते हैं---

एकद्रव्यमगुण संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम् ॥१७।

अर्थ--एक द्रव्य अर्थात् द्रव्य के सहारे रहने वाला हो, गुण न रहता हो, संयोग विभाग में बिना किसी दूसरे की अपेक्षा के कारण हो अर्थात् स्वयं ही संयोग और विभाग का कारण हो। यह कर्म का लक्षण है। गुण और कर्म में भी भेद है, वह भेद यह है कि गुण संयोग विभाग का कारण नहीं होता और कर्म कारण होता है। दूसरे, जिस प्रकार संयुक्त द्रव्य में संयोग आदि गुण कई द्रव्यों के सहारे रहते हैं, ऐसा कर्म नहीं रहता, किन्तु वह एक ही के सहारे रहता है अर्थात् उसका प्रभाव एक ही पर पड़ता है। यह विशेषता कर्म में है।

द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यं कारणं सामान्यम् ॥१८॥

अर्थ--द्रव्य, गुण और कर्म इन सबका सामान्यतया एक कारण होता है। जैसे एक माता के कई पुत्र होते हैं ऐसे ही एक उपादान कारण द्रव्य में कार्य द्रव्य, गुण और कर्म रहते हैं। द्रव्य से उत्पन्न होना इन तीनों में समान है। जिस प्रकार जिस मिट्टी से घड़ा उत्पन्न होता है, उसी में जड़ता और गन्ध गुण भी रहते हैं और संकोच कर्म भी रहता है। इसी प्रकार जिस अग्नि से दीपक उत्पन्न होता है, उसी में रूप गुण भी रहता है और ऊपर चलना रूप कर्म भी रहता है। इसी प्रकार और भी समझ लेना। परन्तु ऐसा उपादान कारण में ही पाओगे, अन्य में नहीं।

तथा गुणाः ॥१६॥

अर्थ जिस प्रकार द्रव्य कारण है उसी प्रकार गुण भी कारण होते हैं, परन्तु अन्तर इतना है कि द्रव्य समवायि कारण होता है और गुण असमवायि कारण होता है। अर्थात् द्रव्य का नित्य सम्बन्ध होता है और गुण का अनित्य। आशय यह है कि द्रव्यत्व तो असंयुक्त और संयुक्त दोनों अवस्थाओं में बना रहता है, परन्तु गुण संयुक्त अवस्था में होता है तो कारण बन ा है। अर्थात् गुण असंयुक्त अवस्था में कारण नहीं होगा। आशय यह है कि जब दो वस्तुओं के संयोग से एक वस्तु बनेगी तो संयोग में जो गुण है उसका कारण होगा। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण और पृथक्त्व आदि एक वस्तु में रहने वाले गुणों का कारण असमवायि होगा। अग्नि के संयोग से जो पारे में कर्म और सोने के पिघलने और बनने आदि की क्रिया होती है उसका भी असमवायि कारण है। कहीं केवल गुण ही द्रव्य, कर्म, गुण के आरम्भ का कारण होता है। इसी प्रकार समयानुसार विचार करना चाहिये।

संयोगविभागवेगानां कर्म समानम् ॥२०॥

अर्थ---संयोग, विभाग और वेग से चलने का कारण कर्म है। जिस द्रव्य में कर्म उत्पन्न होता है, उसका जिनसे पूर्व में मेल था, पहले उनसे पृथक्ता उत्पन्न होती है। अर्थात जिस कमान से पहिले तीर मिला हुआ था, जब तीर में क्रिया उत्पन्न हुई तो कमान से पृथक् हो गया और फिर तेजी से चला, फिर अपने लक्ष्य पर जाकर मिल गया। एक ही कर्म ने तीन गुणों को उत्पन्न किया। पूर्व यह बता चुके हैं कि कर्म से कर्म की उत्पत्ति नहीं होती। अगले सूत्र में यह बतलाते हैं कि कर्म से द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती।

न द्रव्याणां कर्म ॥२१॥

अर्थ कर्म से गुण तो उत्पन्न होता है परन्तु कर्म से द्रव्य किसी प्रकार उत्पन्न नहीं हो सकता, द्रव्य या तो द्रव्य से उत्पन्न होता है या गुण से, कर्म से द्रव्य कभी भी उत्पन्न नहीं होता। यदि कहो कि कर्त्ता ने जो कर्म किया उससे संयोग उत्पन्न हुआ और संयोग से वस्तु बनेगी तो उस वस्तु का कर्म कारण क्यों नहीं ? इसका उत्तर यह है कि न तो कर्म समवायि और असमवायि कारण हो सकता है, और न सीधा कारण है क्योंकि वह तो संयोग गुण का कारण है। इसकी परीक्षा आगे होगी।

व्यतिरेकात् ॥२२॥

अर्थ द्रव्य की उत्पत्ति के समय कर्म का अभाव होता है अर्थात् कर्म का नाश हो जाता है, क्योंकि कर्म केवल संयोग को उत्पन्न करके नाश को प्राप्त हो जाता है और द्रव्य के अनन्तर होता है। अतः द्रव्य का कारण कर्म नहीं हो सकता। कारण का लक्षण बता चुके हैं कि जो नियत हो और पूर्व में उपस्थित हो। जब द्रव्य की उत्पत्ति के पूर्व कर्म विद्यमान नहीं तो कारण कहला नहीं सकता। आशय यह है कि कर्म संयोग उत्पन्न होते ही नाश हो जाता है और द्रव्य संयोग के उपरान्त होता है। इसमें प्रमाण कोई नहीं कि जो उत्पत्ति के समय विद्यमान ही न हो वह कारण कहला सके।

प्रश्न---कर्म को उत्पत्ति का कारण मानना उचित है क्योंकि छः कारणों में कर्म को भी गिनाया है और कर्म कर्त्ता से उत्पन्न होता है, यदि कर्म ही उस वस्तु की उत्पत्ति का कारण न होगा तो कर्त्ता किस प्रकार कारण कहला सकेगा ?

वे छः कारण ये हैं :--

१. कर्त्ता। २. कर्म। ३. करण। ४. सम्प्रदान।
५. अपादान और ६. अधिकरण।

उत्तर--इन छः कारकों का कर्म हमारे कर्म का पर्यायवाची नहीं है। अतः द्रव्य की उत्पत्ति से पूर्व न होने से कर्म को कारण नहीं कह सकते उसमें कर्म का लक्षण ही नहीं घट सकता।

द्रव्याणां द्रव्यं कार्यं सामान्यम् ॥२३॥

अर्थ---बहुत से कारण द्रव्य से मिलकर एक कार्य द्रव्य उत्पन्न होता है। जैसे बहुत से सूत के तार मिलने से एक कपड़ा बन जाता है। अब तार भी द्रव्य है और कपड़ा भी द्रव्य है, खाँड और पानी मिलकर शरबत बन जाता है। अतः बिना संयोग के कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती।

प्रश्न--जीवात्मा और प्रकृति की उत्पत्ति किन वस्तुओं के संयोग से हुई ?

उत्तर---सत्ता तीन प्रकारों के भीतर आ जाती है, वे तीन प्रकार ये है – नित्य, अनित्य और असम्भव। नित्य पदार्थ अपनी सत्ता के लिये किसी की अपेक्षा नहीं रखता, उसका नाश भी तीन काल में नहीं होता। अनित्य पदार्थ अपनी सत्ता में दूसरे चेतन की अपेक्षा रखता है उसकी उत्पत्ति और नाश दोनों सम्भव हैं। असम्भव जिसका होना किसी प्रकार सम्भव न हो। जहाँ कहीं उत्पत्ति और कार्य-कारण की चर्चा हो, वहाँ अनित्य पदार्थ का ही समझना उचित है। जीव और प्रकृति नित्य हैं। अतः उत्पत्ति की सम्भावना से बाहर है।

प्रश्न---एक बड़े कपड़े को फाड़कर हम उसके चार कपड़े बनाते हैं अब वे छोटे कपड़े तो संयोग से नहीं बने ? किन्तु वियोग से बने हैं।

उत्तर---सम्पूर्ण कपड़ा जिन अवयवों के संयोग से बना हो उसकी अपेक्षा वियोग से बना हुआ विदित होता है। वास्तव में टुकड़ा भी तारों के संयोग से बना है।

गुणवैधर्म्यान्न कर्मणां कर्म ।।२४।।

अर्थ—जिस प्रकार द्रव्य और गुण, द्रव्य और गुण को उत्पन्न करते हैं कर्म इस बात में इनसे भिन्न है, अर्थात् कर्म से कर्म उत्पन्न नहीं हो सकता, यह बता चुके हैं ।

प्रश्न—जब पहले बता चुके हैं तो पुनः क्यों कहा ?

उत्तर—किससे कौन उत्पन्न होता है इसका वहाँ प्रसंग था, अतः प्रसंगवश कहा । अब आगे नैमित्तिक गुणों की उत्पत्ति के कारण द्रव्य को बताते हैं ।

द्वित्वप्रभृतयः संख्याः पृथक्त्वसंयोगविभागाश्च ।।२५।।

अर्थ—दो या उससे अधिक संख्या, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये गुण बहुत द्रव्यों से उत्पन्न होते हैं । आशय यह है कि जहाँ एक द्रव्य होगा वहां ये गुण नहीं होंगे ।

प्रश्न – इनका एक द्रव्य में न रहने का क्या कारण है ?

उत्तर - ये गुण स्वाभाविक नहीं हैं जो एक में रहें किन्तु ये संयोग की अवस्था में रहने से नैमित्तिक हैं। जब एक से अधिक संख्या वाली वस्तु होगी तब ही दो वा दो से अधिक संख्या का प्रयोग होगा । एक में इसका प्रयोग हो ही नहीं सकता । इसी प्रकार संयोग भी तब होगा कि जब वस्तुएं एक से अधिक होंगी । एक में संयोग कैसा ? विभाग भी उसी अवस्था में हो सकता है जबकि एक वस्तु किसी दूसरी वस्तु से मिली रहे, इसी प्रकार पृथक्त्व भी किसी दूसरी वस्तु से मिले रहने पर हो सकता है ।

असमवायात् सामान्यं कार्यं कर्म न विद्यते ।।२६।।

अर्थ—जिस प्रकार और कार्य सामान्य होते हैं ऐसे ही कर्म सामान्य कार्य नहीं होता, क्योंकि और सब कार्य समवाय अर्थात् बहुत से द्रव्यों से उत्पन्न होते हैं, परन्तु कर्म एक द्रव्य से होता है । आशय यह है कि जो लोग संयोग से कर्म की उत्पत्ति मानते हैं

वे भूल करते हैं। कर्म एक चेतन से जड़ परमाणु और संयुक्त पदार्थों में हो रहा है। जिस प्रकार हमारी विद्यमानता से हमारे शरीरों में कर्म होते हैं, हमारे (जीवों के) पृथक् होते ही शरीर में कर्म होना बन्द हो जाता है। इसी प्रकार जगत् जो संयुक्त पदार्थ वा जड़ और असंयुक्त परमाणु आदि कर्म करते हैं जिसके संयोग और वियोग से जगत् की उत्पत्ति और नाश पाया जाता है, उन सबको चलाने वाला अर्थात् कर्म कराने वाला सबसे सूक्ष्म और सर्वव्यापक एक परमात्मा है।

संयोगानां द्रव्यम् ॥२७॥

अर्थ---प्रत्येक सावयव पदार्थ संयोग से उत्पन्न होता है। अर्थात् जब अनेक अवयव किसी प्रकार परस्पर मिलते हैं तो कार्य उत्पन्न होता है। अतः प्रत्येक सावयव पदार्थ का कारण संयोग है। बिना संयोग के कोई सावयव पदार्थ उत्पन्न नहीं हो सकता। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि जो द्रव्य स्पर्श गुण से रहित हैं और जिनके परमाणु नहीं होते, उनके संयोग से कोई कार्य द्रव्य उत्पन्न नहीं हो सकता, और न ये किसी के संयोग से बने हैं।

रूपाणां रूपम् ॥२८॥

अर्थ---परमाणु में रहने वाले सूक्ष्म रूप आदि गुणों से बहुत बड़े गुण उत्पन्न होते हैं। आशय यह है कि जो गुण कारण के होते हैं, उन्हीं गुणों का कार्य में प्रादुर्भाव होता है। इसलिये रूप आदि गुणों का कार्य गुण है। कारण गुण के संयोग से कार्य गुण उत्पन्न होते हैं। सूत्र में यद्यपि रूप ही बतलाया है परन्तु यह केवल निदर्शन मात्र है, शेष गुणों का भी ग्रहण कर लेना उचित है।

गुरुत्वप्रयत्नसंयोगानामुत्क्षेपणम् ॥२९॥

अर्थ--(गुरुत्व बोझ) प्रयत्न और संयोग का कार्य उत्क्षेपण रूप कर्म है। अर्थात् जब तक कोई वस्तु ऊपर को नहीं उठे तब तक वह भारी नहीं प्रतीत होती, क्योंकि जो वस्तु पृथ्वी पर है उस पर पृथ्वी की आकर्षण शक्ति अपना प्रभाव नहीं डालती। गुरुत्व पृथ्वी की आकर्षण शक्ति से उत्पन्न होता है और पृथ्वी की आकर्षण शक्ति के विरुद्ध जो परिश्रम होता है वह भी उस गुरुत्व से होता है और उससे थकना जो प्रयत्न है इन तीनों से उत्क्षेपण होता है, परन्तु उत्क्षेपण का उत्पत्ति कर्त्ता जीव ही है।

संयोगविभागश्च कर्मणाम् ॥३०॥

अर्थ--संयोग और विभाग ये सब कर्म के कार्य हैं। बिना कर्म के संयोग और विभाग सम्भव ही नहीं। अतः जहाँ पर संयोग पाया जावे वहाँ पर समझ लेना चाहिये कि यह कर्म से हुआ है और कर्म कर्ता से होता है इसलिये प्रत्येक संयुक्त का असंयुक्त होना असयुक्तों का संयुक्त होना, कर्म के कारण से है। यह आवश्यक नहीं कि कर्म के कर्त्ता को देखकर ही मानें किन्तु कार्य को देखकर भी कर्त्ता का अनुमान कर सकते हैं। तीव्र चलना, लचकना आदि सब कर्म कार्य हैं।

कारणसामान्ये द्रव्यकर्मणां कर्माकारणमुक्तम् ॥३१॥

अर्थ–सामान्यतया कारण के बयान में द्रव्य और कर्म इनका कारण कर्म नहीं हो सकता यह वर्णन किया गया है परन्तु नितान्त ही कारण न होने का खण्डन नहीं किया गया क्योंकि वह संयोग विभाग आदि गुणों का कारण है। अतः द्रव्य और कर्म को छोड़कर गुणों का कारण कर्म हो सकता है।

प्रश्न -इस सूत्र में इस बात के वर्णन की आवश्यकता ही नहीं थी क्योंकि पहले सूत्र में कर्म को गुणों का कारण सिद्ध कर चुके हैं।

उत्तर--इस सूत्र से यह भी ज्ञात होता है कि सामान्यतया कर्म द्रव्य कर्मों का कारण नहीं है, किन्तु किसी विशेष अवस्था में कारण हो सकता है। जैसे–कर्म संयोग विभाग का कारण है और संयोग विभाग द्रव्य की उत्पत्ति के कारण हैं, इसलिये जैसे परम्परा से दादा पोते की उत्पत्ति का कारण है, कर्म भी द्रव्य की उत्पत्ति का कारण हो सकता है। जिस प्रकार यह सम्भव है कि दादा पोते की उत्पत्ति के समय मर जावे तो उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान न होने से कर्म कारण नहीं, परन्तु यदि दादा न हो तो बाप की उत्पत्ति न हो, और बाप न हो तो बेटा न हो। इस प्रकार से दादा पोते की उत्पत्ति का कारण है। इसी प्रकार कर्म भी परम्परा से द्रव्य की उत्पत्ति का कारण है। कर्म, कर्म का भी विशेष अवस्थाओं में कारण हो सकता है, जैसे घोड़े के चलने से गाड़ी चलती है। यहाँ घोड़े का चलना जो कर्म है वह गाड़ी के चलने का कारण है।

प्रश्न--फिर यह क्यों कहा कि कर्म का कारण कर्म नहीं।

उत्तर---घोड़े का चलना घोड़े में और गाड़ी का चलना गाड़ी में पृथक्-पृथक् है, इसलिये उनमें कारण और कर्म का सम्बन्ध नहीं हो सकता, किन्तु गाड़ी के चलने का कारण गाड़ी और घोड़े का संयोग है। यदि यह संयोग न हो तो बिना घोड़े के अकेली गाड़ी चल नहीं सकती, और यदि घोड़े जुड़े भी हों और चलें नहीं तो गाड़ी में चलना नहीं होगा। अतः किसी विशेष अवस्था में कर्म, कर्म का कारण कहा जा सकता है, सामान्यतया नहीं।

प्रथम अध्याय का प्रथम आह्निक समाप्त हुआ

दूसरा आन्हिक

कारणाभावात् कार्याभाव: ॥१॥

अर्थ—कारण के न होने से कार्य का भी अभाव होता है। विना कारण के कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। पूर्व सूत्रों में कार्य कारण को केवल बताया था, अब इस सूत्र में उनका सम्बन्ध बताया है। जब तक सम्बन्ध न बताया जावे तब तक कार्य नही चलता।

प्रश्न—सृष्टि अनादि काल से चली आती है, इसलिये कोई किसी का कारण व कार्य नहो। जब कारण कार्य नहीं तो उन का सम्बन्ध कैसा ?

उत्तर—यह प्रत्यक्ष दीखता है कि बिना कारण के कोई वस्तु उत्पन्न नही हो सकती। कुम्हार विद्यमान हो मिट्टी विद्यमान हो, परन्तु दण्ड और चाक न हो तो घड़ा उत्पन्न नहीं होगा। जब की कारण के न होने पर कार्य नहीं होता, यह प्रत्यक्ष है, तो उसका खण्डन किसी प्रकार नहीं हो सकता। यदि कारण पूर्व न हो तो "मकान बन गया, या घड़ा बन गया, ऐसा कहना ही नही बनता।" परन्तु मकानों का बनना और उसकी नियत सामग्री का होना उस सामग्री के बिना कार्य का न बनना सिद्ध करता है की कार्य और कारण दोनों विद्यमान हैं और विना कारण के कार्य नही बन सकता। यदि कारण के विना कार्य बन सकता जिस प्रकार अभाव से उत्पत्ति मानने वाले मानते हैं तो विना बीज के भी वृक्ष हो जाता और किसी रोग की चिकित्सा भी नही हो सकती, क्योंकि इस समय तो रोग का निदान देखकर उसकी चिकित्सा करते हैं और जब रोग का कोई कारण ही न हो तब उसका बिरोधी कौन है जिसके द्वारा रोग का नाश किया जावे। अतः कार्य

कारण का सम्बन्ध आवश्यक हैं। कारण के होने पर कार्य की उत्पति नहीं होती ।

प्रश्न—जब कारण विद्यमान हो तो कार्य का होना अवश्यक है, परन्तु ऐसा देखा जाता है कि प्रायः कार्य उत्पन्न नही होता इससे विदित होता हैं कि कार्य कारण का सम्बन्ध नहीं ?

उत्तर---जब नियम में यह आवश्यक नही कि कारण की उपस्थिति में कार्य अवश्य ही उत्पन्न हो, किन्तु कार्य की उत्पति के लिये कारण होना आवश्यक हैं चाहे कार्य भी उत्पन्न हो चाहे न हो। जब होंगे तब विना कारण के अकस्मात् नहीं होंगे। आशय यह है कि अभाव से भाव उत्पन्न नही होता किन्तु भाव से भाव की उत्पत्ति होती है। जब आकाश के पुष्प की सुगन्धि को किसी ने नहीं सूंघा और बन्ध्या के पुत्र का विवाह किसी ने नही देखा, इसी प्रकार विना कारण के कार्य को भी किसी ने नही देखा। अब आगे यह दिखाते हैं कि कारण की सत्ता के लिये कार्य की सत्ता की अवश्यकता नहीं जिस प्रकार सन्तान की उत्पत्ति के लिए माता-पिता का होना आवश्यक है किन्तु माता पिता की सत्ता के लिये सन्तान की सत्ता की आवश्यकता नही।

न तु कार्याभावात् कारणभाव: ।।२।।

अर्थ---परन्तु कार्य के न होने से कारण का अभाव नही हो सकता। आशय यह है कि कारण के आश्रित कार्य सत्ता है किन्तु कार्य के आश्रित कारण की सत्ता नही। क्योंकि कारण में जो कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति हैं वह दो अवस्थाओं में रहती है। पहली स्वाश्रय और दूसरी कामिकी। जिस प्रकार जिह्वा में बोलने की शक्ति--जब चाहे बोंले जब चाहे न वोले

परन्तु विना जिह्वा के बोलना सम्भव नहीं और भी जिस प्रकार जीव में कर्म करने की शक्ति है। चाहे करे चाहे न करे कर्म के न करने से कर्म के अभाव में जीव का अभाव नहीं हो सकता। वैशेषिक शास्त्र के नवीन पुस्तक बनाने वालों ने जो अभाव को पदार्थ मानकर सात पदार्थ बतलाये हैं यह उन्होने सूत्रकार के आशय को न समझकर यह मान लिया है !

जब यह निश्चित हो जाता है कि कारण के न होने से कार्य नहीं होता तो मोक्ष अर्थात् दुःख से छूटने की इच्छा रखने वाला मनुष्य यह सोच सकता है कि यदि दुःखों के कारण का नाश हो जावे तो अवश्य दुःख का नाश होगा। जहाँ तक पता लगता है यह ठीक-ठीक ज्ञात होता है कि दुःखों का कारण विपरीत ज्ञान है। क्योंकी यह जड़ जगत् चेष्टारहित है, जीवात्मा को सुख-दुःख नहीं हो सकता। जीवात्मा अपनी अल्पज्ञता से किसी वस्तु को सुख का कारण मानता है किसी को दुःख का कारण मानता है। इस विपरीत ज्ञान से राग, द्वेष और दोष उत्पन्न होते हैं। जिसमें राग है उसको प्राप्त करने की और जिससे द्वेष है उसको त्यागने की इच्छा होती है। इससे धर्म और अधर्म दो प्रकार के कर्म होते हैं जिनसे जन्ममरण होते हैं जो दुःख का कारण होते हैं। यदि किसी को सन्देह हो कि इस मिथ्याज्ञान का कारण जो अल्पज्ञ जीवात्मा की अल्पज्ञता है इस मिथ्याज्ञान के नाश से जीवात्मा का भी नाश हो जावेगा। यह सत्य नहीं हैं। क्योंकि कार्य के नाश से कारण का नाश नहीं होत्ता। द्रव्य, गुण और कर्म के लक्षणों के उपरान्त सामान्य विशेष का लक्षण कहते हैं !

सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम् ॥३॥

अर्थ—सामान्य और विशेष यह बुद्धि की अपेक्षा से लिये

जाते हैं। जो बहुतों से सम्बन्ध रक्खे वह सामान्य है, जो थोड़ी वस्तुओं से सम्बन्ध रक्खे वह विशेष है। इसका आशय यह है कि जो गुण बहुत देश वा व्यक्तियों से सम्बन्ध रक्खे वह सामान्य कहलावेगा जो गुण थोड़े से वा थोड़े देश वा व्यक्तियों में रहें, वह विशेष कहलावेगा। आशय यह है कि जो गुण बहुत देश व्यक्तियों में पाये जावें वह सामान्य कहावेंगे और जो गुण थोड़े देश वा थोड़े व्यक्तियों में रहे उनको विशेष कहेंगे। अब न्यून वा अधिक बुद्धि से जाना जाता है। जैसे कहा जावे कि 'सजीव' तो यह गुण सम्पूर्ण प्राणियों में पाया जाता है इसलिये सामान्य है। और यदि कहा जाय मनुष्य तो ये गुण केवल नरों में ही पाये जाते हैं शेष जानदार इससे पृथक हो जाते है इसलिये इसको विशेष कहते हैं। इसी प्रकार "हिन्दुस्तानी आदमी" यह सामान्य है परन्तु उसमें ब्राहृण विशेष है। ऐसे ही ब्राह्मण सामान्य है और गौड ब्राह्मण विशेष है। वही मनुष्य जो जान-दार की अपेक्षा विशेष थी हिन्दुस्तानी की अपेक्षा से सामान्य होगया क्योंकि वह सम्पूर्ण मनुष्यों को लिये हुये था और यह केवल हिन्दुस्तान के रहने वालों को लिये हुये हैं। हिन्दुस्तानी जो सम्पूर्ण मनुष्यों की अपेक्षा से विशेष था, वह ब्राह्मण की अपेक्षा से सामान्य होगया क्योंकि हिन्दुस्तानी शब्द सम्पूर्ण हिन्दुस्तानियों के लिये प्रयोग किया जा सकता है किन्तु ब्राह्मण शब्द केवल ब्राह्मण वर्ण के लिये ही प्रयुक्त हो सकता। आशय यह है कि सामान्य और विशेष केवल बुद्धि ही पर निर्भर हैं, क्योंकि एक ही वस्तु एक की अपेक्षा से सामान्य है तो दूसरे की अपेक्षा से विशेष है परन्तु जो सबके लिये प्रयुक्त होता है वह सदैव सामान्य ही रहता है, क्योंकि उससे अधिक देश में रहने वाला कोई अन्य गुण ही नहीं जिसकी अपेक्षा से यह विशेष हो सके। जैसे सत्ता का गुण प्रत्येक वस्तु में रहता है, इसलिये वह सामान्य है

यह कभी विशेष नहीं हो सकता। आशय यह है कि कोई सर्वव्यापक वस्तु विशेष नहीं हो सकती, वह सदैव सामान्य ही रहेगी सर्वव्यापक पदार्थों को छोड़कर शेष पदार्थों में सामान्य और विशेष बुद्धि से निश्चित किया जाता है। इसी को आगे और भी पुष्टि करते हैं।

भावोऽनुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव ।.४।।

अर्थ अनुवृत्ति अर्थात् बार बार लौट-पौट कर प्रत्येक वस्तु के मिलने से यह विदित होता है कि भाव अर्थात् सत्ता सामान्य है, क्योंकि जिस पदार्थ को हम देखते हैं उसमें सत्ता को विद्यमान पाते हैं कोई वस्तु ऐसी जो सत्ता से रहित हो। जब सम्पूर्ण विशेषों में सत्ता विद्यमान है तो उसको सामान्य मानना पड़ेगा, क्योंकि जो एक पदार्थ में सत्ता है उसको दूसरी वस्तु की सत्ता से पृथक् करने वाला कोई गुण नहीं है।

द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यं विशेषाश्च ।।५।।

अर्थ--द्रव्यं में द्रव्यत्व गुण है जिसके कारण वह और पदार्थों से भिन्न जाना जाता है। इस ही प्रकार गुण में गुणत्व है जो औरों से उसे पृथक् करता है। ऐसे ही कर्म में कर्मत्व है जो उसको अन्यों से पृथक् करता है। वह सामान्य और विशेष दोनों प्रकार का है। जिस प्रकार पृथ्वी आदि प्रत्येक द्रव्य में जो गुण है, वह सामान्य द्रव्यों में रहने से सामान्य है, परन्तु जो पृथ्वी में विशेषता उत्पन्न करने वाले गुण हैं, जो पृथ्वी को दूसरे द्रव्यों से पृथक् करते हैं, और वे विशेषकर पृथ्वी में होने से और द्रव्यों में न होने से विशेष है, और एक द्रव्य के बहुत कार्य द्रव्यों में जाने से, जो गुण, एक कार्य द्रव्य को दूसरे कार्य द्रव्य से भिन्न करते हैं, उनके कारण और भी हो जाते हैं। ऐसे ही गुण कर्म में भी समझ लेना कि सामान्य गुणों में जो

धर्म मिलते हैं, उनके कारण से गुण सामान्य हैं, किन्तु रूप आदि गुणों में जो धर्म एक गुण को दूसरे गुण से पृथक करते हैं उनके कारण से विशेष है, इसी प्रकार कर्मों में जान लेना चाहिये।

अन्यत्रान्येभ्यो* विशेषेभ्यः ॥६॥

अर्थ— यह विशेषता कार्य द्रव्यों में ही रहती है क्योंकि उसी समय एक दूसरे से भिन्न होना जाना जाता है, किन्तु परमाणुओं की अवस्था में यह भेद नहीं कर सकते इसलिये उस अवस्था में सम्पूर्ण द्रव्यों का सामान्य होना ही पाया जाता है। कार्यावस्था में भिन्न-भिन्न गुणों की प्रतीति होने से विशेषता हो जाती है। अतः सामान्य और विशेष का जो भेद वर्णन किया गया है, यह जगत् की कार्यावस्था में समझना चाहिये। परमाणु अवस्था में केवल सामान्य ही समझना चाहिये। अब सत्ता की परीक्षा आरम्भ होती है।

सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता ॥७॥

अर्थ—जिसके कारण द्रव्य, गुण और कर्म में "यह द्रव्य है, कर्म है, गुण है" यह व्यवहार वा ज्ञान होता है, उसका नाम सत्ता है।

द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता ॥८॥

अर्थ—सत्ता द्रव्य, गुण और कर्म से पृथक् है, क्योंकि सत्ता यदि गुण होती तो कर्म में पाई जाती। गुण में नहीं पाई जाती, कारण कि गुण में गुण नहीं होता, तो यदि द्रव्य होती तो भी ठीक नहीं, क्योंकि गुण में द्रव्य नहीं होता। द्रव्य में गुण रहता है, और यदि कर्म होता तो कर्म में विद्यमान न होता क्योंकि

---

* अन्यत्रान्त्येभ्यो० इति पाठः।

कर्म में कर्म नहीं हो सकता, दोनों के बराबर गुण होने से व्याप्यव्यापक का सम्बन्ध नहीं रह सकता। इसको और पुष्ट करने के लिये अगला सूत्र कहते हैं--

प्रश्न---द्रव्य गुण कर्म से पृथक् सत्ता कोई वस्तु सिद्ध नहीं होती, क्योंकि उसको (सत्ता को) उनसे पृथक् नहीं कर सकते।

उत्तर---गुणकर्मसु च भावान्न कर्म न गुणः ॥९॥

अर्थ - सता द्रव्य तो हो ही नहीं सकती क्योंकि उसमें न तो गुण है न क्रिया है। न वह समवाय कारण हो सकती है। यही द्रव्य के लक्षण हैं जब द्रव्य नहीं तो गुण और कर्म में रहने से गुण और कर्म भी नहीं हो सकती। इसलिये सत्ता द्रव्य गुण और कर्म से भिन्न सब वस्तुओं में रहने वाली और सबसे भिन्न है। इस पर और भी युक्ति देते हैं।

सामान्यविशेषाभावेन च ॥१०॥

अर्थ - जिस प्रकार द्रव्य, गुण और कर्म में सामान्य और विशेष पाया जाता है, यदि सत्ता भी द्रव्य गुण और कर्मों में से कोई होती तो उसमें भी सामान्य और विशेषता पाई जाती, जबकि सत्ता में ये दोनों (सामान्य और विशेष) नहीं पाये जाते इसलिये द्रव्य, गुण, कर्म से सत्ता एक भिन्न वस्तु है।

प्रश्न—पहिले सूत्र सं० ४ में बतला चुके हैं कि सत्ता सामान्य है विशेष नहीं, अब इसको सामान्य और विशेष से पृथक् क्यों कहा ?

उत्तर—पूर्व में जो सामान्य होना कहा है, वह द्रव्य गुण और कर्म में रहने वाले गुण की अपेक्षा से जो सामान्य और विशेष है, कहा है। जबकि सामान्य और विशेष का लक्षण बता चुके हैं कि वे बुद्धि से निश्चित किये जाते हैं। इसलिये अपेक्षा रखने वाले गुण

एक ही पाये नहीं जाते। अतः एक सत्ता में इन दोनों गुणों का न होना ही सिद्ध होता है। सामान्य की अपेक्षा से विशेष होता है और विशेष की अपेक्षा से सामान्य होता है। जहाँ विशेष न हो तो किस की अपेक्षा से सामान्य कहावेगा। इसलिये सामान्य और विशेष का शब्द सत्ता के लिये आ ही नहीं सकता। अतः केवल सत्ता में सामान्य और विशेष का प्रयोग नहीं हो सकता।

अनेकद्रव्यवत्त्वे† द्रव्यत्वमुक्तम् ॥११॥

अर्थ--जिस तरह द्रव्य, गुण और कर्म में सत्ता रहती है, जो न द्रव्य है न गुण न कर्म, ऐसे ही अनेक द्रव्यों में रहने वाला द्रव्यत्व है, जिससे द्रव्य की गुण कर्म से पृथक् पहिचान हो जावे अर्थात् गुण कर्म सामान्य विशेष इत्यादि से जिस गुण के कारण द्रव्य को भिन्न मानते हैं और वह द्रव्य में सदैव रहने से नित्य है। वह द्रव्यत्व भी, द्रव्य गुण और कर्म से नितान्त भिन्न है, और अनेक द्रव्यों में रहने से सामान्य ही है यदि द्रव्यपन को विशेष माना जावे तो अनेक द्रव्यों में एक द्रव्यपन नहीं रहना चाहिये किन्तु अनेक में अनेक गुण होने चाहिये, जैसे एक द्रव्य दूसरे से भिन्न है, परन्तु द्रव्यत्व दोनों में समान और एक ही हैं, इसलिये द्रव्यत्व, द्रव्य से भिन्न है जो सारे द्रव्य में समान भाव से रहता है। द्रव्य में, कारण और कार्य होने से नित्यता और अनित्यता पाई जाती है, किन्तु द्रव्यत्व में यह बात नहीं है। वह सदैव समान भाव से रहता है, इसके सम्बन्ध में युक्ति देते हैं--

सामान्यविशेषाभावेन च ॥१२॥

अर्थ--क्योंकि द्रव्यत्व में, जो उसको गुण कर्म से पृथक्

---

† 'अनेकद्रव्यवत्त्वेन' इति पाठः

करता है, सामान्य और विशेष नहीं है, किन्तु वह सारे द्रव्यों में समानतया रहता है। जिस प्रकार सत्ता को, सामान्य और विशेष न होने के कारण, द्रव्य गुण और कर्म से भिन्न सिद्ध कर चुके हैं, इसी प्रकार द्रव्यत्व, सामान्य और विशेष न होने से द्रव्य गुण और कर्म से पृथक् है। जिस प्रकार सत्ता सिद्ध की गई है उसी प्रकार यहाँ भी जान लेना चाहिये।

तथा† गुणेषु भावात् गुणत्वमुक्तम् । १३॥

अर्थ--जिस प्रकार सम्पूर्ण द्रव्यों में रहने वाला द्रव्यत्व द्रव्य गुण कर्म से पृथक् है, इसी प्रकार सम्पूर्ण गुणों में रहने वाला गुणत्व भी द्रव्य गुण कर्म से पृथक् है और सत्ता के समान नित्य है।

इस पर युक्ति देते हैं—

सामान्यविशेषाभावेन च ॥१४॥

अर्थ---यदि द्रव्य गुण कर्म से गुणत्व भिन्न न हो तो द्रव्यों में रहने वाला द्रव्यत्व गुणों में रहने वाला गुणत्व और कर्म में रहने वाला कर्मत्व, जिनसे (उनकी भिन्नता प्रतीत करते हैं) पृथक्-पृथक् कैसे जाना जावे ? इसलिये सामान्य और विशेष के होने से गुणत्व भी नित्य है।

कर्मसु भावात् कर्मत्वमुक्तम् ॥१५॥

अर्थ प्रत्येक कर्म में रहने वाला होने से कर्मत्व कहा गया है। वह भी द्रव्यत्व और गुणत्व के समान सामान्य और नित्य है क्योंकि वह प्रत्येक कर्म में रहता है। इन सूत्रों में जिनको हमने द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व कहा है उससे हमारा आशय जाति से है, जो द्रव्य, गुण और कर्म में रहती है। प्रत्येक जाति को

---

† 'तथा' अन्यत्र नास्ति।

दूसरी जाति से पृथक् करने वाला जो जातित्व है, वह सब जातियों में समानतया पाया जाता है। ऐसा ही कर्म में जो जातित्व है वह भी नित्य है। इन सूत्रों से जाति को नित्य बतलाया है।

सामान्यविशेषाभावेन च ॥१६॥

अर्थ---यदि कर्म में रहने वाला जातित्व, द्रव्य होता तो द्रव्य में रहने वाले सामान्य और विशेष उसमें पाये जाते, जब कि उनमें सामान्य और विशेष नहीं पाये जाते इसलिये कर्म में रहने वाली जाति द्रव्य, गुण और कर्म से पृथक् है।

प्रश्न---द्रव्य, गुण और कर्म में रहने वाली सत्ता द्रव्य, गुण और कर्म में रहने वाली होने से पृथक-पृथक क्यों न मानी जावे, क्योंकि भिन्न-भिन्न जाति में भिन्न-भिन्न प्रकार की सत्ता हो सकती है।

उत्तर---सदिति लिंगाविशेषाद् विशेषलिंगाभावाच्चैको भावः ॥१७॥

अर्थ---सत्ता का लक्षण 'है' कहाता है अर्थात् यह कहना कि द्रव्य है, गुण है. कर्म है, ऐसा कहने से सत्ता का ज्ञान होता हैं और 'है' कहना सब स्थानों पर समानतया पाया जाता है। इसमें विशेषता करसे वाला कोई भी लक्षण नहीं पाया जाता। जबकि सत्ता, किसी प्रकार से भी सामान्य और विशेष नहीं हो सकती। यथा 'द्रव्य है' ऐसा कहने में जैसे 'है' कहा जाता है, ऐसे ही 'कर्म है' कहने में कहा जाता है। जहाँ चाहो प्रयोग करो 'है' अवश्य ही आवेगा और वह समान होगा। जबकि 'है' में भेद उत्पन्न करके विशेषता करने वाली कोई बात ही सिद्ध नहीं होती तो सत्ता को भिन्न-भिन्न प्रकार की मानना किस प्रकार

स्वीकार किया जा सकता है। कहीं पर छोटे बड़े परिणाम ही भेद का कारण होते हैं जिनसे विशेषता हो जाती है। जैसे बड़ा दीपक और छोटे दीपक एक ही जाति के हैं परन्तु छोटाई बड़ाई के भेद से विशेषता उत्पन्न हो सकती है किन्तु सत्ता में किसी प्रकार तो भेद हो ही नहीं सकता। इसलिये विशेषता उत्पन्न करने वाले किसी लक्षण के न होने से सत्ता एक ही माननी चाहिये, यही आशय है।

इति प्रथमोऽध्यायः

वैशेशिक दर्शन भाषानुवाद

अध्याय २ आन्हिक

रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथ्वी ॥१॥

अर्थ--पृथ्वी में रूप, रस. गन्ध और स्पर्श ये गुण रहते हैं। जैसे-नीला, पीला, काला और लाल आदि जो रंग हैं वे रूप कहाते हैं। खट्टा, मीठा, कड़वा, कसैला, नमकीन, फीका और चरपरा आदि रस हैं। सुगन्ध और दुर्गन्ध आदि गन्ध कहाते हैं। वह पृथ्वी में रहते ही हैं। स्पर्श जैसे ठंडा, गर्म, कठोर, कोमल और न गर्म न सर्द आदि पृथ्वी में पाये जाते हैं।

प्रश्न--पत्थर में गन्ध और रस नहीं पाया जाता है और पत्थर को पार्थिव माना जाता है।

उत्तर---पत्थर में गन्ध और रस दोनों विद्यमान हैं। पत्थर की यदि भस्म कर दी जावे तो दोनों का प्रत्यक्ष हो सकता है, क्योंकि यदि पत्थर में रस न होता तो जलाने से उसकी भस्म न होती, जो परमाणु पत्थर में थे वही उसके भस्म में हैं। जब भस्म में गन्ध का प्रत्यक्ष होता है तो पत्थर में भी है। यह अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि ये गुण जो पृथ्वी के बतलाये गये हैं ये संयुक्त के गुण हैं उनमें से जो रूप गुण है वह अग्नि का है, रस जल के संयोग से है, गन्ध पृथ्वी संयुक्त का स्वाभाविक गुण है और स्पर्श वायु के संयोग से है। जो पञ्च भूत हमें दृष्टिगत होते हैं वे सब संयुक्त हैं, उनमें जो स्थूल हैं उनमें सूक्ष्म के गुण रहते हैं। पृथ्वी

सबसे स्थूल है इसलिये उसमें सब भूतों के रहने से उन सबके गुणों का प्रत्यक्ष पृथ्वी में होता है। जो जिससे सूक्ष्म हैं, उसमें अपने से स्थूल के गुणों की प्रतीति नहीं होती, जो अगले सूत्रों में सिद्ध किया जावेगा। जिन मनुष्यों ने इन संयुक्त भूतों को देखकर, आर्य-पदार्थ-विद्या पर कटाक्ष किये हैं कि आर्य लोग जिन भूतों को तत्त्व मानते हैं वे मुरक्कब (संयुक्त) हैं, उनकी अज्ञानता का कारण है। आर्य लोग इन स्थूल भूतों को तत्त्व नहीं मानते किन्तु इनको संयुक्त ही मानते हैं। अब यह स्थूल पृथ्वी के स्वाभाविक और नैमित्तिक गुण बतला दिये, आगे उसकी विशेष व्याख्या करते हैं—

रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः ॥२॥

अर्थ—इनमें से रूप, रस और स्पर्श पानी में रहते हैं, और वह बहने वाला चिकना होता है। जल, जबकि पृथ्वी से सूक्ष्म है इसलिये गन्ध जो पृथ्वी का गुण है वह उसमें नहीं रहता किन्तु वायु का स्पर्श और अग्नि का गुण रूप उसमें रहते हैं इसलिये वायु और अग्नि जल से सूक्ष्म है। जिन लोगों ने पानी को तत्त्व नहीं माना और यह बतला दिया कि जल दो अवयवों से संयुक्त है। एक ऑक्सीजन, और दूसरा हाइड्रोजन अर्थात् उन्होंने इस संयुक्त जल में एक तो ऑक्सीजन बतलाया, जिसको प्राणप्रद वायु बतलाया है, वास्तव में जो कि अग्नि से मिली हुई एक सूक्ष्म वायु है, दूसरा हाइड्रोजन जो कि एक जल से मिली हुई वायु है। यदि इस संयुक्त जल से वायु और अग्नि के भाग पृथक कर दिये जावें जो परमाणु अवस्था में लाने के अतिरिक्त और किसी प्रकार सम्भव नहीं, तो जो जल बचेगा वह जल के

परमाणु होंगे, चाहे इस समय के साइन्स जानने वाले. अपने साधनों की न्यूनता से, पाँच से पांच सौ तत्त्वों तक पहुंच जावे, परन्तु अन्त में पुनः पांच ही पर आना पड़ेगा।

प्रश्न--जल का रूप कैसा है ?

उत्तर--जल का रूप श्वेत हैं। जहां कहीं किसी नैमित्तिक दोष का संयोग होता है तो उससे और रंग दीखने लगते हैं और रस जल का मीठा है। जहां खारी प्रतीत होता है वह किसी दोष के कारण से है। स्पर्श जल का शीत होता है। जब जल का उष्ण स्पर्श होता है तब उसमें अग्नि का संयोग होता है। यद्यपि बहना जल का स्वाभाविक गुण है, किन्तु किसी कारण से हिम (वर्फ) व ओला बन जाता है, जल में मिलाने का भी गुण है।

तेजो रूपस्पर्शवत् ॥३॥

अर्थ–तेज अर्थात् अग्नि का गुण रूप और स्पर्श है। जबकि पृथ्वी और जल दोनों अग्नि से स्थूल हैं, इसलिये उनके गुण, गन्ध और रस अग्नि में नहीं होते। आशय यह हैं कि जिसमें चमकदार रूप और गर्म-उष्ण स्पर्श होता है वह तेज है।

प्रश्न--यदि स्पर्श उष्ण होता है यही अग्नि का लक्षण है, तो चन्द्रमा, हीरा, मणि, सोना और चांदी में तेज होता है, परन्तु उसमें स्पर्श उष्ण नहीं होता।

उत्तर यद्यपि चन्द्रमा आदि सबों में स्पर्श गुण होता है परन्तु जल का गुण जो शीत है उसके अधिक होने से उष्णता प्रतीत नहीं होती, क्योंकि जो बलवान् होता है वह दूसरे की शक्ति को तिरोभूत कर देता—दबा देता है। इसी प्रकार कहीं

जल की अधिकता से जैसे चन्द्रमा में, कहीं मिट्टी की अधिकता से जैसे मिट्टी आदि में उष्णता प्रतीत नहीं होती।

तेज चार प्रकार का हैं एक वह जिसमें रूप और स्पर्श दोनों प्रत्यक्ष होते हैं, जैसे अग्नि, दूसरा जिसमें रूप का प्रत्यक्ष होता है स्पर्श का नहीं, जैसे चन्द्रमा इसमें उष्णता का प्रत्यक्ष नहीं होता।

तीसरे जिसमें उष्णता का प्रत्यक्ष होता है रूप का नहीं होता जैसे गरम घड़ा व गरम हवा। चौथे वह जिसमें रूप और उष्ण दोनों का प्रत्यक्ष नहीं होता - जैसे आँख। ये चार प्रकार ही श्री स्वामी शंकराचार्य ने लिखे हैं। प्रशस्तपाद ऋषि ने अपने भाष्य में इस प्रकार विभाग किया है, पहली भौम जो लकड़ी आदि पार्थिव पदार्थों के जलने से प्रतीत होती है। दूसरी दिव्य जो सूर्य और विजली आदि से प्रत्यक्ष होतीं है। तीसरी औदर्य्य अर्थात् वह अग्नि जो खाये हुए को पेट में पचाती है। चौथी आकरज अर्थात् वह अग्नि जो सुवर्ण आदि चमकीले पदार्थों में होती है।

अग्नि के गुण के उपरान्त अब वायु का गुण वर्णन करते हैं।

स्पर्शवान् वायुः ॥४॥

अर्थ—यद्यपि वायु का गुण केवल स्पर्श है तथापि शीत और उष्ण वायु का स्वाभाविक गुण नहीं। जब हवा पानी के अंश को लेकर चलती हैं तब ठण्डी हो जाती है, और जब अग्नि के अंश को लेकर चलती है तब गर्म हो जाती है। वायु का गुण सरदी गरमी से पृथक् केवल स्पर्श है जिसका त्वचा से प्रत्यक्ष होता है। वायु का इन्द्रिय त्वचा है।

त आकाशे न विद्यन्ते ॥५॥

अर्थ—जो पृथवी, अप्, तेज और वायु के गुण गन्ध, रस, उष्णता और स्पर्श हैं वे आकाश में नहीं पाये जाते।

प्रश्न— आकाश में भी नीलापन होता है जो रूप है जिसका प्रतिबिम्ब स्वच्छ जल व दर्पण में दीखता है। यदि आकाश में रूप नहीं होता तो उसका प्रतिबिम्ब किस प्रकार होता ?

उत्तर- जो नीला रूप आकाश में प्रतिबिम्ब से दीखता है, वह आकाश का रूप नहीं है किन्तु आकाश में रहने वाले जलकणों का है और नियम यह है कि सूक्ष्म के गुण स्थूल में नहीं आते क्योंकि गुण और द्रव्य में ऐसा ही सम्बन्ध है कि एक दूसरे के बिना नहीं रह सकता। इसलिये जब तक सूक्ष्म द्रव्य के भीतर स्थूल द्रव्य न आ जावे तब तक उसके गुण नहीं आ सकते। जबकि आकाश पञ्च तत्वों में सूक्ष्मतर है इसलिये आकाश में चारों तत्वों के गुण नहीं आ सकते, जैसे पानी तो गर्म हो सकता है, क्योंकि अग्नि पानी से सूक्ष्म है परन्तु आग ठण्डी नहीं हो सकती क्योंकि पानी अग्नि से स्थूल है यह अग्नि में नहीं आ सकता इसलिये अग्नि में उसका गुण सरदी नहीं हो सकती। आशय यह है कि स्थूल तत्वों में सूक्ष्मों के गुण मिले हुये हैं, इस कारण उनमें उनके गुणों का प्रत्यक्ष होता है।

प्रश्न--पानी में जो बहने का गुण बतलाया गया है सो ठीक नहीं क्योंकि घी, लाख और मोम भी बहने वाले पदार्थ हैं ?

सर्पिर्जतुमधूच्छिष्टानामग्निसंयोगाद् द्रवत्वमद्भिः सामान्यम् ॥६॥

अर्थ—यद्यपि घी, लाख और मोम आदि वस्तुओं में बहना पाया जाता है। परन्तु उनमें बहना अग्नि के संयोग से है। बिना अग्नि के संयोग के उनमें बहने का गुण नहीं पाया जाता। इसलिये उनमें यह गुण नैमित्तिक है, स्वाभाविक नहीं। पानी में गुण सामान्य है अतः उसका स्वाभाविक गुण है।

प्रश्न--रांगा और चांदी आदि में भी बहने का गुण पाया जाता है ?

उत्तर--त्रपुसीसलोहरजतसुवर्णानामग्निसंयोगाद् द्रवत्वमद्भिः सामान्यम् ।।७।।

अर्थ--रांगा, सीसा और लोहा आदि में भी बहना अग्नि के संयोग से पाया जाता है। उनमें भी यह गुण नैमित्तिक है स्वाभाविक नहीं, परन्तु पानी में बिना किसी कारण के होने से स्वाभाविक गुण हैं। इसी प्रकार और वस्तुओं में भी जान लेना उचित है। यद्यपि बहने का गुण, पानी और अन्य वस्तुओं में सामान्य है, किन्तु स्वाभाविक और नैमित्तिक होने से अन्तर है।

विषाणी ककुद्मान् प्रान्ते बालधिः सास्नावान् इति गोत्वे दृष्टं लिंगम् ।।८।।

अर्थ--सींग वाला होना, कटे खुर वाला, पूछ के अन्तिम भाग में बाल होना और गले में कांबर अर्थात् खाल जो गले के नीचे लटका करती है, यह गौ के प्रत्यक्ष चिन्ह हैं। प्रथम कहा कि गाय सींग वाली है, परन्तु यह भैंस आदि अन्य पशुओं में विद्यमान था इसलिये कहा फटे पांव वाला होना, यह गुण भी दूसरे पशुओं में विद्यमान था इसलिये फिर कहा कि पूंछ के अन्त में बाल होना यह भी भैंस आदि में था। अन्त में कहा कि जिसके गले के नीचे खाल लटकती हो। यह लक्षण अन्य पशुओं में नहीं, अतः लक्षण समाप्त हो गया।

प्रश्न--यहां इस सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि द्रव्यों की परीक्षा में गौ के लक्षणों की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर--यह सूत्र अगले सूत्र की पुष्टि के लिये लिखा है जिसमें बतराया गया है कि केवल स्पर्श ही वायु का गुण है।

प्रश्न— आकाश में भी नीलापन होता है जो रूप है जिसका प्रतिबिम्ब स्वच्छ जल व दर्पण में दीखता है। यदि आकाश में रूप नहीं होता तो उसका प्रतिबिम्ब किस प्रकार होता ?

उत्तर- जो नीला रूप आकाश में प्रतिबिम्ब से दीखता है, वह आकाश का रूप नहीं है किन्तु आकाश में रहने वाले जलकणों का हैं और नियम यह है कि सूक्ष्म के गुण स्थूल में नहीं आते क्योंकि गुण और द्रव्य में ऐसा ही सम्बन्ध है कि एक दूसरे के बिना नहीं रह सकता। इसलिये जब तक सूक्ष्म द्रव्य के भीतर स्थूल द्रव्य न आ जावे तब तक उसके गुण नहीं आ सकते। जबकि आकाश पञ्च तत्त्वों में सूक्ष्मतर है इसलिये आकाश में चारों तत्त्वों के गुण नहीं आ सकते, जैसे पानी तो गर्म हो सकता है, क्योंकि अग्नि पानी से सूक्ष्म है परन्तु आग ठण्डी नहीं हो सकती क्योंकि पानी अग्नि से स्थूल है यह अग्नि में नहीं आ सकता इसलिये अग्नि में उसका गुण सरदी नहीं हो सकती। आशय यह है कि स्थूल तत्वों में सूक्ष्मों के गुण मिले हुये हैं, इस कारण उनमें उनके गुणों का प्रत्यक्ष होता है।

प्रश्न--पानी में जो बहने का गुण बतलाया गया है सो ठीक नहीं क्योंकि घी, लाख और मोम भी बहने वाले पदार्थ हैं ?

सर्पिर्जतुमधूच्छिष्टानामग्निसंयोगाद् द्रवत्वमद्भिः सामान्यम् ॥६॥

अर्थ—यद्यपि घी, लाख और मोम आदि वस्तुओं में बहना पाया जाता है। परन्तु उनमें बहना अग्नि के संयोग से है। बिना अग्नि के संयोग के उनमें बहने का गुण नहीं पाया जाता। इसलिये उनमें यह गुण नैमित्तिक है, स्वाभाविक नहीं। पानी में गुण सामान्य है अतः उसका स्वाभाविक गुण है।

प्रश्न--रांगा और चांदी आदि में भी बहने का गुण पाया जाता है ?

उत्तर--त्रपुसीसलोहरजतसुवर्णानामग्निसंयोगाद् द्रवत्वमद्भिः सामान्यम् ॥७॥

अर्थ--रांगा, सीसा और लोहा आदि में भी बहना अग्नि के संयोग से पाया जाता है। उनमें भी यह गुण नैमित्तिक है स्वाभाविक नहीं, परन्तु पानी में बिना किसी कारण के होने से स्वाभाविक गुण हैं। इसी प्रकार और वस्तुओं में भी जान लेना उचित है। यद्यपि बहने का गुण, पानी और अन्य वस्तुओं में सामान्य है, किन्तु स्वाभाविक और नैमित्तिक होने से अन्तर है।

विषाणी ककुद्वान् प्रान्ते बालधिः सास्नावान् इति गोत्वे दृष्टं लिंगम् ॥८॥

अर्थ—सींग वाला होना, कटे खुर वाला, पूछ के अन्तिम भाग में बाल होना और गले में काँबर अर्थात् खाल जो गले के नीचे लटका करती है, यह गौ के प्रत्यक्ष चिन्ह हैं। प्रथम कहा कि गाय सींग वाली है, परन्तु यह भैंस आदि अन्य पशुओं में विद्यमान था इसलिये कहा फटे पांव वाला होना, यह गुण भी दूसरे पशुओं में विद्यमान था इसलिये फिर कहा कि पूंछ के अन्त में बाल होना यह भी भैंस आदि में था। अन्त में कहा कि जिसके गले के नीचे खाल लटकती हो। यह लक्षण अन्य पशुओं में नहीं, अतः लक्षण समाप्त हो गया।

प्रश्न--यहां इस सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि द्रव्यों की परीक्षा में गौ के लक्षणों की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—यह सूत्र अगले सूत्र की पुष्टि के लिये लिखा है जिसमें बतलाया गया है कि केवल स्पर्श ही वायु का गुण है।

प्रश्न– इस स्थान पर बिना आवश्यकता के क्यों रक्खा गया, क्योंकि जिस स्थान पर और द्रव्यों का लक्षण किया गया था उसी प्रकार वायु का भी लक्षण हो सकता था।

उत्तर--जबकि वायु का रूप न होने से प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता और स्पर्श की परीक्षा की जा रही है, इसलिये स्पर्श को वायु का गुण सिद्ध करने के लिये अनुमान करते हैं, क्योंकि रूप रहित पदार्थों का ज्ञान और उनके गुण अनुमान से हो, जाने जा सकते हैं। पक्ष के रूप युक्ति और दृष्टान्त की भी आवश्यकता पड़ा करती है इसलिये गौ का दृष्टान्त देकर बताया कि जिस प्रकार गौ के प्रत्यक्ष चिन्ह सींग आदि है, परन्तु गले की खाल किसी दूसरे में न रहने से उसका विशेष लिंग हैं, इसी प्रकार यद्यपि वायु में शीत और उष्ण स्पर्श होता है, परन्तु ये पानी और आग के होने से वायु का केवल स्पर्श ही गुण सिद्ध है। गौ के दृष्टान्त से वायु के गुणों को सिद्ध किया गया है।

स्पर्शश्च वायोः ॥९॥

अर्थ--स्पर्श, शब्द और धृति तथा कम्प, ये वायु के अदृष्ट लिंग हैं। यहाँ स्पर्श से अपाकंज अनुष्ण शीत स्पर्श का ग्रहण है, अन्य आशय के बिना आकाश में तृणादि के धारण का नाम "धृति" है वायु के चलते समय वृक्षादि में होने वाले शब्द का नाम 'शब्द' है और शाखादि के हिलने का नाम "कम्प" है। जैसे गौ के साथ सींग आदि का सम्बन्ध है; वैसे ही वायु के साथ शीत आदि का सम्बन्ध हैं। गौ का जैसे गले वाली खाल का सम्बन्ध है इसी प्रकार वायु का स्वाभाविक सम्बन्ध स्पर्श मात्र से है।

प्रश्न--उक्त स्पर्श वायु का नहीं किन्तु पृथ्वी आदि का है।

उत्तर--न च दृष्टानां स्पर्श इत्यदृष्टलिंगो वायुः ।।१०।।

अर्थ--उक्त स्पर्श पृथ्वी आदि का नहीं, इसलिये वायु का ही वह लिंग है। क्योंकि जल का शीत, तेज का उष्ण और पृथ्वी का पाकज अनुष्ण शीत स्पर्श है और यह स्पर्श अपाकज अनुष्ण शीत होने के कारण उससे विलक्षण है। इसलिये यह पृथ्वी आदि का न होने से वायु का लिंग है।

प्रश्न--वायु के द्रव्य होने पर ही उक्त स्पर्श वायु का लिंग हो सकता है।

उत्तर-- अद्रव्यवत्त्वेन द्रव्यम् ।।११।।

अर्थ--वायु द्रव्य है क्योंकि वह द्रव्य भिन्न का आश्रय है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि पृथ्वी आदि की भांति वायु का द्रव्यत्व प्रत्यक्ष नहीं है तथापि अनुमान द्वारा उसकी सिद्धि हो सकती है, जैसे समवाय सम्बन्ध से द्रव्य अर्थात् गुण कर्म आदि आश्रय होंने से घटादि पृथ्वी द्रव्य रूप है वैसे ही स्पर्श तथा क्रिया का आश्रय होने से वायु भी द्रव्य ही है, इसलिये उक्त स्पर्श वायु सिद्धि में लिंग है।

प्रश्न--जो "अद्रव्य" का आश्रय होता है वह द्रव्य ही होता है, यह नियम नहीं, क्योंकि गुण कर्म भी अद्रव्य का आश्रय है परन्तु द्रव्य नहीं ?

उत्तर--क्रियावत्त्वाद् गुणवत्त्वाच्च ।।१२।।

अर्थ--क्रियावाला और गुणवाला, होंने से वायु द्रव्य है। तात्पर्य यह है कि गुण तथा कर्म के गुण कर्म में आश्रय नहीं हो सकते इसलिये "गुणवत्त्व तथा क्रियावत्त्व" हेतु का कहीं भी व्यभिचार नहीं। अतएव उक्त हेतुओं से वायु सिद्धि में कोई बाधा नहीं और अद्रव्य का आश्रय

होने पर भी गुण कर्म का अद्रव्य होना सिद्ध है। अब वायु का नित्यत्व कथन करते हैं।

अद्रव्यत्वेन नित्यत्वमुक्तम् ॥१३॥

अर्थ--वायु नित्य है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति का कारण कोई द्रव्य उपलब्ध नहीं होता, जैसे पृथ्वी आदि तीनों अवान्तर प्रलय में नष्ट हो जाते हैं और पुनः अवान्तर सर्ग में अपने कारण द्रव्य से उत्पन्न होते हैं, वैसे वायु नहीं होता, इसलिये वह नित्य है। अब पृथ्वी आदि की भाँति वायु का अनेक होना सिद्ध करते हैं।

वायोर्वायुसंमूर्छनं नानात्वे लिंगम् ॥१४॥

अर्थ--वायु का एक दूसरे से भिन्न दिशाओं में चलना बहुत वायुओं को सिद्ध करता है। क्योंकि प्रायः देखा जाता है कि परस्पर विरोधी दिशाओं से वायु के चलने से हवा का चक्र उत्पन्न होकर वस्तु तिरछी चलने के स्थान में ऊपर को जाने लगती है। उस उठाने वाली वायु का भी ऊपर जाना अनुमान किया जाता है। यद्यपि वायु का रूप न होने से उसका ऊपर जाना प्रत्यक्ष नहीं होता, परन्तु तृणों के ऊपर जाने से, वायु के ऊपर जाने का अनुमान होता है, परन्तु तिरछा चलने वाला वायु अपने स्वाभाविक गुण के विरुद्ध ऊपर चलने से प्रतीत करता है कि यह चेष्टा आपस के टकराने से हो रही है। वायु का एक दूसरे को रोकना, उसको एक से अधिक होना सिद्ध करता है। जब वायु एक व्यापक द्रव्य नहीं किन्तु नाना है, तो उनका संयोग वियोग होना सम्भव है, जिससे वायु का परमाणु रूप और संयुक्त होना दोनों सिद्ध होते हैं। इसलिये परमाणु रूप वायु तो नित्य है और कार्य रूप संयुक्त होने से अनित्य है।

प्रश्न--हवा लिंग अदृष्ट क्यों बतलाया ? क्योंकि वायु का अदृष्ट लिंग प्रमाणित नहीं होता ।

उत्तर—वायुसन्निकर्षे प्रत्यक्षाभावाद् दृष्टलिंगं न विद्यते ।।१५।।

अर्थ--वायु के सम्बन्ध का ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं जाना जाता अर्थात् दो वायुओं का मिलना आंख आदि इन्द्रियों से नहीं अनुभव किया जाता, इसलिये उसका लिंग स्पर्श अदृष्ट ही कहा जावेगा ।

प्रश्न—यदि अदृष्ट शब्द का यह अर्थ किया जावे कि जो किसी प्रमाण से न जाना जावे तो वह लिंग हो ही नहीं सकता क्योंकि प्रत्येक भाव पदार्थ की सिद्धि प्रमाण से ही होती है । जब निशान के लिय कोई प्रमाण ही नहीं तो उसकी सत्ता ही सिद्ध नहीं और अभाव किसी पदार्थ का लिंग हो नहीं सकता ।

उत्तर—यहां अदृष्य शब्द का अर्थ केवल बाह्य इन्द्रियों से न जानने योग्य होता है ।

प्रश्न—यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि वायु का त्वचा द्वारा ज्ञान होता है और त्वचा इन्द्रिय है, इसलिये वायु का बाह्य इन्द्रियों से ज्ञान होना पाया जाता है ?

उत्तर—त्वचा से उष्ण शीत का, कोमल और कठोर का ज्ञान होता है जो वायु का लिंग नहीं है किन्तु अग्नि आदि का गुण है। उष्ण शीत से भिन्न केवल स्पर्श का ज्ञान त्वचा से नहीं होता इसलिये वायु का लिंग अदृष्ट है जिसका अनुभव इन्द्रिय से नहीं कर सकते किन्तु उसका ज्ञान अनुमान और शब्द से सिद्ध होता है ।

प्रश्न—अनुमान तीन प्रकार का होता है एक पूर्ववत् दूसरा

शेषवत् और तीसरा सामान्यतोदृष्ट। उनमें से वायु में कौन सा लिंग है।

उत्तर--सामान्यतोदृष्टाच्चाविशेषः ॥१६॥

अर्थ—वायु के द्रव्य और अदृष्ट लिंगवाला होने से सामान्यतोदृष्ट लिंग होता है, जिसकी परीक्षा न्यायदर्शन में कर चुके हैं। जिस प्रकार अन्य वस्तुओं के कार्य नाना प्रकार के गुण व विशेषताएं प्राप्त करते हैं, अर्थात् उनके रूप रस और रंग में बहुत प्रकार का भेद पाया जाता है, वैसे ही वायु कार्य कारण रूप में सामान्य दशा में रहती है, उसमें कोई भी एक दूसरे से विभेद करने वाली विशेषता उत्पन्न नहीं होती।

प्रश्न—क्या कारण है कि और द्रव्यों के कार्य बहुत प्रकार के हो सकते हैं और वायु नाना प्रकार के कार्य पैदा नहीं करती ?

उत्तर—इसलिये कि स्थूल द्रव्यों में सूक्ष्म प्रवेश कर सकते हैं, और इसी कारण से कि उनमें न्यूनाधिक प्रवेश करने से विविध प्रकार के कार्य उत्पन्न होते हैं, परन्तु वायु सूक्ष्म है उसमें दूसरा द्रव्य प्रवेश नहीं कर सकता, इसलिये उसके कार्य सब एक ही समान होंगे। उनमें सामान्य रूप से स्पर्श ही होगा और कुछ विशेषता नहीं होगी।

प्रश्न--वायु में शीत और उष्ण दोनों गुण सम्मिलित हो जाते हैं, जिससे वायु गर्म व सर्द कहाती है, इसलिये यह कहना ठीक नहीं कि वायु में दूसरे द्रव्य प्रवेश नहीं करते।

उत्तर—यद्यपि वायु उनको उठाकर ले जाती है, जिससे शीत वा उष्ण वायु प्रतीत होने से प्रायः लोग यह विचार कर लेते हैं कि शीतलता व उष्णता वायु में सम्मिलित हो गई। सत्य तो यह है कि वायु उनको एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जा

रही है, जैसे चुम्बक पत्थर की शक्ति लोहे को उठा ले जाती है, क्या उस समय यह मान सकते हैं कि लोहा चुम्बक पत्थर की शक्ति में प्रवेश कर गया ? आशय यह है कि जो द्रव्य दूसरे द्रव्य में प्रविष्ट हो जाता है, उसे सम्मिलित होना कहना चाहिये, और जो किसी शक्ति से चले, यह उसमें सम्मिलित नहीं कहा जावेगा।

तस्मादागमिकम् ॥१७॥

अर्थ--जबकि वायु का होना अनुमान से सिद्ध है, इसलिए वेद में भी वायु की सत्ता मानी गई और वायु को द्रव्य कहा गया है क्योंकि शब्द प्रमाण वही हो सकता है जिसके अर्थो का होना प्रत्यक्ष व अनुमान से सिद्ध हो जावे। वायु का द्रव्य होना अनुमान से सिद्ध है इसलिये वेद में वायु को नित्य बस्तुओं (देवताओं) में गिनाया है। वायु का नित्य होना तो वेद में प्रकृति के नित्य होने से सिद्ध है और अनित्य होंना उत्पत्ति के लिखने से सिद्ध है, इसलिये नित्य और अनित्य दोनों प्रकार की वायु, जिसका लिंग चाहे अदृष्ट हो, अनुमान और वेद से पाया जाता है।

संज्ञा कर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिंगम् ॥१८॥

अर्थ--अब स्पर्श गुण वाले वायु के प्रकरण को, समाप्त करके इस बात को दिखलाते है कि हमसे बड़ों के होने का चिन्ह क्या है, जिससे उनके बनाये हुये शास्त्र और उनके किये हुये वेदार्थ का पता लग सके। इसका उत्तर कणाद जी देते हैं कि उनके नाम और कर्म ही उनके होने का चिन्ह हैं। आशय यह है कि वेद मन्त्रों के अर्थ करने वाले ऋषियों के होने का प्रमाण वेदमन्त्रों के साथ उनका नाम आने से और उनकी बताई हुई वेदों की शाखा ब्राह्मण और वेदांगों से मिलता है।

प्रश्न—ईश्वर के होने में क्या प्रमाण है? जिससे उसके ज्ञान वेद को प्रमाणित माना जावे?

उत्तर—ईश्वर अनुमान प्रमाण से सिद्ध है।

प्रश्न अनुमान प्रमाण के लिये व्याप्ति की आवश्वकता है?

उत्तर प्रत्येक जड़ वस्तु में क्रिया उत्पन्न करने से (जो ईश्वर के अतिरिक्त अन्य से असम्भव है) और नाम होने से (जो सत्ता के बिना नहीं हो सकता) ईश्वर की सत्ता सिद्ध है। वेद जैसे पूर्ण ज्ञान का प्रकाश होना किसी मनुष्य से असम्भव है, इसलिये वेद रूपी कर्म से भी ईश्वर की सत्ता सिद्ध है क्योंकि सृष्टि के आदि में बिना गुरु के मनुष्यों का शिक्षा पाना सम्भव ही नहीं। जबकि इस समय भी बिना गुरु के कोई विद्वान् नहीं हो सकता, जैसे बीज बोने से तो मनुष्य बृक्ष को उत्पन्न कर सकता है परन्तु बीज को उत्पन्न नहीं कर सकता। इसलिये विद्या के बीज बनाने वाले परमात्मा का होना सिद्ध है, अधिक वाद-विवाद अन्य स्थल पर मिलेगा।

प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात् संज्ञाकर्मणः ।।१६।।

अर्थ—जो जिस वस्तु का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से करता है वही उसका नाम रख सकता है, वही उस प्रकार की वस्तु बना सकता है। मोक्ष इत्यादि का मनुष्यों को प्रत्यक्ष से ज्ञान नहीं होता इसलिये जिसने उनका प्रत्यक्ष किया वही उनके नाम रख सकता है, और वही उनके साधन भी बतला सकता है, इसलिए मोक्ष आदि अप्रत्यक्ष पदार्थों के नाम और उनके साधनों का वर्णन हमसे अधिक योग्य ऋषियों और सर्वज्ञ ईश्वर की सत्ता का चिन्ह हैं।

क्योंकि हम दुनिया में देखते हैं कि प्रथम हम एक चीज को पैदा करके उसके गुणों का ज्ञान प्राप्त करते हैं, फिर उसका

नाम उसके गुणों के अनुसार रखते हैं। इसलिए प्रत्येक प्रकार का नाम रखना ईश्वर के नियम के साथ सम्बन्ध रखता है। यह देख यौगिक नामों के लिये हैं। रूढ़ि शब्द जो बिना गुणों के ज्ञान के सर्वसाधारण बोलते हैं वह पृथक् हैं। जिस प्रकार की औषध को लेके दांतों के अनुकूल होने से सांप को मारते हैं, इन प्रकार की बातों को ज्ञात करके उसका गौण सम्बन्ध दिखाना, पुराने योगियों की विद्या को प्रकट करता है। इसी प्रकार चन्द्र, सूर्य और पृथ्वी आदि जो दृश्य जगत् है उसको बनाने वाला और चेष्टा देने वाला कोई मनुष्य तो हो ही नहीं सकता, और वही जड़ जगत् में स्वाभाविक कर्म विद्यमान है इसलिये उसका कर्म, जो उसकी चेष्टा से प्रतीत होता है, ईश्वर के होने का लिंग है।

निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिंगम् ।।२६।।

अर्थ—अकाश का विद्यानता का लिंग निष्क्रमण और प्रवेशन-निकलना ओर घुसना है। क्योंकि जहां दीवार आदि होती है वहां से मनुष्य प्रवेश करना नहीं चाहता। प्रत्युत द्वार आदि में जहां अकाश दिखाई देता है वहीं से निकलता है और जहां से निकलता है वहां पर भी आकाश को छोड़ता है जहां तक आकाश होता है वहीं तक जा सकता है।

प्रश्न—अकाश का होना असम्भव है, क्योंकि वायु, अग्नि, जल और पृथवी के परमाणुओं से सारी जगह घिरी हुई है।

उत्तर- यह विचार ठीक नहीं। क्योंकि यदि सारी जगह भरी होती कहीं खाली नहीं होती तो चीजों में सिकुड़ना नहीं पाया जाता क्योंकि सिकुड़ने की अवस्था में आकाश में परमाणु भर कर द्रव्य पदार्थों को ठोस बना देते है, यहां तक कि प्रत्येक ठोस से ठोस पदार्थों में अकाश की विद्यमानता पाई जाती है, जिसका प्रमाण यह है

कि लोहे से गर्मी पार हो जाती है, सोने से पार हों जाती है यहां तक कि प्रत्येक ठोम पदार्थ में अग्नि के परमाणुओं के प्रवेश करने के लिए अवकाश होना पाया जाता है। आशय यह है कि निकलने और आने से ही नहीं प्रत्येक कर्म से ही आकाश का होना सिद्ध होता है निष्क्रमण और प्रवेशन केवल उदाहरणार्थ बतलाया है। इस पर प्रतिपक्षी शंका करता है कि—

तदलिंगमेकद्रव्यत्वात्कर्मणः ॥२१॥

अर्थ—निकलना अग्नि का कर्म, कारण और कार्य होने के अनुसार सयोग से, आकाश की सत्ता का प्रमाण नहीं हो सकते क्योंकि पूर्व ही सिद्ध कर चुके हैं की कर्म एक द्रव्य के सहारे रहता है और संयोग से उत्पन्न नहीं हो सकता क्योंकि क्रिया मूर्तिमान् द्रव्य हीं कर सकता हैं। आकाश न तो मूर्तिमान है जो क्रिया करे और वही असमवायि कारण हो सकता है इसका प्रतिवाद अगले सूत्र से होता है।

कारणान्तरानुक्लृप्तिवैधर्म्याच्च ॥२२॥

अर्थ—आकाश कर्म का असमवायि कारण भी नहीं हो सकता क्योंकि द्रव्य असमवायि कारण नहीं हो सकता, प्रत्युत संयोग गुण असमवायि कारण होता है। इन दो सूत्रों का अभिप्राय यह है कि जब आकाश निकलने और प्रवेश होने आदि दोनों प्रकार का कारण नहीं तो उनसे आकाश का अनुमान कैसे हो सकता है? क्योंकि उनका आकाश के साथ कारण कार्य का सम्बन्ध नहीं है, और अनुमान या तो कारण का कार्य से होता है, या कार्य का कारण से यदि कोई कहे कि आकाश कर्म का कारण है तो भी ठीक नहीं। इसका प्रतिवाद अगले सूत्र से करते हैं।

संयोगादभावः कर्मणः ॥२३॥

अर्थ – कर्म का आकाश निमित कारण भी नहीं हो सकता, और न ही कर्म, आकाश का समबायि, असमवायि और निमित्त कारण हो सकता है, इसलिये आकाश का अनुमान कर्म से नहीं हो सकता। क्योंकि न तो कार्य कारण सम्बन्ध ही सिद्ध होता है। अगर कहो कि निमित्त कारण क्यों नहीं! क्योंकि जो जिसके बिना न हो और और उसके होने से हो, वही उसका कारण होता हैं और कोई कर्म आकाश के विना हो नहीं सकता इसलिये आकाश को कारण मानना, चाहिये, लेकिन कारण वह होता है जो कार्य से पूर्व होकर भी उसके लिये नियत हो। आकाश सब के साथ सम्बन्ध रखने से किसी का नियत कारण नहीं हो सकता। क्योंकि व्यापक होने से उसका कहीं अभाव ही नहीं। इसलिए चाहे कार्य हो या न हो, आकाश रहेगा और केवल आकाश से कोई नहीं उत्पन्न हो सकता इसलिये आकाश को कोइ कारण नहीं कह सकते। इन तीनों सूत्रों में आकाश के कारण होने का खण्डन किया गया है। आकाश को क्रिया करने का कारण या जिसमें कर्म हो वह द्रव्य नहीं मानते किन्तु उसका आधार बतलाते हैं। यदि आकाश न हो तो कोई मूर्त्तिमान् पदार्थ किसी में कर्म करेगा कहां से? निकलकर कहाँ जायेगा? जब कि प्रतिबादी ने भी आकाश की सत्ता से इंकार नहीं किया किन्तु उसको सर्वव्यापक माना है। केवल कर्म से उसके कारण कार्यभाव होने का विरोध किया है इसलिये वादविवाद को अधिक न बढ़ाकर, आकाश के गुण शब्द को बतलाते हैं।

कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः ॥२४॥

अर्थ – कारण के गुण के अनुसार ही कार्य के गुण देखे जाते हैं।

क्योंकि पृथवी आदि में जो गुण पाये जाते हैं, केवल उपादान कारण के अनुसार ही होते हैं। जो किसी कारीगर की बनाई हुई सुन्दर वस्तुओं में रूपसत्ता आदि गुण पाये जाते हैं वे निमित्त कारण के गुण के अनुसार ही होते हैं। जैसा कर्ता होगा वैसी ही कार्य के भीतर श्रेष्ठता देखी जावेगी परन्तु रूप आदि गुण के समान कोई कारण शब्द का ज्ञात नहीं होता न तो उसकी उत्पत्ति पृथ्वी से होती है और न पानी से, न आग और हवा का वह गुण सिद्ध होता है। इस पर युक्ति देते है :—

कार्य्यान्तराऽप्राभिर्वाच्छब्द : स्पर्शवतामगुण : ॥२५॥

अर्थ–जब कि शब्द बांसुरी, शंख और बीन आदि कार्यों से उत्पन्न होता है इसलिये वह कारण के गुण के अनुसार ही होता है, जैसा बाजा होता है वैसा ही शब्द भी होता है यदि ऐसा हो कि शब्द उसका कार्य हो, तो तैसा तारों के मिलने से कपड़ा बन जाता हैं या दों कपालों से मिलकर जैसे घड़ा बनता है, वैसे ही समान जातीय परमाणुओं के मिलने से रूप रस आदि ने उपरान्त घट आदि का प्रत्यक्ष होता है, ऐसे ही बीन सितार आदि ऐसे अवयव हैं जो कुछ भी शब्द नहीं, किन्तु शब्द की उत्पत्ति देखते है, परन्तु रूप रहित तार और कपालों से घट आदि की उत्पत्ति नहीं देखते, इसलिये यदि शब्द स्पर्शवालों का गुण होता अर्थात् मिट्टी, पानी आग और वायु जिनका स्पर्श से ज्ञान होता है, ऐसे द्रव्यों का गुण होता तो उसमें तीव्र से तीव्र और मन्द से मन्द होना न पाया जाता। इसलिये वह स्पर्श करने योग्य द्रव्य का गुण नहीं। आगे और बतलाते हैं :—

परत्र समवायात् प्रत्यक्षत्वाच्च नात्मगुणो न मनोगुण : ॥२६॥

अर्थ—शब्द, आत्मा और मन का गुण नही है, इस पर विचार करते हैं कि यदि शब्द आत्मा का गुण होता तो जिस प्रकार कहा जाता है कि "मैं सुखी हूं" मैं दुःखी हूं" और मैं चाहता हूं, इसी प्रकार मैं बजता हूं, में शब्द वाला हूं, इस प्रकार का ज्ञान भी होता किन्तु ऐसा ज्ञान कभी नहीं होता। ऐसा तो कहा जाता है कि शंख बजता है, बीन बजती है।

प्रश्न—शब्द के आत्मा का गुण न होने में क्या प्रमाण है ?

उत्तर—इसलिये कि शब्द बाह्य इन्द्रियों से ग्रहण किया जाता है, इसलिये वह आत्मा का गुण नहीं हो सकता। यदि शब्द आत्मा ही का गुण होता तो बहरे भी सुन सकते। शब्द आत्मा और मन का गुण नहीं इसलिये बाह्य इन्द्रियों से सुना जाता है।

प्रश्न—क्या कारण हैं कि शब्द को मन का गुण न माना जावे ?

उत्तर—शब्द का प्रत्यक्ष कान से होता है, इसलिये प्रत्यक्ष होने से मन का गुण नहीं। किन्तु प्रत्यक्ष बतलाने से यह सूचित कर दिया कि वह दिशा और काल का भी गुण नहीं।

प्रश्न—शब्द जब पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, दिशा, काल और मन का गुण नहीं तो फिर किसका गुण है ?

इसका उत्तर महात्मा कणाद जी देते हैं :—

परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य ॥२७॥

अर्थ—शब्द गुण है, जिसका किसी न किसी द्रव्य के सहारे रहना आवश्यक है। जब वह स्पर्शवाली मिट्टी, पानी, वायु, अग्नि का गुण नहीं और न ही मन दिशा और आत्मा का गुण है, इस लिये नौ द्रव्यों में से जो शेष रहा, आकाश उसका गुण मानना पड़ेगा।

प्रश्न क्या प्रमाण है कि शब्द गुण है ?

उत्तर—इसलिए कि वह एक बाह्य इन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है और इन्द्रियां गुण के अतिरिक्त किसी द्रव्य का ग्रहण करती नहीं, इसलिये यह स्पष्ट है कि शब्द गुण है।

प्रश्न—शब्द नित्य है वा अनित्य ?

उत्तर—शब्द अनित्य है।

प्रश्न—विभु होने और सबके साथ सम्बन्ध रखने वाले आकाश का गुण शब्द अनित्य कैसे हो सकता है ?

उत्तर—जिस प्रकार ज्ञानादि विभु आत्मा के गुण अनित्य होते हैं उसी प्रकार शब्द भी अनित्य हो सकता है। यहाँ ज्ञान से बाह्य ज्ञान को समझना चाहिए।

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥२८॥

अर्थ—जिस प्रकार किसी द्रव्य के सहारे न रहने से वायु नित्य है ऐसे ही आकाश भी नित्य है क्योंकि वह अपनी सत्ता के लिये किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा नहीं करता, और शब्द के गुण होने के कारण उसका द्रव्य होना भी सिद्ध है।

प्रश्न—क्या आकाश भी वायु के समान अनेक हैं ?

उत्तर—तत्त्वं भावेन ॥२९॥

अर्थ—जिस प्रकार प्रत्येक द्रव्य, गुण और कर्म आदि में रहने वाली सत्ता का गुण एक है, उसका सामान्य और विशेष न रहने से भेद नहीं पाया जाता। इसी प्रकार आकाश भी एक है क्योंकि न तो वह परमाणुओं से मिलकर बनता है और न ही सूक्ष्म होने के कारण किसी अन्य द्रव्य का उसमें समावेश ही हो सकता है। जब दूसरे द्रव्यों के कारण उसमें विशेषता हो ही नहीं सकती, न उसमें

कारण कार्य का सम्बन्ध होता है इसलिए आकाश को एक ही मानता ठीक है।

शब्दलिंगाविशेषाद्विशेषलिंगाभावाच्च ॥३०॥

अर्थ---जिस प्रकार सत्ता का ज्ञान विना किसी गुण के होता है, उसी तरह आकाश का एक होना किस प्रकार सिद्ध हो सकता है ? इसके उत्तर में कहते हैं—

जबकि शब्द ही आकाश का लिंग है तो उसके सामान्य होने से कोई विशेष लिंग होता तो आकाश को आकाश से पृथक् करता, परन्तु शब्द में कोई भेद विशेषता करने वाला नहीं इस लिए आकाश को एक ही मानना पड़ेगा, जब तक कि कोई दूसरा विशेष लिंग एक आकाश को दूसरे आकाश से भेद करने वाला सिद्ध न हो।

प्रश्न---जिस प्रकार आत्मा में सामान्य गुण ज्ञान है, परन्तु आत्मायें अनेक है, तो क्या शब्द गुण एक होने से आकाश अनेक नही हो सकते ?

उत्तर---आत्मा में यद्यपि ज्ञान गुण सामान्य है, परन्तु सुख दुःख की व्यवस्था से उनका बहुत होना सिद्ध है जिस तरह ज्ञान में सुख का ज्ञान और दुःख का ज्ञान हो सकता है अर्थात् कोई आत्मा सुख का अनुभव कोई आत्मा दुःख का अनुभव करता है, ऐसे ही शब्द में कोई विशेषता नहीं। इसलिए आकाश एक ही है।

तदनुविधानादेकपृथक्त्वञ्चेति ॥३१॥

अर्थ---जबकि आकाश में विभु होने से सब से बड़ा होना पाया जाता है, क्योंकि वह शब्द का समवायि कारण है, इस लिए उसमें संयोग और विभाग हो सकता हैं, यह प्रश्न उत्पन्न होता है

कि फिर उसको सबसे पृथक् क्यों कहा ? उत्तर में कहते हैं कि आकाश को सत्ता के समान प्रत्येक में रहने पर भी एक कहा है और यह नियम है कि जो एक होगा वह दूसरों से पृथक् भी होगा, अभिप्राय यह हैं कि किसी वस्तु को एक कहने से ही उसका पृथक् होना सिद्ध होता है। सूत्र में जो इति शब्द आया है वह आह्निक की समाप्ति का सूचक है। इस आह्निक में पृथवी, पानी, अग्नि, वायु और आकाश आदि का लक्षण कहा और प्रसंगवश ईश्वर की सत्ता भी सिद्ध की।

→ॐ←

अध्याय २, आह्निक २

पुष्पवस्त्रयोः सति सन्निकर्षे गुणान्तराप्रादुर्भावो वस्त्रे गन्धा भावलिङ्गम् ॥१॥

अब पंचभूतों के गुणों का वर्णन करने के लिए प्रथम स्वाभाविक गुण और नैमित्तिक गुणों का वर्णन करते हैं कि जिससे ज्ञात हो जावे कि यह स्वाभाविक है, और यह नैमित्तिक है, स्वाभाविक गुण वह कहाता है जो कि भूत के अवयवों में होता है और अवयवों के संयोग से उसका प्रत्यक्ष होता है, और नैमित्तिक वह है जो उसमें दूसरे तत्व के मिलने से प्रत्यक्ष होता है।

सूत्रार्थ—वस्त्र और पुष्प के संयोग विशेष से किसी दूसरे गुण का प्रत्यक्ष न होना, कपड़े में गन्ध के न होने का लिंग हैं। क्योंकि पुष्प के संयोग से गन्ध का अनुभव होता है और उसके अभाव में गन्ध का भी अभाव रहता है। अभिप्राय यह है कि रूप रस, गन्ध और स्पर्श आदि गुण जहां स्वाभाविक रीत्या पाये जावे वही लक्षण कहाते हैं। इसके विरुद्ध लक्षण नहीं कहे जा सकते। जैसे वायु में गन्ध, पत्थर के नीचे सरदी पानी में गरमी, यह लक्षय हीं कहे जा सकते, इसलिए स्वाभाविक गुण ही लक्षण हो सकता है।

प्रश्न—किसी ने पूछा कि देवदत्त का मकान कौन-सा है? उत्तर में उसने कहा कि कौवे वाला अर्थात् जिस पर कौवा बैठा है। वह मनुष्य वहीं जा पहुंचा। क्या यह लक्षण नहीं?

उत्तर-यह स्वरूप लक्षण नहीं, किन्तु नैमित्तिक है। यदि कौवा उसके पहूंचने से पूर्व ही उड़ जावे तो कैसे पहिचान सके या

कि यह देवदत्त का गृह है ? इसलिए स्वाभाविक गुण ही लक्षण हो सकता हैं, नैमित्तिक नहीं।

प्रश्न—जो कपड़े में गन्ध का न होना बतलाया गया है, यह ठीक नहीं क्योंकि कपड़े के जलाने से गन्ध का प्रत्यक्ष होता ?

उत्तर—यहां पुष्प के समान सुगन्ध से आशय है सामान्य गन्ध से नहीं, क्योंकि वस्त्र पृथ्वी+मिट्टी से बना है, उसमें उसके कारण का गुण गन्ध अवश्य होगा।

प्रश्न—क्या प्रमाण है कि पृथ्वी का गुण गन्ध है ?

उत्तर—व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः ॥२॥

अर्थ—पृथ्वी का स्वाभाविक गुण, जो उसको दूसरे द्रव्यों से पृथक् करता है वह गन्ध है। शेष गुण तो दूसरों के निमित्त से पाये जाते हैं। यह पृथ्वी अकेली मिट्टी के परमाणुओं का ही संघात नहीं है किन्तु उसमें आप्य आग्नेय और वायव्य=पानी आग और वायु के परमाणु भी सम्मलित हैं जिससे उनके गुणों का भी प्रत्यक्ष होता है अर्थात् वायु का स्पर्श, अग्नि का रूप और जल का रस भी, इसमें इसमें अपने गुण के अतिरिक्त पाया जाता है। पाँच गुणों और आठ द्रव्यों से पृथ्वी के गुण को पृथक् करने वाला, गन्ध है।

एतेनोष्णता व्याख्याता ॥३॥

अर्थ—जिस प्रकार पृथ्वी में गन्ध गुण है, उसी प्रकार अग्नि आदि द्रव्यों में विशेषतया एक ही गुण समझ लेना चाहीए अर्थात् अग्नि में केवल उष्णता को समझ लेना चाहिए।

प्रश्न—इस सूत्र में केवल उष्णता लिया है अग्नि का तो नाम भी नहीं। फिर अग्नि का गुण उष्णता समझ लेना चाहिए यह कैसे निश्चय हुआ ?

उत्तर अगले सूत्र में इसको स्पष्ट कहते हैं।

तेजस उष्णता ।४।।

अर्थ—तेज का स्वाभाविक गुण उष्णता है, इसलिए अग्नि का लक्षण उष्णता ही मानना योग्य है। क्योंकि जो जिसका स्वाभाविक गुण है वही उसका स्वाभाविक लक्षण हो सकता है।

प्रश्न क्या रूप तेज का लक्षण नहीं ?

उत्तर--रूप भी तेज का गुण है किन्तु इन्द्रिय से अनुभव करने योग्य गरमी भी अग्नि का लक्षण है।

अप्सु शीतता ।।५।।

अर्थ—जल का मुख्य लक्षण शीत है क्योंकि शीत उस पानी का स्वाभाविक गुण है। अब पृथ्वी, जल और अग्नि का मुख्य लक्षण बता कर काल का गुण बताते हैं।

अपरस्मिन्नपरं युगपत् चिरं क्षिप्रमिति काल-लिङ्गानि ।।६।।

अर्थ—काल के लिंग ये हैं--यह इससे पूर्व है, इसके पश्चात् है, दोनों एक साथ हैं, और देरी का जो ज्ञान होता है, उसको काल का लिंग समझना चाहिए। जैसे राम कृष्ण से पूर्व आया। शब्द "पूर्व" बतला रहा है कि राम और कृष्ण के आने में अन्तर है जिसको समय के सिवा और कुछ नहीं कह सकता। ऐसे ही राम कृष्ण के पश्चात् गया, जिससे स्पष्ट है कि राम और कृष्ण के जाने में जो अन्तर वह समय ही कि अपेक्षा से हैं राम और कृष्ण साथ-साथ जाते हैं। यहां दोनों के जाने का समय एक ही ज्ञात होता है। वह शीघ्रता करता हैं अर्थात कार्य करने में न्यून समय लगता है, इसमें भी समय का पता चलता है। वह देर से करता हैं इसमें भी समय का ज्ञान होता है उपर्युक्त ज्ञान ही समय की सत्ता को बताते हैं।

प्रश्न— क्या पूर्व पश्चात् आदि, काल के लिए नियत कारण है ? तो काल की तरह नियत होने चाहिये और नित्य हों तो उनसे काल का ज्ञान भी हो।

उत्तर—पूर्व पश्चात आदि जो काल के लिंग हैं वे एक दूसरे की अपेक्षा से होते हैं, इसलिए उनसे काल के होने का प्रमाण मिलता है।

प्रश्न—क्या प्रमाण है कि काल द्रव्य है ?

उत्तर—द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥७॥

अर्थ—जिस प्रकार वायु गुण वाला होने से द्रव्य है, ऐसे ही काल भी गुण वाला होने से द्रव्य है। जिस प्रकार वायु किसी द्रव्य से उत्पन्न न होने से नित्य है, इसी प्रकार काल भी नित्य है।

प्रश्न—काल में कौन-कौन से गुण पाये जाते हैं ?

उत्तर—परत्व और अपरत्व ये दो गुण सामान्यतया उसके लक्षण से ही सिद्ध हैं।

प्रश्न—परत्व किसको कहते हैं ?

उत्तर—जो जिसके समीप हो या पूर्व हो।

प्रश्न—काल एक है या अनेक ?

उत्तर—तत्त्वं भावेन ॥८॥

अर्थ—सत्ता के समान समय के गुण भी सामान्य होने से, सर्वत्र पाये जाते हैं, उनमें कोई विशेषता नहीं होती, इसलिये काल को भी एक ही जानना चाहिए।

प्रश्न—तीन काल तो प्रसिद्ध ही हैं ? एक भूत, दूसरा भविष्यत् और तीसरा वर्तमान।

उत्तर—यह काल का विभाग कार्य के होने से गौण है मुख्य नहीं क्योंकि कार्य उत्पन्न होगा इससे कार्य का आगे होना सिद्ध

होता है। घड़ा हुआ था, इससे घड़े की व्यतीत अवस्था का ज्ञान होता है और घड़ा है, इससे घड़े की वर्तमान अवस्था जानी जाती है यह भेद अवस्थाओं के कारण है। वास्तव में काल में कोई विशेषत्व नहीं है जिससे अनेक काल समझे जावें।

प्रश्न--जबकि सेकेण्ड, मिनिट, घण्टा, दिन, रात, पक्ष, महीना और वर्ष आदि काल के भेद देखे जाते हैं, तो काल को एक कैसे मान सकते हैं।

उत्तर यह भेद काल में नहीं किन्तु सूर्य आदि के परिभ्रमण से उत्पन्न होने वाली अवस्थाओं को काल मान लिया जाता है, जैसे हीरे के समीप लाल फूल रखने से उस हीरे में लाली दीख पड़ती है, दूसरे हीरे के पास पीला फूल रखने से पीलापन दीख पड़ता है। क्या लाली और पीलेपन का अन्तर हीरे में है ? कदापि नहीं। यह तो फूलों के कारण प्रतीत होता है। ऐसे ही सूर्य और चन्द्रमा आदि के घुमने में काल के भेद प्रतीत होते है।

नित्येष्वभावादनित्येषु भावात्कारणे कालाख्येति ॥९॥

अर्थ नित्य पदार्थों में न होने से और अनित्यों में होने से काल का भी कारण मानना चाहिये, क्योंकि काल के जो लिंग बतलाये गये हैं, जैसे एक साथ पैदा हुआ, देर से पैदा हुआ, रात को पैदा हुआ, दिन में पैदा हुआ। इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग अनित्यों में ही हो सकता है। आकाश के लिये ऐसा प्रयोग नहीं कर सकते। आशय यह है कि समय के विभाग का प्रयोग अनित्य पदार्थों ही में हो सकता है न कि नित्य पदार्थों में अर्थात् कार्य में प्रयोग होता है न कि कारण में। इसलिये काल को एक उत्पत्ति का कारण मानना चाहिये। क्योंकि उत्पन्न होने वाले पदार्थों के लिये ही इसका प्रयोग होता है। जैसे ये दोनों भाई एक साथ उत्पन्न हुये, बड़ा उनमें से पूर्व उत्पन्न

हुआ छोटा पश्चात् उत्पन्न हुआ, इस प्रकार कार्य में ही इनका प्रयोग कर सकते हैं।

प्रश्न—नित्य के साथ भी काल का सम्बन्ध पाया जाता है, जैसे उपनिषदों में लिखा है कि "इस सृष्टि से पूर्व भी ब्रह्म था"। "जब सूर्य चन्द्रमा उत्पन्न नहीं हुये थे तब भी ब्रह्म था।"

उत्तर—इनका स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है अर्थात् ब्रह्म का उत्पन्न होना इससे सिद्ध नहीं होता, किन्तु कार्यों की अपेक्षा से ब्रह्म में पूर्व होना माना गया है। वास्तव में "हुआ होगा, हो चुका" इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग नित्य पदार्थ के साथ नहीं हो सकता क्योंकि "हुआ था" ऐसा कहने से इसका पूर्व समय होना, अब न होना सिद्ध होता है। "होगा" इससे वर्तमान समय में न होना, आगे को होना पाया जाता है, परन्तु नित्य पदार्थ तीनों कालों में होता हैं, किसी काल में उसका अभाव नहीं होता, इसलिये काल के साथ उसका सम्बन्ध विदित नहीं होता इसके अतिरिक्त ऋतु सम्बन्धी वस्तुओं के उत्पन्न होने में भी काल, कारण सिद्ध होता है। अब दिशा का विचार करते हैं।

इत इदमिति यतस्तद्दिश्यं लिङ्गम् ॥१०॥

अर्थ—जिससे इस बात का ज्ञान हो कि यह हमसे दूर है या समीप है अर्थात् दूरी होने का ज्ञान दिशा का द्योतक है। दूरी देश वा काल की होती है, इसलिये काल के समान वरे और परे दिशा में भी होता है, परन्तु इन दोनों की दूरी में भेद इतना है कि समय की दूरी सेकेण्ड, मिनट, घण्टा, दिन, महीना और वर्ष आदि की कमीं व अधिकता के कारण, अपेक्षा से गिना जाता है, और दिशा में, मध्य में न्यूनाधिक स्थान के कारण दूरी का अनुमान होता है। दूर परे और वरे का ज्ञान होना ही दिशा का लिंग है और विशेष कारणों के सम्बन्ध

से और भी लिंग होते हैं जिनकी चर्चा आगे होगी। समय और देश के कारण से भी दूर और समीपता के चिन्ह पाये जाते हैं, जैसे रामचन्द्र जी से पाण्डव वरे और हरिश्चन्द्र परे हुये, यहाँ समय के कारण अन्तर पाया गया। ऐसे ही रूस जर्मनी से वरे है, और इङ्गलिस्तान परे है यह दूरी देश के कारण से हैं।

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥११॥

अर्थ जिस प्रकार वायु के परमाणुओं का द्रव्य होना नित्य पाया जाता है, इसी प्रकार दिशा भी द्रव्य है और नित्य है।

प्रश्न– दिशा के द्रव्य और नित्य होंने के क्या प्रमाण हैं?

उत्तर--इसलिये कि दिशा में गुण पाये जाते हैं, और गुण द्रव्य के अतिरिक्त किसी और में रहते नहीं, इसीलिये दिशा को द्रव्य ही मानना ठीक है।

प्रश्न--दिशा में कौन-सा गुण पाया जाता है?

उत्तर--दिशा में परत्व और अपरत्व आदि गुण पाये जाते हैं, जिससे उनका गुण होना सिद्ध हैं।

प्रश्न--दिशा के नित्य होने में क्या प्रमाण है?

उत्तर--इसलिये कि दिशा अपनी सत्ता के लिये किसी अन्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं रखती, इसलिये वह नित्य है, क्योंकि अनित्य वस्तु अपनी सत्ता के लिये दूसरे की अपेक्षा रखती है।

प्रश्न--दिशा एक है वा अनेक?

उत्तर--दिशा एक है।

प्रश्न--इसमें क्या प्रमाण है?

उत्तर--तत्त्वं भावेन ॥१२॥

अर्थ--दिशा का लिंग तो सामान्यतया एक स्थान पर पाया है और विशेषता को प्रकट करने वाला लिंग नहीं पाया जाता, इसलिये दिशा का एक होना सिद्ध है।

प्रश्न--हम बहुत सी दिशायें सुनते हैं, इसलिये दिशा का एक होना ठीक नहीं क्योंकि दस दिशायें तो सब ही मानते हैं।

कार्यविशेषेण नानात्वम् ॥१३॥

अर्थ--यद्यपि दिशा स्वरूप से एक ही है, परन्तु कार्य के होने से अनेक ज्ञात होती हैं। दस दिशायें कार्य के कारण ही कही जाती हैं।

प्रश्न—ऐसा कौनसा कार्य है जिसके कारण दस दिशाओं की गणना होती है? जबकि दिशा नित्य है तो उसके कार्य अनित्य होंगे, उन्हें दिशा कहना ठीक नहीं?

उत्तर—आदित्यसंयोगाद् भूतपूर्वाद् भविष्यतो भूताच्च प्राची ॥१४॥

अर्थ - प्रथम जिस ओर सूर्य निकलता है उसका नाम प्राची है, चाहे यह विचार करके कि कल के दिन इस ओर से सूर्य चढ़ा था चाहे इस समय चढ़ता देखने से चाहे आगे की ओर चढ़ने का ज्ञान होने से, इस ओर का नाम पूर्व है। भूतकाल में सूर्य इस ओर से निकला था, वर्तमान में निकल रहा हैं, और आगे को निकलेगा। तीनों कालों में सूर्य के निकलने के सम्बन्ध से ही इस दिशा का नाम पूर्व है, यदि सूर्य का निकलना न हो, जैसा प्रलयकाल में होता है, तो उस समय प्राची अर्थात् पूर्व दिशा कहना ठीक नहीं होगा, क्योंकि जिस कारण उस दिशा का यह नाम था, उस समय वह कारण ही नहीं, इसलिये कार्य जगत् की अवस्था से ही अनेक प्रकार की दिशाओं का होना सिद्ध होता है। वास्तव में मुख्य दिशा एक ही है।

प्रश्न—प्राची अर्थात् पूर्व दिशा का तो आपने इस प्रकार समाधान कर दिया, परन्तु शेष दिशाओं के लिये क्या कहोगे?

उत्तर—तथा दक्षिणा प्रतीची उदीची च ॥१५॥

अर्थ—शेष दिशाओं के प्रयोग में यही कारण है, अर्थात जिस समय सूर्य के सामने खड़े होते हैं, तो दक्षिण (दायां) हाथ जिस ओर होता है, उसको उपचार से अर्थात दक्षिण हाथ के सम्बन्ध से, दक्षिण कहते हैं और वामहस्त के संयोग से उत्तर कहाता है, और जिस ओर पीठ होती है, उसके पीछे होने से, उसको पश्चिम कहते हैं। फलतः यह चारों दिशायें सूर्य की ओर देखने से काम में लाई जाती हैं। विना सूर्य इनमें भेदोत्पत्ति नहीं हो सकती।

इन चारों दिशाओं को तो इस प्रकार माना, शेष कैसे सिद्ध करोगे ?

उत्तर—एतेन दिगन्तरालानि व्याख्यातानि ॥१६॥

अर्थ--कोणों की ओर जो दिशायें हैं उनका व्यवहार भी इस सूर्य की ओर देखने से सिद्ध होता है, क्योंकि सूर्य की ओर जो दृष्टि करेगें उससेजो रेखा उत्पन्न होगी और दक्षिण हाथ की ओर जो रेखा उत्पन्न होगी उनमे एक समकोण बन जावेगा, जब उस समकोण में भाग दिया जावेगा तो पूर्व और दक्षिण कोण उत्पन्न होगा। जब छिपने के समय सूर्य की ओर दृष्टि करेंगे तो उससे जो रेखा उत्पन्न होगी और जो दायें हाथ की ओर रेखा जावेगी और उससे जो समकोण उत्पन्न होगा उसके भाग से उत्तर पश्चिम कोण उत्पन्न होगा। इसी प्रकार दो कोण बायें से पैदा हो जावेंगे। दोपहर के समय सूर्य की ओर देखने से उसके विरुद्ध नीचे की दिशा का ज्ञान हो जावेगा। इसलिए दिशा के ये विभाग तो सूर्य की गति और सम्बन्ध के कारण हैं। यहां तक दिशा का विचार समाप्त हुआ। अब आकाश के गुण शब्द की परीक्षा करते हैं।

सामान्यप्रत्यक्षात् विशेषाप्रत्यक्षाद् विशेषस्मृतेश्च संशयः ॥१७॥

अर्थ---किसी विषय की परीक्षा करने में जब तक संशय का होना न पाया जावे तब तक परीक्षा नहीं हो सकती, इसलिए ऋषियों ने सिद्धान्त कर दिया है कि न तो, निस्सन्देह ज्ञान हो जावे, उसकी परीक्षा की जाती है और न ही उसकी परीक्षा होती है, जिसका कुछ भी ज्ञान न हो जिसका सन्दिग्ध ज्ञान हो उसकी परीक्षा हुआ करती है इसलिए परीक्षा से पूर्व उसके सबसे बड़े भाग संशय का जानना आवश्यक है। इसलिये शब्द की परीक्षा से पहिले ही उसमें उत्पन्न होने वाले संशय का लक्षण करते हैं क्योंकि शब्द के विशेष में सर्व सम्मति के न होने से संशय उत्पन्न होता है। को शब्द को द्रव्य मानतें हैं। जैसे आज कल के कबीर पन्थी और राधा स्वामी मत वाले शब्द से जगत् की उत्पत्ति मानने के लिए शब्द कोई द्रव्य ही मानते हैं। इसी प्रकार पहिले भी मनुष्यों का विचार था कि शब्द द्रव्य हैं। कतिपय आचार्य इसको गुण ही मानते हैं और नित्य भी मानते हैं। बहुत से अनित्य जानते हैं इसलिए शब्द के नित्य वा अनित्य होने में भी संशय हैं।

प्रश्न--संशय किसको कहते हैं?

उत्तर--सामान्य गुण के प्रत्यक्ष होने और विशेष गुण के प्रत्यक्ष न होने पर विशेष गुण के स्मरण होने पर, संशय उत्पन्न होता है।

प्रश्न---विशेष किसको कहते हैं?

उत्तर---जो एक दूसरे से पृथक कर दे जैसे दूर से ठूंठ को देखने से लम्बाई आदि गुण जो मनुष्य के साथ मिलने से सामान्य है, और सिर पैर और मुख आदि गुण के प्रत्यक्ष न होने से यह संशय उत्पन्न होता हैं कि वह मनुष्य है या स्थाणु

(ठूंठ) ? क्योंकि मनुष्य को अपने गुण सिर पैर वाला होने की याद तो आती है किन्तु सिर पैर सा प्रत्यक्ष नहीं होता और ठूंठ के सामान्य गुणों का ज्ञान होता है परन्तु सिर पैर का न होना भी प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये दोनों के विशेष गुण के याद आने से और प्रत्यक्ष न होने से संशय उत्पन्न होता है। आशय यह है कि जहाँ दोनों ओर की प्रतिज्ञायें एक-सी प्रतीत हों, वहां संशय उत्पन्न होगा।

प्रश्न - देखी हुई वस्तु में तो संशय हो सकता है, परन्तु आत्मा आदि अदृष्ट पदार्थों में क्यों संशय उत्पन्न होता है ?

उत्तर दृष्टं च दृष्टवत् ॥१८॥

अर्थ - संशय दो प्रकार का होता है। एक बाह्य पदार्थों में, दूसरा आभ्यन्तर पदार्थों में। बाह्य पदार्थों में जो संशय होता है वह भी दो प्रकार का है। एक वह जिसके धर्म अथवा गुण को देखते हैं। दूसरे वह जिसके विशेष लक्षणों को नहीं देखते। उदाहरणार्थ जैसे ऊंचे ठूंठ को देखकर यह विचार करते हैं कि यह ठूंठ है या आदमी। दूसरे जहां जंगल की झाड़ियों में गाय वा नील गाय के सींग देखने से यह सन्देह उत्पन्न होता है कि यह गाय हैं या नील गाय? वास्तव में वहाँ भी सींग ही में सन्देह होता है कि यह गाय के सींग हैं वा नील गाय के ? अभिप्राय यह है कि एक स्थल में तो सम्पूर्ण धर्मवाली को देखकर, सामान्य लक्षण का ज्ञान होने और विशेष धर्म का ज्ञान न होने से सन्देह होता है दूसरे स्थान पर इस केवल एक-एक के प्रत्यक्ष होने से सम्पूर्ण न देखने से सन्देह होता है, क्योंकि सामान्य धर्म अथवा लक्षण बहुतों में पाया जाता है।

यथा दृष्टमयथादृष्टत्वाच्च ॥१९॥

अर्थ--जैसे देखने से सन्देह होता है वैसे ही न देखने से भी सन्देह होता है। जैसे पहले किसी मनुष्य को दाढ़ी मूंछ और

सिर पर बाल रक्खे देखा था, अन्य समय दाढ़ी मूंछ और बालों को न देखकर भी संशय होता है। या किसी मनुष्य का सिर ढका हुआ देखकर यह विचार होता है कि अमुक मनुष्य है, उसके सिर पर बाल हैं या नहीं ? उस स्थान पर भी अमुक मनुष्य है, उसके सामान्य धर्म का ज्ञान ही संशय का कारण है। अब आभ्यन्तर वस्तुओं में जो सन्देह उत्पन्न होता है उसका कारण बताते हैं।

विद्याऽविद्यातश्च संशयः ॥२०॥

अर्थ—आभ्यन्तर वस्तुओं में संशय विद्या और अविद्या के कारण होता है। जैसे किसी ज्योतिषी को यह ज्ञान हो कि सूर्यग्रहण होगा, परन्तु यह ज्ञान न हो कि किस समय होगा, किस दिन वा मुहूर्त में होगा ? तो उसको यह सन्देह हो सकता है कि उस समय ग्रहण होगा या नहीं ? अथवा अपनी सत्ता को सब जानते हैं, परन्तु यह ज्ञान न होना कि रुधिर की गति ही जीवात्मा है ? वा इसके अतिरिक्त कोई अभौतिक जीवात्मा है। ऐसे ही मन का होना तो ज्ञात है, परन्तु यह सन्देह हो सकता है कि मन भौतिक है या अभौतिक और नित्य हैं या अनित्य ? जड़ है वा चैतन्य ? इसी प्रकार बुद्धि द्रव्य है वा गुण, नित्य है वा अनित्य ? यदि गुण है तो जीवात्मा का स्वाभाविक गुण हैं, यदि नैमित्तिक है तो किस सम्बन्ध से उत्पन्न हो गया है ? इसी प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार की वस्तुओं में संशय होना सम्भव है।

अब शब्द विषयक परीक्षा आरम्भ करते हैं—

श्रोत्रग्रहणो योऽर्थः स शब्दः ॥२१॥

अर्थ—जिस अर्थ को कान ग्रहण करते हैं वह शब्द है। आशय यह है कि मधुर शब्द मन को प्रसन्न करता है और कठोर शब्द

दुःखी करता है इसलिये शब्द भी सुख दुःख का कारण है। इस सुख दुःख के कारण का ग्रहण कान के अतिरिक्त और किसी से नहीं हो सकता। इसलिये यही लक्षण बताया कि जो कान से ग्रहण हो वह शब्द है।

प्रश्न--शब्द के विषय में क्या सन्देह है जो उसकी परीक्षा की जावे ?

उत्तर—तुल्यजातीयेष्वर्थान्तरभूतेषु विशेषस्य उभयथा दृष्टत्वात् ॥२२॥

अर्थ—शब्द कान से सुने जाने से गुण प्रतीत होता है, जैसे और इन्द्रियों के विषय रूप आदि हैं। आशय यह है कि जिस प्रकार रूप, रस आदि गुण इन्द्रियों से ग्रहण किये जाते हैं वैसे ही शब्द भी इन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है और हलका भारी शब्द होने से, उन गुणों का आश्रय होने से द्रव्य प्रतीत होता है, क्योंकि उसमें गुण पाये जाते हैं, इसीलिये यह सन्देह उत्पन्न होता है कि शब्द द्रव्य है या गुण ?

प्रश्न—जबकि शब्द सामान्य रीति पर कान से सुना जाता है तो उसमें संशय ही क्यों हो सकता है ?

उत्तर---संशय उत्पन्न करने वाला सामान्य धर्म का ज्ञान होना और विशेष धर्म का ज्ञान न होना बता चुके हैं, इसलिये साधारणतया शब्द के सुने जाने से उसकी सत्ता का तो ज्ञान होता है इसलिये शब्द के होने में तो कोई सन्देह नहीं, किन्तु इस बात में सन्देह है कि शब्द द्रव्य है या गुण है या कर्म है ? अगले सूत्र में सिद्ध करते हैं कि शब्द गुण है।

एकद्रव्यत्वान्न द्रव्यम् ॥२३॥

अर्थ---शब्द एक द्रव्य से उत्पन्न होता है, एक द्रव्य में रहने

वाला है, इसलिये शब्द द्रव्य नहीं हो सकता, क्योंकि द्रव्य-द्रव्य के सहारे नहीं हो सकता और न कोई कार्य द्रव्य एक द्रव्य से उत्पन्न हो सकता है किन्तु कार्य द्रव्य, सदैव दो द्रव्यों से मिलकर उत्पन्न हो सकता है। आजकल के साइन्स के ज्ञाता जो औक्सीजन आदि वायु को, गैस आदि के रूप में लाकर, तत्त्व मान लेते हैं उनका भी खण्डन इस सूत्र से हो जाता है। आशय यह है कि यदि एक ही वस्तु के परमाणुओं को मिलाकर कोई कार्य द्रव्य बनाना चाहें तो बना नहीं सकता केवल तत्त्व (एलिमेण्ट) परमाणु (एटम) की अवस्था में हो सकते हैं, इसमे स्थूल अवस्था में संयुक्त होंगें। जब किसी में गुण होता है और एक द्रव्य का आश्रय रहता है, इसलिये गुण है, द्रव्य नहीं। कर्म होने का खण्डन अगले सूत्र मे करते हैं :--

नापि कर्माचाक्षुषत्वात् ॥२४॥

अर्थ---कर्म आंखों से देखा जाता है और शब्द कान से सुना जाता है आँखों से देखा नहीं जाता इसलिये कर्म भी नहीं है।

प्रश्न---कर्म आंखों से नहीं देखा जाता ?

उत्तर---जो वस्तु निष्क्रिय थी उसको क्रिया करते आंखों से देखते हैं। अतः क्रिया आंखों से देखी जाती हैं। जितने कर्म हैं सभी आंखों से देखे जाते हैं, चाहे नीचे गिरें चाहें ऊपर उठें। जबकि शब्द आंखों से नहीं देखा जाता, इसलिये कर्म नहीं हो सकता।

गुणस्य सतोपवर्गः कर्मभिः साधर्म्यम् ॥२५॥

अर्थ---यद्यपि कर्म के समान शब्द शीघ्र नाश होने वाला है, परन्तु कर्म नहीं, किन्तु यह गुण कर्म के समान है।

प्रश्न---कर्म के अतिरिक्त गुणों का शीघ्र नाश होना सम्भव नहीं है। अतः शब्द गुण नहीं।

उत्तर---बहुत से गुण भी शीघ्र नष्ट होते हैं, जैसे एक मिनट में तो सुख का ज्ञान था दूसरे मिनट में दुःख का ज्ञान हो गया, मानों पूर्व ज्ञान का नाश होकर दूसरा उत्पन्न हो गया इसलिए यह बात नियत नहीं कि कर्म का ही शीघ्र नाश होता है। शब्द गुण और कर्म में इतना साधर्म्य है कि दोनों शीघ्र नाश होने वाले हैं।

प्रश्न---शब्द नित्य है या अनित्य ?

उत्तर--सतो लिङ्गाभावात् ॥२६॥

अर्थ---शब्द सत् (नित्य) नहीं है क्योंकि यदि शब्द नित्य होता तो कहने से पूर्व भी उसकी विद्यमानता का कोई लिंग होता ऐसा कोई भी लिंग नहीं जिससे कहने और सुनने से पूर्व शब्द का होना ज्ञात हो सके। इसलिये शब्द की विद्यमानता में कोई लिंग न होने से ज्ञान होता है कि कहने से पूर्व शब्द विद्यमान नहीं।

प्रश्न--शब्द आकाश का गुण है, और आकाश नित्य है इसलिये उसका गुण शब्द भी नित्य हो सकता है, इसलिसे शब्द से आकाश होने का प्रमाण नहीं मिलता, क्योंकि यदि शब्द आकाश का कार्य होता तो उससे अनुमान हो सकता था गुण से अनुमान नहीं हो सकता।

उत्तर---शब्द उत्पन्न होता है अतः नित्य नहीं, इसलिये वह आकाश का लिंग हो सकता है क्योंकि विना अकाश के शब्द की उत्पत्ति हो नहीं सकती। शब्द के अनित्य होने में और भी हेतु देते हैं।

नित्यवैधर्म्यात् ॥२७॥

अर्थ---नित्यशब्द के गुणों में विरोध है इसलिये शब्द अनित्य है।

प्रश्न---शब्द नित्य है, क्योंकि उसमें बार-बार लौटना (आवृत्ति) पाया जाता है, कहने से तो केवल उसका प्रत्यक्ष होता है, उत्पत्ति नहीं होती।

उत्तर---देवदत्त कहता है उसी को यज्ञदत्त कहता है इस प्रकार के लौटने से उन दोनों के शब्द एक जाति वाले होने से गुणों में समान हैं। वही शब्द होने का भ्रममात्र है वास्तव में उत्पन्न होने वाला होता है, क्योंकि प्रकाश प्रकाशक के द्वारा होता है। जैसे घर में घड़ा हो परन्तु अन्धेरे के कारण प्रकट न हो तो दीपक आ जाने से वह प्रकट हो जावेगा परन्तु दीपक बनाने का काम कुम्हार से होगा। इसलिये शब्द कहने वाले से उत्पन्न होता है न कि प्रकट होता है। उसके अनित्य होने में और भी हेतु देते हैं।

अनित्यश्चायं कारणतः ॥२८॥

अर्थ शब्द कारण से उत्पन्न होता है, इसलिये वह कार्य होने से अनित्य है।

प्रश्न---शब्द की उत्पत्ति का कारण क्या है ?

उत्तर---नगाड़े पर चोट लगाने से शब्द उत्पन्न होता है, बांसुरी में फूंक मारने से शब्द उत्पन्न होता है, ऐसे ही किसी न किसी प्रकार के कर्म करने से ही शब्द उत्पन्न होता है।

प्रश्न---हम इस संयोग से उत्पत्ति नहीं मानते किन्तु प्रकट होना मानते हैं।

उत्तर---न चासिद्धं विकारात् ॥२९॥

अर्थ---शब्द का उत्पन्न होने वाला होना सत्य है, किन्तु प्रकट होने वाला मानना चाहिये वह सत्य नहीं, क्योंकि विकार से शब्द का उत्पन्न होने वाला होना सिद्ध होता है। यथा--- नगाड़े पर जोर से चोट लगायें तो उच्च शब्द निकलेगा और

हलकी लगायेंगे तो हलका शब्द निकलेगा। ऐसे ही प्रत्येक शब्द के कारण की अवस्था उत्पन्न होने वाली होने में तो ऐसे विकार हो सकते हैं किन्तु प्रकट होने में ऐसे विकार नहीं हो सकते। इसलिये उत्पन्न होने वाला ही मानना चाहिये प्रगट होने वाला नहीं, क्योंकि कारण के विकार से कार्य में विकार आने से स्पष्ट अनुमान होता है कि शब्द कारण से उत्पन्न होता है न कि प्रकट होता है।

प्रश्न यह प्रगट होने का लक्षण है कि वह उच्च वा मन्द होता है, जैसे पंखे आदि के कारण वायु भी तीव्र वा मन्द हो जाती है।

उत्तर—अभिव्यक्तौ दोषात् ॥३०॥

अर्थ-यदि शब्द का उत्पन्न न होना मानकर केवल प्रकट होना माना जावे तो उसमें यह दोष होगा कि दोनों एक देश में रहने वाले अभिव्यंजक* और अभिव्यंग्य होंगे परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता कि अभिव्यंजक और अभिव्यंग्य दोनों एक देश में रहते हों और नियत हों, यदि तुम नियत अभिव्यंजक और अभिव्यंग्य मानोगे तो 'क' की अभिव्यक्ति से सम्पूर्ण वर्णों की अभिव्यक्ति (प्रकाश) होगी।

प्रश्न—एक ही देश में रहने वालों में भी अभिव्यंजक और अभिव्यंग्य सम्भव हैं, जैसे एक ही मनुष्य में सत्ता, मनुष्यत्व और ब्राह्मणत्व रहते हैं और ब्राह्मणपन उसी शरीर में रहता हुआ, अभिव्यंजक है। ब्राह्मण के बतलाने के लिये ब्राह्मणत्व ही अभिव्यंजक नियत है और ये दोनों एक ही शरीर में रहते हैं।

उत्तर--उनमें एक स्थान पर रहने वाला नहीं पाया जाता,

---

* अभिव्यक्ति के कारण का नाम अभिव्यंजक और अभिव्यक्ति वाले का नाम अभिव्यंग्य है।

क्योंकि जितने स्थान पर सत्ता रहती है उतने ही स्थान पर मनुष्यत्व नहीं रहता, क्योंकि सत्ता तो सारी वस्तुओं में रहेगी और मनुष्यत्व केवल मनुष्यों में रहेगा ऐसे ही ब्राह्मणत्व केवल ब्राह्मणों में रहेगा और मनुष्यत्व सारे मनुष्यों में रहेगा। इसलिये शब्द में अभिव्यंजक और अभिव्यंग्य होने का दोष असिद्ध है।

संयोगाद्विभागाच्च शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः ॥३१॥

अर्थ—शब्द की उत्पत्ति तीन प्रकार से होती है संयोग, विभाग और शब्द से भी जैसे नगाड़े और चोट के संयोग से शब्द उत्पन्न होता है, परन्तु जहाँ वृक्ष के टूटने, बाँस के कटने आदि से शब्द उत्पन्न होता है। उसका कारण संयोग नहीं होता, वहाँ विभाग से शब्द उत्पन्न होता है। जहाँ दूर से वंशी की ध्वनि आती है, वहाँ संयोग-विभाग दोनों के न होने से शब्द से शब्द की उत्पत्ति होती है।

प्रश्न—जब शब्द, इस प्रकार तीन कारणों से उत्पन्न होता है तो वह आकाश का गुण किस प्रकार कहला सकता है ?

उत्तर—ये शब्द के असमवायि कारण हैं, और आकाश समवायि कारण है। जबकि गुण और गुणी में भी समवायि सम्बन्ध रहता है, इसलिये आकाश में यह सम्बन्ध विद्यमान है, केवल कार्य रूप शब्द की उत्पत्ति की चर्चा है, कारण रूप शब्द तो आकाश का गुण है ही। शब्द के अनित्य होने में और भी हेतु देते हैं।

लिङ्गाच्चानित्यः शब्दः ॥३२॥

अर्थ—जिस प्रकार वंशी आदि शब्द उत्पत्ति धर्मा (उत्पन्न होने वाला) होने से अनित्य है वैसे ही वर्णात्मक भी अनित्य ही हैं, क्योंकि कान से सुना जाना दोनों शब्दों में समान होने से कानों की जाति एक ही है। जिस जाति में जो गुण होता है वह

उसके प्रत्येक व्यक्ति में होता है, क्योंकि शब्द उत्पन्न होता है और कान से सुना जाता है, ऐसे ही अर्थवत् शब्द (व्यक्त शब्द) उत्पन्न होने वाले और अनित्य हैं, अब उपर्युक्त सिद्धान्तों के सूत्रों को, शब्द को नित्य मानने वाला, दूषित बताकर, खण्डन करता है ।

द्वयोस्तु प्रवृत्त्योरभावात् ॥३३॥

अर्थ – शब्द अनित्य नहीं हो सकता, क्योंकि जब गुरु अपने शिष्य को विद्या का दान करता है, और दान उसी वस्तु का होता है जो स्थायी हो, यदि शब्द स्थायी न हो तो गुरु की शिष्य के पढ़ाने में प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिये शब्द को ठहरने वाला मानना पड़ेगा न कि बोलने से पैदा होने और बोलने के उपरान्त ही नाश होने वाला, अगर बोलने के उपरान्त ठहरने वाला माना जावे तो उसका नित्य होना सिद्ध होगा ।

प्रश्न कुछ देर तक ठहरने से नित्य कैसे होगा ?

उत्तर—अगर गुरु के कहने के उपरान्त कुछ देर तक ठहरने वाला मान लिया जावे तो उसके नाश का कोई कारण प्रमाणित नहीं होता जिससे उसका नाश होना सिद्ध हो । जिसका नाश न हो वह नित्य है ही । इस पर और हेतु देते हैं---

प्रथमाशब्दात् ॥३४॥

अर्थ---वेद में यज्ञ के प्रकरण में अग्नि जलाने में जो ऋचायें पढ़ी जाती हैं, उनमें कहा है कि तीन बार प्रथमा को पढ़ा जावे और तीन बार उत्तमा को पढ़ा जावे‡ यदि शब्द ठहरने वाला न हो तो प्रथमा और उत्तमा ठहर ही नहीं सकतीं, तो प्रत्येक यज्ञ में उनके पढ़ने का उपदेश कैसे हो सकता है ? क्योंकि शब्द के नित्य न होने से उसका तीन बार पढ़ना असम्भव है, किन्तु प्रत्येक बार नये शब्द

‡ तासां त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम् (ऐ० ब्रा० ३। ३)

की उत्पत्ति होगी। एक बार पढ़ना नहीं होगा क्योंकि वह शब्द तो पढ़ने के उपरान्त नष्ट हो गया, जो नष्ट होगया उसका पुनः होना किसी प्रकार सम्भव नहीं अर्थात् शब्द को नित्य ही मानना चाहिये। इस पर और हेतु देते हैं---

सम्प्रतिपत्तिभावाच्च ॥३५॥

अर्थ---शब्द की पहिचान होने से भी शब्द का नित्य होना सिद्ध है अर्थात् शब्द के पुनः याद आने से जैसे कहा जाता है कि देवदत्त ! वही श्लोक पढ़ो जो पहिले विष्णुमित्र ने पढ़ा था। इस प्रकार की स्मृति उसी अवस्था में सम्भव है जबकि शब्द को बोलने के उपरान्त भी ठहरने वाला माना जावे, क्योंकि किसी वस्तु के स्थिर हुये बिना कैसे कह सकते हैं कि वही चीज है। प्रायः कहा जाता है कि यह वही कहानी है जो पहिले अमुक मनुष्य ने कही थी। दो मनुष्यों के कथन में समानता होने से शब्द का नित्य होना सिद्ध होता है। अब सूत्रकार ने शब्द के नित्य होने में जितने हेतु दिये हैं. उन सबका खण्डन करते है—

सन्दिग्धः ॥३६॥

अर्थ—शब्द बहुत होते हैं, अतः उनका नित्य मानना सिद्ध नहीं हो सकता किन्तु संदिग्ध है क्योंकि जो युक्तियां शब्द के नित्य होने में दी गई हैं, वे अनित्य वस्तुओं में भी पाई जाती हैं। काश्यपि आचार्य कहते हैं कि विरुद्ध, संदिग्ध और असिद्धों में भी ये बातें पाई जाती हैं जो तीन हेतु हैं कि गुरु का शिष्य को पढ़ाना, शब्द का द्वितीय वार याद आना और शब्द का बार-बार कहना, ये तीनों हेतु अनित्य कर्म में पाये जाने से संदिग्ध हैं जैसे यह कहते हैं कि नाचना सीखता है, नाच का अभ्यास करता है, वह पाँच बार नाचा। गोकुल उसी प्रकार

नाचता है जैसे रामप्रसाद। इन कर्मों को भी नित्य मानना पड़ेगा। जबकि कर्म नित्य नहीं हो सकता, इसलिये शब्द को नित्य कहना ठीक नहीं।

प्रश्न- यदि शब्द नित्य न हो तो अक्षरों का नियत होना, जैसे ६३ अक्षर हैं फिर उनके छन्दों का नियत होना आदि कैसे हो सकता हैं ? इसलिये संख्या नियत होने से शब्द को नित्य ही मानना चाहिये, वरना अनन्त अक्षर मानने पड़ेंगे।

उत्तर—सति बहुत्वे संख्याभावः सामान्यतः ॥३७॥‡

अर्थ संख्या का नियम जाति के अभिप्राय से है। चाहे अक्षर अनन्त हों परन्तु उनमें स्थान के भेद से इतनी जाति हैं ६३ अक्षर नहीं। चाहे एक लक्ष 'क' हो परन्तु वे उस जाति में सम्मिलित होने से एक हो सकते हैं। जैसे एक मोर को देखने के उपरान्त प्रत्येक मोर को देखने से कहते हैं कि मोर आया। इसी प्रकार अक्षरों को विचारना चाहिये। यद्यपि द्रव्य असंख्य हैं। परन्तु जाति के सम्बन्ध से ९ कहे जाते हैं। वैसे ही गुण भी अनेक हैं परन्तु २४ प्रकार के भेद किये गये हैं। ऐसे ही असंख्य अक्षर नियमित जाति में सम्मिलित किये गये हैं, इसलिये इस संख्या से शब्दों का नित्य होना सिद्ध नहीं होता।

प्रश्न--वर्णों असमवाय अक्षरों को अनित्य कहना ठीक नहीं, क्योंकि प्रायः कहते हैं कि यह वही "ग" है, इस स्मृति से "ग" का नित्य होना सिद्ध है।

उत्तर--यह वही "ग" हैं, यह केवल जातित्व से कहा जाता है, उसमें अन्तर होता है, कोई मन्द आवाज से बोला जाता है कोई तीव्रता से।

---

‡ संदिग्धाः सति बहुत्वे ॥३६॥ संख्याभावः सामान्यतः ॥३७॥ इति पाठः।

प्रश्न--यह अन्तर वास्तव में आवाज में नहीं होता, किन्तु यह तो नैमित्तिक कारणों से प्रतीत होता है। जैसे किसी हीरे पर फूल की छाया पड़ने से हीरा उस रंग का प्रतीत होता है।

उत्तर--पहिले यह सोचना चाहिये कि मन्द और तीव्र होना किसका गुण है? हवा का, नाद का, अथवा ध्वनि का। यदि कहो वायु का तो भी सम्भव नहीं, क्योंकि वायु एक-सी चलने वाली है, किसी के कहने से उच्च होता है। ऐसे ही नाद और ध्वनि का गुण नहीं हो सकता। इसलिये "ग" उत्पन्न हुआ है। "ग" नष्ट होगया। ऐसा सुनने से ऐसा निश्चय होता हैं कि वर्ण भी उत्पन्न होने वाले हैं इसलिये अनित्य हैं।

वैशेषिक दर्शन भाषानुवाद का दूसरा अध्याय समाप्त हुआ

ओ३म्

वैशेषिक दर्शन भाषानुवाद

तृतीय अध्याय, प्रथम आह्निक

प्रसिद्धा इन्द्रियार्थाः ॥१॥

अर्थ---इन्द्रिय के विषय प्रसिद्ध हैं, अर्थात् आँख रूप को ग्रहण करती है, कान शब्द को ग्रहण करते हैं, रसना रस को ग्रहण करती है, नाक गन्ध को अनुभव करती है और त्वचा स्पर्श को बताती है। प्रत्येक इन्द्रिय जिस तत्त्व की अधिकता से उत्पन्न होती है उसी तत्त्व के गुणों को ग्रहण करती है इसलिये इन्द्रियों के विषय प्रसिद्ध और नियत है। कोई मनुष्य रूप को बिना आँख के नहीं देख सकता, कोई मनुष्य रस को बिना जिह्वा के नहीं चख सकता, ऐसे ही त्वचा के बिना मनुष्य उष्ण, शीत, कठोर और कोमल को नहीं पहिचान सकता, गन्ध को बिना नाक के नहीं जान सकता और कान के बिना शब्द का ज्ञान नहीं हो सकता। जो इन्द्रिय बिगड़ जाती है, उसके विषय का ज्ञान जीवात्मा को नहीं हो सकता, जैसे अन्धे को रूप का ज्ञान, बहरे को शब्द का ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार सारी इन्द्रिय और उनके विषयों की व्यवस्था प्रसिद्ध है। इसके विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है।

इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः ॥२॥

अर्थ---इन्द्रिय और उसके अर्थों का नियमित होना और प्रसिद्ध होना इन्द्रियों के स्वामी को सिद्ध करता है अर्थात् इन्द्रियों से पृथक है जो उनके विषयों से परिणाम निकलता है। जैसे आँख एक पदार्थ को देखती है तो उसी वस्तु को हाथ उठाता है, यदि आँख से पृथक कोई शक्ति न हो तो आँख की देखी हुई वस्तु का हाथ को कैसे ज्ञान हो जिससे वह उठावे। जिस स्थान को हम कान से सुनते हैं, पाँवों से उस ओर चल देते हैं। यदि कान से पृथक कोई शक्ति न हो तो कानों से सुने हुये मार्ग का पाँवों को कैसे ज्ञान हो? इसलिये सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रियों के विषयों को जानने वाले एक आत्मा की सिद्धि होती है जो ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान प्राप्त करके उसके अनुकूल कर्मेन्द्रियों से काम लेता है। इन्द्रिय जिस जानने वाले या कर्म करने वाले के कारण (साधन) हैं, वह उनके विषयों के नियत होने से, उनके पृथक सिद्ध होता है जो इन साधनों से काम लेता है।

प्रश्न---इस नियम और प्रसिद्धि का कारण शरीर है, जिसकी इन्द्रियां अवयव हो सकती हैं, इनसे पृथक कोई आत्मा नहीं है क्योंकि इन्द्रिय वा शरीर से ज्ञान होना देखते हैं। विना शरीर के ज्ञान व कर्म दोनों नहीं होते इसलिये शरीर से पृथक किसी आत्मा के मानने की आवश्यकता नहीं।

उत्तर—सोऽनपदेशः ॥३॥

अर्थ--इन नियमित विषयों के प्रसिद्ध होने का आश्रय शरीर नहीं, अर्थात् ये शरीर के सहारे नहीं रहते, जो दोनों प्रकार अर्थात् अनुकूल और प्रतिकूल युक्तियों से प्रमाणित नहीं हो सकते, क्या ज्ञान शरीर का गुण है? उसका कार्य होने से, उसके रूप आदि के समान इन्द्रियों का गुण हो सकता है। इस

सन्देह को दूर करते हैं कि शरीर का कार्य ज्ञान नहीं, इसलिये यह युक्ति नहीं किन्तु प्रमाणाभास है, जो अज्ञानियों को भूल से प्रमाण विदित होता है ।

प्रश्न– नहीं, ज्ञान शरीर का ही कार्य है, क्योंकि शरीर के बिना कभी ज्ञान नहीं होता ।

उत्तर—कारणाज्ञानात् ॥४॥

अर्थ शरीर का कारण जो पृथ्वी, अप्, तेज और वायु आदि है अथवा शरीर के अवयव जो हस्तपादादि हैं, उनमें ज्ञान की प्रतीति नहीं होती । जो गुण उपादान कारण में होते हैं वही कार्य में होते हैं, शरीर के कारण में ज्ञान न होने से शरीर में गुण का ज्ञान होना सिद्ध नहीं होता ।

प्रश्न–शरीर के कारण पृथ्वी और जलादि में ज्ञान विद्यमान है ?

उत्तर--शरीर के अनेक कारण हैं, और उन सब में चेतन होने वाला ज्ञान विद्यमान है, तो बहुत सी चेतन वस्तुओं का एक ही मत असम्भव है और अवयवों को जो चेतन मान लिया जावे तो हाथ कट जाने पर हाथ से जितने कर्म हुए थे वे याद नहीं आने चाहिये, क्योंकि दूसरे के ज्ञान को दूसरा नहीं याद कर सकता और शरीर के नाश होने के उपरान्त शरीर के किये हुये कर्मों का शुभाशुभ फल नहीं होना चाहिये, जो योनि आदि के भेदों से प्रतीत होता है । यदि सुख दुख आकस्मिक माने जावें, और इनके कारण पिछले जन्म के कर्म न माने जावें तो बिना कारण के कोई कार्य होता ही नहीं, इससे यह मानना ठीक नहीं होगा । यदि कहो कि आकस्मिक भोग होना भी मान लो तो किये हुये का फल पाना यह दोष उत्पन्न होगा, जिससे सारे शुभ कर्मों का लोप हो जावेगा, क्योंकि उनके मूल की ही स्थिति नहीं रहेगी । इसलिये शरीर के कारणों मे चेतनता न

होने से ज्ञान शरीर का गुण नहीं हो सकता।

प्रश्न---नहीं, शरीर के मूल कारणों में सूक्ष्म ज्ञान है जो स्थूल शरीर में प्रकट हो जाता है, इसलिए कारण के गुण के अनुसार ही कार्य में गुण आते हैं ?

उत्तर--कार्येषु ज्ञानात् ॥५॥

अर्थ–यदि शरीर के मूल कारण परमाणुओं में ज्ञान होता तो उनसे बने हुए घर आदि में चेतनता पाई जाती। जिस प्रकार मिट्टी के गुण प्रत्येक पार्थिव पदार्थ में पाये जाते हैं ऐसे ही चेतनता भी पाई जानी चाहिये, किन्तु उनका चेतन होना किसी प्रकार भीं नही पाया जाता, इसलिये शरीर के कारण परमाणुओं में चेतनता नहीं, परन्तु शरीर में चेतनता पाई जाती है जिससे पता लगता है कि शरीर पृथक कोई चेतन शक्ति है। जिस प्रकार उष्ण जल में जल का गुण उष्णता न होने से यह अनुमान होता है कि गर्मी का गुण नैमित्तिक है जो अग्नि के संयोग से प्रतीत होता है। इसी प्रकार शरीर में चेतनता आत्मा के संयोग से पाई जाती है जिस वस्तु में आत्मा नहीं उसमें चेतनता भी नहीं।

प्रश्न---आत्मा सर्व व्यापक है, इसलिये उसके गुण चेतनता आदि भी प्रत्येक वस्तु में होने चाहिये ?

उत्तर–आत्मा दो हैं, एक शरीर में व्यापक होने से जीवात्मा दूसरा जगत् में व्यापक होने से परमात्मा। परमात्मा के सम्पूर्ण ज्ञान आदि स्वाभाविक होने से कोई नैमित्तिक न होने से सर्वत्र एक समान कार्य हो रहा है जिससे चेतनता का ज्ञान सर्वत्र नहीं हो सकता। परन्तु जीवात्मा के एक शरीर में व्यापक और परिच्छिन्न होने से उसमें

नैमित्तिक गुण ज्ञानादि का दूसरे कारणों से होना सम्भव है, इसलिये विशेष चेतन के ज्ञान आदि चेष्टा का यह यहां विवाद है ?

प्रश्न घड़े आदि में भी सूक्ष्म ज्ञान विद्यमान है, परन्तु प्रतीत नहीं होता क्योंकि स्थूल वस्तु ही दीखा करती है।

उत्तर— अज्ञानाच्च ॥६॥

अर्थ---घड़े आदि में ज्ञान नहीं क्योंकि न तो प्रत्यक्ष प्रमाण से घड़े में ज्ञान पाया जाता है और न ही अनुमान से उसका ज्ञान होता है। उपमान प्रमाण से कुछ पता नहीं लगता, कोई शब्द प्रमाण भी ऐसा नहीं जो घड़े आदि जड़ वस्तुओं को चेतन बतावे।

प्रश्न--क्या प्रमाणों से सिद्ध न होने पर किसी वस्तु की सत्ता का इन्कार हो सकता है ? नहीं क्यों कि बहुत सी वस्तु ऐसी हो सकती है जिनके होने में कोई प्रमाण नहीं।

उत्तर---प्रत्येक वस्तु की सत्ता प्रमाणों से जानी जाती है जिसकी सत्ता का सारे हीं प्रमाण अभाव बतलावें, उसकी सत्ता किसी प्रकार नहीं मानी जा सकती। यदि बिना प्रमाण से जानी हुई सत्ता को स्वीकार करने लगें तो शशशृंग (खरगोश) के शींग, वन्ध्या का पुत्र और अकाश के फूल भी जो असम्भव पदार्थ हैं सम्भव हो जावेंगे जिससे झूठ सच की पहचान ही जाती रहेगी। इसलिये सत्ता का ज्ञान सम्पूर्ण प्रमाण में से किसी से न हो, उसका अभाव ही मानना चाहिये।

प्रश्न---आँख, नाक, कान आदि इन्द्रियों से आत्मा का अनुमान नहीं हो सकता क्योंकि कान आदि न तो आत्मा के कार्य हैं, न तादात्म्य सम्बन्धों के विना यह सिद्ध नहीं हो सकता कि एक के विना दूसरा न हो सके तब तक अनुमान किस प्रकार हो सकता है !

उत्तर—अन्यदेव हेतुरित्यनपदेशः ॥७॥

अर्थ---जो हेतु किसी सत्ता के प्रमाण के लिये दिया जाता है वह उस वस्तु से पृथक होता है। यदि आत्मा का तादात्मय सम्बन्ध पाया जाता तो वह हेतु हो नहीं सकता, क्योंकि वह अभी स्वयं ही सिद्ध नहीं वह दूसरे को क्या सिद्ध करेगा ?

प्रश्न---जिस प्रकार अग्नि, जिसका धूम्र के साथ सम्बन्ध होने से, अनुमान होता है, ऐसे ही कान आदि इन्द्रियों का न तो तादात्म्य सम्बन्ध हो सकता है और न इन्द्रिय आत्मा का कार्य है, फिर उससे अनुमान किस प्रकार हो सकता है, क्योंकि अनुमान दो अवस्थाओं के विना नहीं हो सकता।

उत्तर—अर्थान्तरं ह्यर्थान्तरस्यानपदेशः ॥८॥

अर्थ---जैसे धूम्र घोड़े आदि वस्तुओं से पृथक है वैसे ही अपने कारण अग्नि से भी पृथक् है तो भी, दूसरीं वस्तु होने पर भी धूम्र घोड़े की सत्ता को प्रकट नहीं करता, किन्तु अग्नि की सत्ता को ही प्रकट करता है, इसमें विशेष गुण होना ही कारण है और वह स्वभाव के अतिरिक्त और नहीं हो सकता। इस लिये जिन वस्तुओं में सम्बन्ध हो उन्ही को हेतु मानकर अनुमान हो सकता है। यदि कार्य से पृथक् दूसरी वस्तु के साथ भी स्वाभाविक सम्बन्ध स्थिर हो जावे तो वह उसके अनुमान का हेतु हो सकता है। जहाँ सम्बन्ध न हो वहां सम्बन्ध ठहराना युक्ति के विरुद्ध है। आशय यह है कि जिस प्रकार असम्बद्ध वस्तुओं को हेतु मानकर उनसे अनुमान करना अयुक्त होता है वैसे हमारा पक्ष अयुक्त नहीं, किन्तु आत्मा और इन्द्रियों में सम्बन्ध है क्योंकि वे कारण हैं और आत्मा कर्ता है। जब कि कारण हो और कर्त्ता न हो तो कारण कार्य नहीं कर सकते। यदि कर्त्ता ही हो तो वह बिना कारण के कुछ नहीं कह

सकता। वाह्य कारणों ने कार्य होता हुआ देखकर कर्ता के होने का अनुमान होता है जैसे घड़ी को चलता हुआ देखकर चलाने वाले को न देखने पर भी, अनुमान से चाबी देने बाले का ज्ञान हो सकता है। इसी प्रकार इन्द्रियों के विषयों के नियत होने से आत्मा से होने का पता लगता है।

संयोगि समवाय्येकार्थसमवायि विरोधि च ॥६॥

अर्थ—प्रतिपक्षी ने यह जो कहा था कि कार्य कारण वा तादात्म्य सम्बन्ध के विना सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता; उसका खण्डन करते हैं— यह कहना ठीक नहीं कि जहां ये दो बातें हों वहीं सम्बन्ध होता हैं क्योंकि संयोगी, समवायी, एकार्थ समवायी और विरोधी ये चार प्रकार के लिग होंते है। जैसे गाड़ियों को नियम पूर्वक चलता देखकर यह अनुमान करना कि इनके सार्थी दक्ष हैं, शरीर खाल के बराबर है शरीर होने से, यह संयोग का दृष्टान्त है। जितना शरीर बड़ता है वैसे ही त्वचा भी बढ़ती है जितना शरीर घटंता है उसनी ही त्वचा घटती है। अब त्वचा न शरीर का कारण है न कार्य है, केवल एक साथ उत्पन्न होने से नियय सम्बन्ध है।

समवाय का दृष्टान्त यह है - जैसे दूर से गाय के सींगों को देखकर या पुष्पों की सुगन्ध के आने से उनकी सत्ता का ज्ञान होता है। एकार्थ समवाय का दृष्टान्त सूत्रकार स्वयं देते हैं।

कार्यं कार्यान्तरस्य ॥१०॥

अर्थ—जैसे रूप कार्य दूसरे कार्य स्पर्श का लिंग है, अर्थात् जो वस्तु रूपवत् है उसका ज्ञान स्पर्श से करते हैं। यह केवल उदाहरण कहा गया है नहीं तो जो अकार्य है वह उसके नित्य होनें का लिंग है अर्थात जो उत्पन्न होने बाला नही वह निरवयव है सावयंध नहीं। प्रत्येक

सावयव अनित्य है अर्थात उत्पत्तिधर्मा है। अब विरोधी लिंग का लक्षण भी सूत्र कार करते हैं।

विरोध्यभूतं भूतस्य ॥११॥

अर्थ–जो पेदार्थ से उत्पन्न हुए हैं यदि उनका उत्पन्न होने वाले पदार्थ से पता लगे तो विरोधी लिंग है अर्गात जहाँ कार्य से कारण का अनुमान किया जावे वहाँ विरोधी लिंग होगा। जैसे वर्षा इस बात को बतलाती है कि बादल और बायु के बिना मिले वर्षा का होना सम्भव नहीं। इस देश में हिंसक नहीं अत: सारे जीव निर्भय फिरते हैं। जीवों के निर्भय होने का पता हिंसक मनुष्यों के न होने से लग जाता है, ऐसे ही और भी विचार लेना चाहिये।

भूतमभूतस्य ॥१२॥

विद्यमान वर्षा, वायु और मेघ के अविद्यमान विजाति संयोग का विरोधी लिंग है।

भूतो भूतस्य ॥१३॥

अर्थ--विरोधी के उपस्थित होने से जब विरोधी के क्रोधादि को देखकर शत्रु के होने का अनुमान होता है। यह तीसरे प्रकार का विरोधी लिंग है। जैसे सर्प को वेग से फुंकारते और झाड़ी की ओर देखते हुए पता लगता है कि झाड़ी में न्योला है, इस समय सर्प की उपर्युक्त अवस्था उसके विरोधी न्योंले के झाड़ी में होने का लिंग है। इन तीन सूत्रों में विरोधी लिंगों को बतलाया कि प्रथम भूत का अभूत दूसरे स्थल पर वर्तमान का भूत, भूत का भूत लिंग हो सकता है।

उत्तर—प्रसिद्धिपूर्वकत्वादपदेशस्य ॥१४॥

अर्थ--हेतु वही हो सकता है जो प्रसिद्ध और प्रत्यक्ष सम्बन्ध से लिया गया हो क्योंकि जब तक व्यक्ति का होना सिद्ध न हो जावेगा

तब तक एक के एक होने से दूसरे के होने का प्रमाण नहीं मिल सकता इसलिए प्रत्यक्ष सम्बन्ध अर्थात व्याप्ति को हेतुमान कहकर ही अनुमान हो सकता है क्योंकि अनुमान के पाँच अवयव हैं— एक प्रतिज्ञा, दूसरा हेतु, तीसरा उदाहरण, चौथा उपनयन, पाँचवा निगमन । यदि व्याप्ति से हेतु देकर अनुमान किया जावे तो वह ठीक होगा, यदि व्याप्ति के जानने में भूल हो जावेगी, जब हेतु असिद्ध होगा तब उदाहरण आदि सब ही असिद्ध हो जावेंगे, इसलिये चार प्रकार के लिंग बतलाये जिनको हेतु मान कर अनुमान सत्य हो सकता है। इसलिये इन्द्रियों के विषयों को प्रसिद्ध अर्थात कारण मानकर ही उनसे आत्मा की सत्ता का अनुमान करना व्याप्ति से सिद्ध होता है। परन्तु जो लोग शरीर से ज्ञान का सम्बन्ध बताते हैं वे बड़ी भूल पर हैं क्योंकि यदि शरीर का गुण ज्ञान होता तो मृत्यु, सुषुप्ति और मूर्छा आदि का होना सम्भव ही न था। उस समय तो जीवात्मा और मन के मध्य में तमोगुण का परदा आ जाने से इस प्रकार की अवस्थायें होती हैं परन्तु शरीर के ज्ञानी होने से यह सम्भव नहीं क्योंकि शरीर का किसी के साथ कर्ता और करण का सम्बन्ध नहीं इसलिये उसका ज्ञान जो कि स्वाभाविक गुण है, नित्य रहना चाहिये, इसलिए कार्य शरीर के सहारे ज्ञान को मानना ठीक नहीं हैं ।

प्रश्न--शरीर के सहारे ज्ञान को मानने में क्या दोष हैं ?

उत्तर--शरीर और ज्ञान का सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता, मृत शरीर पाया जाता है परन्तु उसमें ज्ञान नहीं होता।

प्रश्न---व्याप्ति — नियत सम्बन्ध क्या वस्तु है ?

उत्तर--परीक्षा के योग्य वस्तु का जब हेतु के साथ ऐसा सम्बन्ध सिद्ध हो कि जिसका किसी प्रकार भी अभाव न पाया जावे तो उस

सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। जैसे अग्नि से धूम्र उत्पन्न होता है, बिना अग्नि के धुआं नहीं पाया जाता। माता-पिता से सन्तान उत्पन्न होती है परन्तु बिना माता-पिता के कभी सन्तान उत्पन्न नहीं होती। परन्तु यह कोई दृढ़ नियम नहीं कि जहां अग्नि हो वहां धूम्र भी अवश्य हो, या जहां माता-पिता हों वहाँ सन्तान भी अवश्य हो, अग्नि बिना धूम्र के और माता-पिता बिन सन्तान के मिल सकते हैं, परन्तु धूम्र और सन्तान बिना अग्नि और बिना माता-पिता के नहीं मिल सकते।

प्रश्न--अग्नि के बिना धूम्र प्रायः दीख पड़ता है जैसे रेल का इञ्जन चला जाता हैं परन्तु धूम्र बहुत पीछे रह जाता है।

उत्तर–यद्यपि ऐसा होता है परन्तु बिना अग्नि के धुआँ उत्पन्न नहीं हो सकता। जहाँ से यह धुआँ उठा है वहाँ पर अग्नि थी जो दूसरी सक्रिय शक्ति के द्वारा दूर चली गई। इस दृष्टान्त से यह सिद्ध नहीं होता कि बिना अग्नि के धुआँ उत्पन्न हुआ है। इसलिए धुएं और अग्नि का सम्बन्ध सिद्ध है केवल इञ्जन के तीव्र गमन से दूरी हो गई है। इसलिए धुएं को देख कर बुद्धि से विचार करने से पता लग जावेगा कि यहाँ पर अग्नि के धुआं उत्पन्न नहीं हो सकता। इस नियत सम्बन्ध का नाम व्याप्ति है।

प्रश्न---क्या जो लोग आधार और आधेय के सम्बन्ध को व्याप्ति मानते हैं, उनका मानना ठीक नहीं ?

उत्तर---जहाँ शक्ति से अनुमान होता है वहाँ कर्ता के अनुमान के लिए शक्ति से अनुमान होगा, वहीं पर आधार और आधेय से सम्बन्ध लिया जाता है। इस विषय में इनका मत सत्य है नियत धर्म और धर्मी का वही सम्बन्ध है, इसलिये अभिप्राय एक है।

प्रश्न—व्याप्ति के कितने दोषारोपण होते हैं जिससे उसका मानना ठीक नहीं माना जाता ?

उत्तर—अप्रसिद्धोऽनपदेशः असन् सन्दिग्धश्चानपदेशः ॥१५-१६॥

अर्थ—व्याप्ति अर्थात वर्तमान सम्बन्ध के विरुद्ध जो हेतु होगा वह हेत्वाभास कहावेगा, प्रथम तो जहाँ व्याप्ति अप्रसिद्ध हो अथवा प्रत्यक्ष में दृष्टिगोचर न हो तो ऐसे हेतु को हेत्वाभास कहेगें, व्याप्ति की सिद्धि प्रत्यक्ष देखने से ही हो सकती है, जहाँ व्याप्ति प्रत्यक्ष से ग्रहण न हो वह दोष कहावेगा प्रत्यक्षके विरुद्ध ही व्याप्ति सबसे अधिक दूषित सिद्ध होती है। इसलिये उसको हेत्वाभास ठहराया। दूसरे जहाँ व्याप्ति हो ही नहीं, जिसे असम्भव कहते हैं, वह भी दूषित है। वहाँ पर हेत्वाभास होगा। तीसरे जहां व्याप्ति सन्दिग्ध हो वहां पर भी हेतु हेत्वाभास होगा।

प्रश्न—अप्रसिद्ध किसको कहते हैं ?

उत्तर—जिसमें सम्बन्ध सिद्ध न हों वा सम्बन्ध के विरुद्ध सिद्ध हो, उसे अप्रसिद्ध कहते हैं।

प्रश्न—असत् किसको कहते हैं ?

उत्तर—जो हेतु प्रतिज्ञा में विद्यमान न हो या प्रतिज्ञा का गुण न हो उस सम्बन्ध को असत् कहते हैं।

प्रश्न—सन्दिग्ध किसको कहते हैं ?

उत्तर—सन्देह हेतु वाले को सन्दिग्ध कहते हैं। साध्याभाव वाले में हेतु के वर्तने का नाम सन्देह है।

प्रश्न—ये दोष किस कारण से होते हैं ?

उत्तर—अप्रसिद्ध तो प्रत्यक्ष के विरोध से होता हैं, असत् सम्बन्ध कभी तो स्वरूप हानि से और कभी साध्य को सिद्ध न करने की इच्छा

से होता है। सन्दिग्ध सम्बन्ध कभी तो सामान्य गुण को जानकर, कभी विशेष गुण का विचार करने से और कभी साध्य के अभाव वाले में हेतु के वर्तने से ये दोष उत्पन्न होते हैं।

प्रश्न--हेत्वाभास को उदाहरणों से सिद्ध करो।

उत्तर--यस्माद्विषाणी तस्मादश्वः ॥१७॥

अर्थ--जैसे यह कहना कि इसके सींग हैं, इसलिये यह घोड़ा है। घोड़े के लिये "सींगवाला" हेतु देना प्रत्यक्ष के विरुद्ध होने से हेत्वाभास है क्योंकि हेतु वह होना चाहिये जो प्रत्यक्ष सम्बन्ध को विचार कर दिया जावे। अब किसी घोड़े के सींग होते ही नहीं, इसलिये सींग वाला कहने से घोड़ा नितान्त प्रत्यक्ष के विरुद्ध है। घोड़े की सत्ता जो सिद्ध करता है, उसके साथ सींग का सम्बन्ध किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता, इस लिये यहां पर सब प्रकार का हेत्वाभास पाया जाता है। साध्य में सम्बन्ध का असम्भव होना लक्षण के असम्भव दोष में गणना, केवल उल्टे ज्ञान से किया जाता है।

प्रश्न--जो हेतु साध्य को छोड़कर दूसरों में भी चला जावे, उसका उदाहरण दो।

उत्तर....यस्माद्विषाणी तस्माद्गौरिति चानैकान्तिकस्योदाहरणम् ॥१८॥

अर्थ--यह सींग वाली है इसलिये गौ है यह अतिव्याप्ति वाले हेतु का दृष्टान्त है, क्योंकि सींग वाले और भी पशु होते हैं। इस हेतु से भैंस बकरी आदि सब ही गौ मानने पड़ेंगे। जो हेतु या धर्म साध्य को छोड़ कर औरों में भी चला जावे वह अनेकान्तिक हेत्वाभाव कहाता है, ऐसा हेतु साध्य को सिद्ध नहीं कर सकता। इसलिये जो गौ के होने में

सींग वाला होने का हेतु दिया, यह गौ को सिद्ध नहीं करता। इसलिये अहेतु होने से हेत्वाभास ही कहावेगा।

प्रश्न--हेत्वाभास कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर–पांच प्रकार के हेत्वाभास होते हैं–

१, अनैकान्तिक, २. विरुद्ध, १. प्रकरणसम, ४. साध्यसम और ५. कालातीत। इनकी विशेष परीक्षा न्याय दर्शन में देखो।

प्रश्न—हेतु कितने प्रकार के हैं ?

उत्तर–पहिला 'केवलान्वयी' जो साध्य में समान पाया जावे, कहीं विरोध न हो। दूसरा 'केवलव्यतिरेकी' जो साध्य से नितांत ही पृथक हो और उसका विरोधी हो, तीसरा 'अन्वयव्यतिरेकी' जो किसी अंश (देश) में तो मिलता हो और किसी अंश में पृथक हो, वह तीसरे प्रकार का हेत्वाभास हो जाता है। पहिले दो में तो विरुद्ध हेतु का होना किसी प्रकार सम्भव ही नहीं, इसलिये वे हेत्वाभास नहीं हो सकते। इन पांच प्रकार के हेत्वाभासों के नाम और भी हैं। तीन का नाम तो पूर्वसूत्र में आ चुका है, अर्थात् अप्रसिद्ध, असत् और असन्दिग्ध, परन्तु सूत्र में 'च' के होने से दो और का भी ग्रहण होता है अर्थात् असिद्ध और बाध्य, इसलिये अनैकान्तिक दो प्रकार का है-एक साधारण, दूसरा असाधारण। साधारण को तो सूत्र में बता दिया है, अर्थात सींग वाला होना जो गौ के लिये हेतु है यह सामान्यतया गौ को छोड़ कर और पशुओं में भी पाया जाता है परन्तु जो हेतु प्रतिज्ञा में न रहे और प्रतिज्ञा के विरुद्ध भी न रहे उसको साधारण कहते हैं। जैसे कहा जाय कि आकाश नित्य है इस प्रतिज्ञा के प्रमाण में यह हेतु दिया जावे कि शब्द का आश्रय होने से। यहां पर शब्द का आश्रय परमाणु आदि नित्य पदार्थ है अथवा घड़ा आदि अनित्य पदार्थ हैं इसका पता नहीं चलता इसलिये यह असाधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास है।

प्रश्न---विरुद्ध हेत्वाभास किसको कहते हैं ?

उत्तर---जो हेतु पक्ष (प्रतिज्ञा) के विरुद्ध हो उसको सिद्ध करने के स्थान में उसका खण्डन करे वह विरुद्ध हेत्वाभास कहलाता है। जैसे कहा जावे कि शब्द नित्य है इस प्रतिज्ञा में यह हेतु दिया जावे कि 'उत्पन्न होने वाला होने से' क्योंकि इस हेतु से शब्द का नित्य होना खण्डित हो जाता है अतः यह विरुद्ध हेतु है।

प्रश्न--सन्दिग्ध या प्रकरणसम किसको कहते हैं ?

उत्तर--जो हेतु पक्ष की सिद्धि में दिया जावे परन्तु उससे पक्ष की सिद्धि या असिद्धि दोनों निश्चित न हों वह प्रकरणसम हेत्वाभास होगा। जैसे शब्द नित्य है, नित्य आकाश का गुण होने से। इसके विरुद्ध यह हेतु दे सकते हैं कि शब्द अनित्य है घट आदि के समान उत्पन्न होने वाला होने से। आशय यह है कि घट आदि के समान उत्पन्न होने वाला होने से शब्द के अनित्य होने में सन्देह होता है।

प्रश्न—साध्यसम व असिद्ध हेत्वाभास किसको कहते हैं ?

उत्तर--जो हेतु पक्ष के समान स्वयं साध्य हो वह साध्यसम वा असिद्ध हेत्वाभास कहाता है क्योंकि पक्ष के समान स्वयं साध्य है। जैसे—छाया द्रव्य है सक्रिय होने से। छाया का सक्रिय होना स्वयं साध्य है, छाया का द्रव्य होना तब सिद्ध हो, जब यह हेतु सिद्ध हो जावे।

प्रश्न—असिद्ध या साध्यसम हेत्वाभास एक ही प्रकार का है वा उसके भी भेद हैं ?

उत्तर---असिद्ध हेत्वाभास तीन प्रकार का है-एक स्वरूप से असिद्ध, दूसरा आश्रय से असिद्ध और तीसरा व्याप्यत्व से असिद्ध। प्रत्येक की परीक्षा करने से लेखवृद्धि होगी, अतः आगे चलते हैं।

प्रश्न–हेत्वाभास की परीक्षा करने से क्या लाभ हुआ ?

उत्तर—आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद् यन्निष्पद्यते तदन्यत् ॥१९॥

अर्थ–आत्मा, इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से ज्ञान पैदा होता हैं वह हेत्वाभासों के पृथक है अर्थात इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध में जो आत्मा लिंग हैं वह अप्रसिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक से भिन्न है अर्थात वह सत् हेतु है, हेत्वाभास नहीं ।

प्रश्न—यह ज्ञान आत्मा के होने का लिंग किस प्रकार है ?

उत्तर–आत्मा के अभाव में अर्थात मरने पर शरीर में ज्ञान नहीं रहता या जड़ वस्तुओं में ज्ञान का अभाव पाया जाता है। दूसरे यह ज्ञान दो प्रकार से आत्मा को सिद्ध करता हैं, प्रथम यह कि ज्ञान गुण है जो विना किसी द्रव्य के नहीं रह सकता । मृत शरीर में न रहने से और स्वप्न अवस्था में भी न रहने से उसका आश्रय शरीर नहीं माना जा सकता इसलिये शरीर से पृथक किसी द्रव्य का गुण ज्ञान है। अतः शरीर से पृथक् आत्मा का गुण ज्ञान है। दूसरे इस विचार से भी कि जिसको मैंने जाना था उसी को बुलाता हूं। यह बुलाने और जानने वाला 'मैं शरीर से भिन्न सिद्ध होता है। इसलिये ज्ञान और प्रयत्न ये दो ही आत्मा के लिंग सिद्ध होतेहैं। अकेला ज्ञान परमात्मा में हो सकता है, क्योंकि वह सर्वव्यापक होने से क्रिया से रहित है। केवल कर्म सूर्य, चन्द्रमा और अनेक प्राकृतिक वस्तुओं में विद्यमान होने से ज्ञान के समान कर्म भीं आत्मा का लिंग है।

प्रवृत्तिनिवृत्ती च प्रत्यगात्मनि दृष्टे परत्र लिंगम् ॥२०॥

अर्थ – अपने राग और द्वेष के अनुसार किसी वस्तु की प्राप्ति में प्रवृत्त होने और किसी को छोड़ने से जैसे अपनी सत्ता का अनुमान

होता है, ऐसे ही अन्य मनुष्यों के कर्म देखकर उनकी किसी से निवृत्ति और किसी में प्रवृत्ति का अनुभव करके दूसरों में भी आत्मा का अनुमान होता है।

प्रश्न—चुम्बक पत्थर लोहे को अपनी ओर खींच लेता है, इससे अनुमान होता है कि उसमें आत्मा है। यदि कहो कि उसमें ज्ञान नहीं तो और वस्तुओं को क्यों नहीं खींचता केवल लोहे को ही क्यों खीचता है?

उत्तर—चुम्बक पत्थर लोहे को अपनी ओर खींच लेता है, परन्तु उसको हटा नहीं सकता, इसलिये आत्मा का होना सिद्ध नहीं यदि प्रकृति के साथ प्रवृत्ति का प्रमाण भी मिलता, तब जल में आत्मा का होना पाया जाता इसीलिये कर्ता को स्वतन्त्र माना है, जिसमें करना, न करना और उल्टा करना पाया जावे, उसमें आत्मा होता है शेष क्रिया परमात्मा के नियम से होती है।

वैशेषिक दर्शन के तीसरे अध्याय का पहिला आह्निक समाप्त

वैशेषिक दर्शन भाषानुवाद

अध्याय ३ : आह्निक २

प्रश्न - क्या इन्द्रियों के साथ आत्मा का सम्बन्ध होने से ज्ञान हो जाता है ?

उत्तर—आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम् ॥१॥

अर्थ---आत्मा की विद्यमानता में इन्द्रियों के साथ वस्तु का सम्बन्ध होने पर ज्ञान का होना और न होना मन का लिंग अर्थात चिन्ह है। अर्थात जब इन्द्रियों के साथ मन का संयोग होता है और मन का संयोग आत्मा से होता है और इन्द्रिय वस्तु के साथ सम्बन्ध रखती हैं तब आत्मा को ज्ञान होता है। यदि मन का इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध न हो तो ज्ञान नहीं होता, जैसे प्रायः कहते हैं कि मेरा मन और कहीं था, इस कारण मेरी समझ में आपकी बात नहीं आई, अथवा मैंने उसको जाते हुये नहीं देखा।

प्रश्न---मन क्या वस्तु है ?

उत्तर---मन अन्तःकरण अर्थात आभ्यन्तरिक औजार है। यदि आत्मा को फोटोग्राफर और इस शरीर को कैमरा मान लिया जावे तो वह शीशा जिसके द्वारा प्रतिबिम्ब भीतर प्रवेश करता है इन्द्रियां है। और जिस शीशे पर छाया चित्र उतरता है वह मन है। यदि इन्द्रिय न हों तो छाया ही नहीं पड़ेगी, यदि मन न हो तो इन्द्रिय पर छाया उल्टी

पड़ेगी। उससे किसी प्रकार का ज्ञान नहीं होगा किन्तु जब वह छाया मन पर जाकर सीधी होगी तब जीवात्मा को उसका ज्ञान होगा। इसलिऐ मन को इन्द्रिय का अस्त्र जानो, दूसरे सुख दुःख के अनुभव करने का साधन भी मन ही है।

प्रश्न---मन अणु है या विभु, सारे शरीर में रहने वाला है।

उत्तर---यदि मन सारे शरीर में रहने वाला होता तो उसका सारी इन्द्रियों के साथ एक साथ ही सम्बन्ध होता। जिससे आत्मा और इन्द्रिय के सम्बन्ध का ज्ञान होना आवश्यक हो जाता। किसी अवस्था में भी ज्ञान का होना सम्भव ही नहीं था। इसलिये मन अणु है और यह शरीर का हृदय स्थान में रहता है।

प्रश्न---मन भौतिक है या अभौतिक ?

उत्तर---मन भौतिक है परन्तु उसकी दो अवस्थाये हैं---एक नित्य और दूसरी अनित्य। यहां नित्य से तात्पर्य अनादि जन्म अर्थात बन्धन के आरम्भ से लेकर मोक्ष पर्यन्त रहने वाला है न कि सर्वदा ही रहने वाला होने से, दूसरा जो अन्न से बनता है उसकी परीक्षा का समय यहां नहीं किन्तु ध्यान रखना चाहिये कि मन वह थैली है जिसमें जीवात्मा के कर्मों के संस्कार और ज्ञान अंकित रहते हैं। जब तक मन रहता है तब ही तक संदिग्ध ज्ञान और कर्मों के संस्कार रह सकते हैं और जहां मन का नाश हुआ झट कर्मपरम्परा का भी नाश हुआ।

प्रश्न---यद्यपि मन विभु है परन्तु कारण होने से उससे एक समय में दो इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता ?

उत्तर---यदि मन विभु समझा जावे तो उसकी शक्ति एक सी ही सारे देश में माननी पड़ेगी ऐसी अवस्था में सारी इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान एक साथ होना मानना पड़ेगा। यह बात बिना किसी कारण के

सम्भव ही नहीं कि एक स्थान पर मन की शक्ति कार्य करे और दूसरी जगह न करे।

प्रश्न---जब हम किसी वस्तु को खाते हैं तब उसके रूप, रस और गन्ध का एक साथ ही ज्ञान हो जाता है।

उत्तर--यह विचार भ्रम से उत्पन्न हुआ है कि एक साथ ज्ञान होता है किन्तु मन की चचलता और वेग के कारण परम्परा से ही ज्ञान होता है। प्रथम रूप का, फिर गन्ध का तदुपरान्त रस का। जो लोग मन के वेग और एक ही समय की वास्तविकता को नही समझ सकते, उनको इस प्रकार का सन्देह होता है।

प्रश्न--जब कि इन्द्रियों से सारे गुणों का ज्ञान हो सकता है, तो मन के मानने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर---सुख दुःख का ज्ञान किसी इन्द्रिय से नहीं होता, इसलिये इन गुणों के मानने के लिये जीवात्मा को किसी कारण की आवश्यकता है और वह कारण मन है।

तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥२॥

अर्थ--जिस प्रकार वायु नित्य है उसी प्रकार मन भी नित्य है और गुणों वाला होने से द्रव्य होना भी सिद्ध ही है।

प्रश्न - सुख दुःख प्राप्त करने का साधन मन है और वह द्रव्य है यह सिद्ध नहीं किन्तु साध्य है क्यों की क्रिया भी सुख दुःख से प्राप्त करने का कारण हो सकनी है। रूप के ग्रहण होने के समान और जो एक काल में दो बातों का न होना मन का लिंग बताया तो उसके कारण होने से उनके नित्य होने और द्रव्य होने का क्या प्रमाण है?

उत्तर-- जिस प्रकार परमाणु वायु गुणयुक्त होने से नित्य है, और उसमें क्रिया भी पाई जाती है इससे गुण और क्रियाहोने से द्रव्य कहलाता

है, इसी प्रकार एक काल में दो वस्तुओं का ज्ञान न होने से जिस मन का अनुमान होता है, वह भी गुण सहित होने से द्रव्य है। इसको विना इन्द्रिय के सम्बन्ध के ज्ञानोत्पत्ति का कारण होना सिद्ध नहीं होता जिससे गुण वाला न मानकर क्रिया मानी जावे, क्योंकि द्रव्य का द्रव्य के साथ ही संयोग होता है। द्रव्य का क्रिया के साथ संयोग नहीं हो सकता, इसलिये सुख-दुःख के ज्ञान का कारण होने से मन का द्रव्य होना सिद्ध है। रूप आदि के ज्ञान के साधन आँख आदि के समान अन्य किसी के प्रभाव में न होने से उसका नित्य होना भी सिद्ध है।

प्रश्न---सांख्य शास्त्र में मन को कार्य माना है, और उपदिषदों ने भी मन को कार्य ही माना है, फिर मन को नित्य मानने से दोनों मे विरोध होने से, दोनों में से किसका प्रमाण माना जावेगा ?

उत्तर---वैशेषिक शास्त्र पूर्व बना है, इसलिये एकदम से सूक्ष्म बातों को समझने योग्य सर्व साधारण को न जानकर सांकल्पिक जन्म से लेकर मोक्ष तक साथ रहने वाले मन को नित्य बतलाया और वायु के साथ समानता दिखाई। वायु भी उत्पन्न होने वाला है। जैसे वायु नित्य वैसे मन भी नित्य है, इसलिये कोई भेद नहीं रहता। जिस प्रकार सृष्टि के आरम्भ से लेकर अन्त तक रहने वाले वायु को नित्य बतलाया है, इसी प्रकार जन्म से लेकर मोक्ष पर्यन्त रहने वाले मन को भी नित्य कहा है ?

प्रश्न - क्या जन्म का आरम्भ होता है ?

उत्तर--प्रवाह से जन्म अनादि है, किन्तु स्वरूप से आरम्भ होता हैं।

प्रश्न---क्या एक शरीर में एक ही मन होता है ?

उत्तर—प्रयत्नायौगपद्याज् ज्ञानायौगपद्याच्चैकम् ।३।।

अर्थ--एक काल में न तो दो कर्मेन्द्रियां कार्य करती है, और न दो ज्ञान के विषयों का ज्ञान होता है, इसलिए मन एक ही है। यदि एक शरीर में बहुत से मन होते, तो एक साथ ज्ञान होना और एक साथ कर्म होना सम्भव होता।

प्रश्न – जब नाचने वाले मनुष्य को एक साथ हाथ, पाँव और अंगुलियों को चलाते हैं तो स्पष्ट विदित होता है कि एक साथ ही कर्मेन्द्रियाँ कार्य करती हैं, इसलिये मन अनेक हो सकते हैं ?

उत्तर—यह विचार ठीक नहीं। मन के अति चंचल होने से ऐसा भ्रम होता है। वास्तव में उसमें भी क्रम होता है, एक साथ क्रिया नहीं होती। जो लोग मन की चंचलता से अनभिज्ञ हैं, वे एक साथ क्रिया होना मान लेते हैं, इससे उन लोगों का मत भी. जो शरीर में पांच मन मान कर सारी इन्द्रियों में एक साथ क्रिया होना बतलाते हैं, खण्डित हो जाता है, क्योंकि जब एक मन से काम चल जाता है तो व्यर्थ ही पांच की कल्पना ठीक नहीं।

प्रश्न--गुड़ को उठा कर खाने से त्वचा और रसना इन्द्रिय दोनों को एक साथ ही ज्ञान हो जाता है कि यह गुड़ मीठा है और कठोर है।

उत्तर—यह विचार भी मन की चंचलता न जानने के कारण उत्पन्न होता है। इसमें भी परम्परा विद्यमान है। इसी प्रकार अनेक होने में हेतु दिये जाते हैं वे सब निर्बल हैं और मन की तीव्र गति को समझने से सब खण्डित हो जाता हैं, इसलिये अधिक वाद-विवाद न करके यहीं समाप्त करते हैं।

अब आत्मा की परीक्षा करते हैं

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः
सुख-दुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिंगानि ॥८॥

अर्थ--यद्यपि ज्ञान और प्रयत्न ही आत्मा के लिंग है, परन्तु प्राण, अपान अर्थात् श्वाश का भीतर लेना और बाहर निकालना, निमेष और उन्मेष=पलक खोलना और मीचना, जीवन=बढ़ना घटना, अवस्था बदलना, करना, न करना, और उल्टा करना। मन कि गति और इन्द्रियों की गति, सुख-दुःख इच्छा द्वेष, ये भी आत्मा का लिंग हैं। पूर्व कहा है कि प्राण आत्मा का लिंग है प्राणों का काम ही भूख और प्यास अर्थात जो भोजन को पचाते हैं, परन्तु यह बात इन्जन में पाई जाती है इसलिये यह लक्षण अतिव्याप्त हो गया, यह लक्षण वृक्षादि निर्जीव वस्तुओं में भी पाया जाता है इसलिये कहा अपान अर्थात् भोंजन को पचा कर बाहर निकालना, जिससे फिर क्षुधा लगती है, परन्तु यह बात भी इन्जन और बृक्षों में पायी जाती है इसलिये कहा आंख का खोलना और बन्द करना। यद्यपि ये गुण इन्जन में विद्यमान नहीं हैं परन्तु बहुत पुष्पों और बृक्षों में पाये जाते हैं, इस लिये कहा जीवन बढ़ना घटना। यह वात भी बृक्षों में विद्यमान हैं, इसलिये कहा मन के ज्ञान के अनुकूल कार्य करना, न करना, उलटा करना। यह काम न तो वृक्षों में पाया जाता है न तो इन्जन में विद्यमान है यद्यपि इन्जन ड्राईवर के विना चल सकता है परन्तु उलटा चलना, खड़ा हो जाना आगे चलना यह ड्राइवर की सत्ता को सिद्ध करने हैं। इसलिये जिसमें ज्ञानपूर्वक तीन प्रकार के काम होते हैं वहां आत्मा को मानना चाहिये और दूसरे इन्द्रियों की चेष्टा भी अर्थात् देखना, सुनना और सूंघना

आदि भी आत्मा की सत्ता को बताते हैं, क्योंकि यदि इन्द्रियों से भिन्न कोई आत्मा न हो तो इन्द्रियों के होने पर भी ज्ञान और कर्म न होता क्योंकि इन्द्रियां करण हैं न की कर्ता। कर्ता के बिना करण कुछ भी काम नहीं कर सकते। करण के कार्य से कर्ता का होना पाया जाता है जैसे लकड़ी चिरी हुई मेरे पास है, एक आरी मेरे पास है, आरी और चिरी हुई लकड़ी देखने से स्पष्ट अनुमान होता है कि किसी चीरने वाले ने आरी के द्वारा इस लकड़ी को चीरा है, ऐसे ही इन्द्रियों के कार्य आत्मा के होने को सिद्ध करते हैं। सुख दुःख से भी आत्मा की सत्ता का पता चलता है कि कोई ऐसी वस्तु हैं जो अपने अनुकूल से सुख और प्रतिकूल से दुख का अनुभव करती है, क्योंकि सुख-दुःख दो परस्पर विरुद्ध गुण हैं जिनका प्राकृतिक वस्तु से होना सम्भव ही नहीं, क्योंकि हम किसी वस्तु में दो विरुद्ध गुणों का होना नहीं देखते। इसलिये दो परस्पर विरुद्ध गुणों का एक में रहना असम्भव है। अतः दोनों विरुद्ध गुणों को भिन्न-भिन्न कालों में ग्रहण करने वाली शक्ति जिसका यह स्वाभाविक गुण नहीं जो उनके अधिकरण से प्राप्त करती है अवश्य ही माननी पड़ेगी। इच्छा अर्थात अनुकूल से राग और द्वेष अर्थात प्रतिकूल से घृणा या सुख की प्राप्ति की इच्छा और दुःख के दूर करने की इच्छा, ये भी जीवात्मा के सत्तासूचक लिंग हैं क्योंकि इच्छा और द्वेष भी दोनों विरुद्ध गुण हैं इनका किसी प्राकृतिक वस्तु में पाया जाना सम्भव ही नहीं और प्रयत्न अर्थात ज्ञान के अनुकूल क्रिया करना भी जीवात्मा का लिंग है।

प्रश्न—प्राण अपान से जीवात्मा के होने का किस प्रकार प्रमाण मिलता है ?

उत्तर....आँख बन्द होने में संयोग, बन्द न होने में वियोग गुण

पाया जाता है । ये संयोग और वियोग कर्म के बिना नहीं उत्पन्न हो सकते, इसलिये कर्म का होना सिद्ध है, और बिना कर्ता के हो नहीं सकता अतः जिसकी इच्छापूर्वक कर्म से संयो वियोग होते हैं कर्ता जीवात्मा अवश्य है यह सिद्ध हो गया है, क्योंकि जिस प्रकार पुतलियाँ नाचती हुई देख कर तार का हिलाने वाला कोई है ऐसा अनुमान करते हैं । यही अवस्था यहां समझो ।

प्रश्न—जीवन से किस प्रकार आत्मा का होना सिद्ध होता है ?

उत्तर—जिस प्रकार गृह का स्वामी गृह की मरम्मत करता है, निष्प्रयोजन चूने आदि को निकाल देता है, और अच्छे-अच्छे को लगाता है । ऐसे ही शरीर का स्वामी घावों को भरता है, शरीर को बढ़ाता है और मल को निकालता है, भोजन के सार भाग को ग्रहण करता है, इससे स्पष्ट विदित होता है कि आत्मा है ।

प्रश्न—चेतना अर्थात ज्ञान का अधिकरण शरीर है, क्योंकि उसके "मैं गोरा हूं" "मैं काला हूं" "मोटा हूं" "दुबला हूं" इसके कहने से पता लगता है ?

उत्तर—जिस प्रकार माल के लुटने से, और घर के जलने से प्रायः कहते हैं कि "मेरा नाश हो गया" वास्तव में उसका कुछ भी नहीं बिगड़ा । केवल, घर को अपना मान कर उपचार से उसके नाश को अपना समझ रहा है । इसी प्रकार उपचार से कभी-कभी शरीर के धर्म को अपना मानता है, घर जलने से अपना नाश मानने के समान वास्तव में शरीर को अपने से पृथक् मानता है और कहता है कि मेरा शरीर पीड़ा करता है, मेरा शरीर थकित हो गया आदि ।

प्रश्न....क्या ज्ञान दूसरे द्रव्य के सहारे नहीं रह सकता, जो उसको आत्मा का गुण माना जावे ?

उत्तर....आठ द्रव्यों में तो ज्ञान का होना बतौर गुण के पाया नहीं जाता । इसलिये आठ के अतिरिक्त केवल आत्मा ही है । पृथ्वी में ज्ञान होता तो सम्पूर्ण वस्तु चेतन अर्थात ज्ञान वाली होती, ज्ञान से रहित कोई न होती । यदि पानी में ज्ञान होता, तो भी ऐसा ही होता । इसी प्रकार अग्नि, वायु, प्रकाश और दिशा में भी समझ लेना चाहिये । मन ज्ञान प्राप्त करने का साधन है, ज्ञान के रहने की जगह नहीं, जबकि आठ द्रव्यों में ज्ञान मानना प्रत्यक्ष के विरुद्ध है, तो इससे अनुमान होता है कि ज्ञान आत्मा गुण है ।

प्रश्न--आत्मा का द्रव्य और नित्य होना सिद्ध नहीं होता !

उत्तर—तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ।।५।।

अर्थ–जिस प्रकार वायु के परमाणु रूप अवस्था से उसका गुण वाला होने से द्रव्य वा नित्य होना सिद्ध होता है इसी प्रकार आत्मा भी द्रव्य और नित्य है ।

प्रश्न....आत्मा के गुण क्या है जिससे द्रव्य कहा जावे ?

उत्तर....सुख दुःख, इच्छा, द्वेष, ज्ञान और प्रयत्न आदि ।

प्रश्न....यदि सुख दुख आत्मा का गुण माना जावे तो सर्वदा दुःख का रहना मानना पड़ेगा, क्योंकि गुण और गुणी का समवाय सम्बन्ध है। इसलिये दुख का नाश जो मुक्ति है वह कभी हो ही नहीं सकती, और सुःख के नित्य होने से उसका कभी अभाव ही नहीं हो सकता, इससे कभी बन्धन नहीं होगा । इसी प्रकार इच्छा और द्वेष दो विरुद्ध गुण एक साथ कभी नहीं रह सकते । यदि एक साथ रहना माना जावे तो उनको परस्पर विरुद्ध नहीं रहना चाहिये क्यों कि जब अधिकरण में रहते हुये दोनों पाये जावे तो दोनों विरुद्ध नहीं किन्तु परस्पर विरुद्ध होना सिद्ध है । जिस समय जीवात्मा सुख का अनुभव करेगा उस समय दुःख का अनुभव नहीं कर सकता । दूसरा प्रश्न यह उत्पन्न होता कि

स्वाभाविक गुण है या नैमित्तिक (सुख दुःखादि जीव के' ?

उत्तर— सुख दुःख और इच्छा-द्वेष ये चारों आत्मा के स्वाभाविक गुण नहीं है किन्तु नैमित्तिक गुण है जो अन्य वस्तु के निमित्त से होते हैं यदि आत्मा के अनुकूल वस्तु मिलती है तो सुख उत्पन्न होता है और यदि प्रतिकूल वस्तु का सम्बन्ध हुआ तो दुःख मानता है। इस सुख-दुःख का होना आत्मा के अनुकूल और प्रतिकूल वस्तु पर निभर है। इसी प्रकार अनुकूल वस्तु को देखकर उसके प्राप्त करने की इच्छा होती है, और प्रतिकूल को देखकर उनके नाश करने की इच्छा होती है। ज्ञान दो प्रकार का है एक स्वाभाविक जो जीवात्मा का स्वाभाविक गुण है, दूसरा नैमित्तिक जो कारण के द्वारा प्राप्त किया जाता है। अर्थात्त मन इन्द्रिय और आत्मा के संयोग से उत्पन्न होता है।

प्रश्न....जब से गुण नैमित्तिक हैं तो आत्मा का द्रव्य होना कैसे सिद्ध होगा ?

उत्तर—प्रत्येक पदार्थ के द्रव्य होने कि सिद्धि उसकी क्रिया और गुण से होती है। जीवात्मा में सुख दुःख प्राप्त करने की शक्ति है और इच्छा आदि करने की शक्ति है, यद्यपि ये गुण मन के द्वारा उत्पन्न होते हैं, तो भी क्रिया आत्मा के संयोग से उत्पन्न होती है, जैसे चुम्बक के समीप होने से लोहें में क्रिया उत्पन्न होती है। लोहे में क्रिया बिना किसी कारण के चुम्बक की सत्ता को सिद्ध करती है।

प्रश्न—आत्मा का नित्य होना किस प्रकार हो सकता है, क्योंकि शरीर के अभाव में आत्मा का होना सिद्ध नहीं हो सकता इसलिये शरीर के साथ ही आत्मा उत्पन्न होता है, और शरीर के साथ ही आत्मा नष्ट हो जाता है !

उत्तर—यदि ऐसा माना जावे तो सब जीवों के आत्मा को

कर पानी होने का ज्ञान हो जाता है किन्तु उसमें सन्देह रहता है कि यह मृगतृष्णा का जल है वा वास्तव में जल ही है, इसलिये बगुले आदि पक्षियों को वहां पर उड़ता देख कर अनुमान से निश्चित सिद्धान्त ठहराते हैं कि यह सरोवर ही हैं, क्योंकि असन्दिग्ध ज्ञान होना ही उसका निश्चित होना है इसलिये प्रत्यक्ष होने पर भी उस ज्ञान को अनुमान से पुष्ट करना ठीक ही है।

प्रश्न-देवदत्त जाता है, इस प्रकार के व्यावहार के देवदत्त में चलना आदि विदित होते हैं।

उत्तर—देवदत्त गच्छति यज्ञदत्तो गच्छतीत्युपचाराच्छरीरे प्रत्ययः ॥१२॥

अर्थ-देवदत्त जाता है, यज्ञ दत्त जाता है, इस जगह शरीर में जो आत्मा के संयोग से गति है उपचार से उसको आत्मा में माना गया है यदि केवल शरीर में जाने की क्रिया सम्भव होती तो मृत शरीर भी क्रिया करता, इसलिये शरीर में जाने का ज्ञान उपचार से होता है।

प्रश्न--उपचार किसको कहते हैं ?

उत्तर-उपचार उसको कहते हैं कि जहाँ सम्बन्ध के कारण एक का गुण दूसरे में होना प्रतीत किया जावे वा वर्णन किया जावे। जैसे कहते हैं कि मचान पुकारते हैं अब मचान में तो बोलने की शक्ति है नहीं, उसका पुकारना कैसे सम्भव हो सकता है ? यहां पर मचान का पुकारना कहा गया है। और जिस प्रकार कहा जाता है कि "आगरा आ गया" परन्तु आने की क्रिया आगरे में नहीं हुई, किन्तु हम आगरे पहुंच गये हैं इसी को उपचार कहते हैं। आशय यह है कि जिस समय लक्षण से अर्थ के जानने की आवश्यकता हो शक्ति है (अर्थ का ज्ञान न हो) वह उपचार से विचार कर लेना चाहिये इसकी अधिक व्याख्या न्यायदर्शन में आ चुकी है।

प्रश्न—लक्षण किसे कहते हैं ?

उत्तर—जहाँ शब्दों के मुख्य अर्थों को छोड़कर वक्ता के अभिप्राय के अनुसार अर्थ लिये जावे उसको लक्षण कहते हैं।

प्रश्न - मुख्य अर्थों को छोड़ कर दूसरे अर्थों का दूहण करना किन किन अवस्थाओं में होता है ?

उत्तर—उसमें रहने से, जिसका अभिप्राय यह है कि मचान पर बैठने से। यहां मञ्चान नहीं पुकारते किन्तु उस स्थान पर (मंचान पर) रहने वाले पुकारते हैं। इसी प्रकार शरीर में रहने की क्रिया को शरीर में कह सकते हैं उसके समान धर्म वाला होने से, उसके समीप होंने से, उसके साथ सम्बन्ध होने से और वैसे ही अर्थ होने से। समान धर्म वाला होने का दृष्टान्त यह है कि जैसे कहा जाता है कि मनुष्य तो 'सिंह है अर्थात् सिंह के समान धर्म वाला है। समीप होने का उदाहरण—जैसे गंगा में घोष' है। आशय यह है कि गंगा के किनारे घोष (अहिरो का ग्राम) है। सम्बन्ध का उदाहरण जैसे दण्ड के संयोग से सन्यासी को "दण्डी" कहते हैं। इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि---

सन्दिग्धतूपचारः ॥१३॥

अर्थ—यद्यपि आत्मा में मुख्यतया (वास्तव में) और शरीरमें उपचार से "मैं" इस शब्द का प्रयोग होता है, ऐसा कहा है ; परन्तु उपचार निश्चयात्मक नहीं किन्तु सन्दिग्ध है, क्योंकि इसका प्रमाण क्या है कि शरीर में तो उपचार से है और आत्मा में वास्तविक है ? सम्भव है कि शरीर में वास्तविकता हो, और आत्मा में उपचार से प्रयोग किया जाता हो ? इसलिये यह बात निश्चयात्मक नहीं किन्तु सन्दिग्ध है, अर्थात कौन वास्तविक है, और कौन औपचारिक है, यह नहीं जाना जाता।

इसका उत्तर देते हैं कि—

अहमिति प्रत्यगात्मनि भावात् परत्राभावादर्थान्तर-प्रत्यक्षः ॥१४॥

अर्थ---"मैं" शब्द का केवल अपनी आत्मा के लिये प्रयोग होने से और शरीर के लिये प्रयोग न होने से जिस प्रकार मैं सुखी हूं ऐसा ज्ञान तो होता है किन्तु मैं शरीर हूं ऐसा ज्ञान नहीं होता। इसलिये "मैं" शब्द का प्रयोग आत्मा में ही होता है और शरीर आदि के लिये जहाँ प्रयोग होता है वहाँ उपचार से ही होता है क्योंकि जब शरीर आत्मा को सुखी-दुःखी जानकर स्वयं सुखी दुःखी नहीं होता तो शरीर को किस प्रकार ज्ञान हो सकता है ? और शरीर के अतिरिक्त पुत्र आदि के मरने पर भी जो दुःख होता है तो उस समय कहता है कि "हाय मैं मर गया।" जिस प्रकार वहाँ उपचार से कहा जाता है उसी प्रकार शरीर में जान लेना चाहिये कि 'मैं' इस शब्द का प्रयोग आत्मा के लिये वास्तविक और शरीर आदि के लिये औपचारिक है।

देवदत्तो गच्छत्युपचारादभिमानात्तावच्छरीरप्रत्यक्षोऽहंकारः ॥१५॥

अर्थ---"देवदत्त चलता है" ऐसा ज्ञान शरीर में जो अहंकार है उसके कारण उपचार से होता है क्योंकि जिस-जिस वस्तु में अहंकार होता है उस-उसके नाश में दुःख होता है, और जिसमें अहंकार नहीं होता उसके नाश में दुःख नहीं होता। जब तक शरीर में अभिमान है तब तक उनकी निर्बलता को अपने में आरोपण करता है। इसी प्रकार उपचार से ही "देवदत्त जाता है" ऐसा ज्ञान होता है। विपक्षी शंका करता है---

सन्दिग्धस्तूपचारः ॥१६॥

अर्थ---यह बात निश्चयात्मक नहीं कि देवदत्त जाता है इसमें उपचार है या देवदत्त सुखी हूं या दुःखी हूं इसमें उपचार है। जब दोनों अवस्थाओं में उपचार का निश्चय नहीं तो वह उपचार संदिग्ध है क्योंकि एक ही शरीर के लिये और बहुत से शब्दों का प्रयोग होता है जिस प्रकार "मैं मोटा हूं" "मैं पतला हूं" "गोरा हूं काला हूं" आदि इसी प्रकार यह भी कहता है कि "मैं दुःखी हूं" "मैं सुखी हूं" ऐसा कहने से सन्देह उत्पन्न होता है कि उपचार किसको माना जावे ?

उत्तर—न तु शरीरविशेषाद्यज्ञदत्तविष्णमित्रयोर्ज्ञानं विषयः ॥१७॥

अर्थ---सुख दुःख का ज्ञान होना ही, आत्मा की सत्ता का बतलाने वाला ज्ञान होता है, यदि यह ज्ञान आत्मा को छोड़कर शरीर का गुण माना जाय तो जिस प्रकार यज्ञदत्त और विष्णु मित्र के शरीर पृथक पृथक सिद्ध होते हैं, और उनके शरीर की ऊंचाई, रंग और आकृति आदि शरीर के गुण भी भिन्न-भिन्न पाये जाते हैं, उसी प्रकार ज्ञान का भी इन्द्रियों से पृथक-पृथक प्रकाश होना चाहिये था कि विष्णुमित्र के शरीर का ज्ञान ऐसा है और यज्ञदत्त के शरीर का ज्ञान ऐसा है। जब दोनों का ज्ञान इन्द्रियों का विषय नहीं और शरीर इन्द्रियों का विषय है इससे स्पष्ट विदित होता है कि आत्मा के आश्रय ज्ञान रहता है शरीर के आश्रय नहीं रहता। अतः सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष और ज्ञान आदि गुण आत्मा के ही हैं। आशय यह है कि विपक्षी ने जो उपचार को संदिग्ध बतलाया उसका उत्तर कणाद जी ने यह दिया कि उपचार आत्मा में शरीर के गुणों का होता है और "मैं" इस शब्द का शरीर में उपचार से ही ग्रहण होता है। यह उपचार निश्चयात्मक है, संदिग्ध नहीं, इसलिये हमारा पक्ष सत्य है। ——

एक ज्ञान होना चाहिये, क्योंकि इस समय तो पूर्व जन्म के संस्कारों की न्यूनाधिकता से ज्ञान की न्यूनाधिकता सम्भव है परन्तु जब सब आत्मा नई उत्पन्न हुई हैं, तो यह प्रश्न उत्पन्न होगा कि उनके ज्ञान में न्यूनाधिकता किस प्रकार हुई ? यदि कहें कि जिस प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं उनमें अन्तर होने से उनके ज्ञान में अन्तर हो जावेगा तो ऐसी अवस्था में जीव को प्रकृति से उत्पन्न हुआ सिद्ध करना पड़ेगा, जिसका खण्डन पूर्व हो चुका है क्योंकि जबतक उपादान में उन गुणों का सिद्ध न हो जावे तबतक कार्य में उनका होना कैसे माना जा सकता है। यह सिद्ध हो चुका है कि जो गुण कारण में होते हैं वे ही कार्य में होते हैं।

पूर्व पक्ष—यज्ञदत्त इति सन्निकर्षे प्रत्यक्षाभावाद् दृष्टं लिंग न विद्यते ॥६॥

अर्थ - "यह यज्ञदत्त है" यदि सन्निकर्ष के होने पर ऐसा विचार किया जाय वहाँ आत्मा देखा नहीं जाता अर्थात आत्मा का प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञान नहीं होता और नहीं प्रत्यक्ष के न होने पर दृष्ट सम्बन्ध से सिद्ध कोई लिंग है जैसे अग्नि और धूप ने सम्बन्ध को प्रत्यक्ष प्रमाण से जान कर धूप की विद्यमानता को अग्नि की विद्यमानता का लिंग समझते है। एक ही आत्मा के प्रत्यक्ष न होने से उसका लिंग नियत नहीं हो सकता इसलिये आत्मा कि सत्ता को सिद्ध करने वाला कोई लिंग नहीं जिससे अनुमान किया जावे। प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से आत्मा की सिद्धि न होने से उसकी सत्ता का मानना ठीक नहीं हो सकता।

दूसरा पूर्व पक्ष—सामान्यतो दृष्टाच्चाविशेषः ॥७॥

अर्थ–यदि कहो कि प्रत्यक्ष से व्याप्ति ने सिद्ध होने पर समान्य दृष्ट से इन्द्रियों का आत्मा की उपस्थिति में होना लिंग हो जावेगा तो

उससे अनुमान हो ही नहीं सकता क्योंकि अनुमान प्रत्यक्ष से व्याप्ति का ज्ञान प्राप्त करके हुआ करता है। जहां व्याप्ति सिद्ध ही न हो वहां अनुमान किस प्रकार हो सकता हैं क्योंकि इच्छा-द्वेष और सुख-दुःख आदि आठ द्रव्यों के सहारे नहीं रहते, इससे अनुमान होता है कि ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि इनसे आत्मा की सिद्धि नहीं होती किन्तु सन्देह है कि ये किसके सहारे होते हैं ? अर्थात् ये मन के सहारे रहते हैं वा आत्मा के या किसी और के ! इससे यह निश्चयात्मक ज्ञान नहीं हो सकता कि इन्द्रियो से पृथक कोई आत्मा है।

प्रश्न — जब अनुमान और प्रत्यक्ष से नहीं जाना जाता तो आत्मा की सत्ता में प्रमाण क्या हैं जिससे लोगों ने आत्मा के होने को माना हुआ हैं ?

तस्मादागमिकः ।८॥

अर्थ—आत्मा की सत्ता उपनिषद आदि सब शास्त्रों से ही सिद्ध होती है। जो लोग आत्मा की सत्ता को मानते हैं उन्होंने शास्त्र हीं से इस बात को जाना है। बहुत जगह दिखाया है कि यह आत्मा जानने योग्य है इसलिये उसको शास्त्रों से सुनो अर्थात उनके गुणों को जानकर मनन करे। जो गुण आत्मा के बताये हैं वे हमारे शरीर में हो सकते है या शरीर से भिन्न कोई शक्ति है ? जब निश्चय हो जावे कि आत्मा से भिन्न है तब उसकी चित्त में धारणा करो। इस प्रकार के प्रमाणों से सिद्ध होता है।

अहमिति शब्दस्य व्यतिरेकान्ता नसिकम् ॥९॥

अर्थ—पूर्व के तीन सूत्रों में पूर्व पक्षी के प्रश्नों को रखकर अब सिद्धान्त (दर्शनकार) उसका उत्तर देते हैं आत्मा में केवलशास्त्र ही प्रमाण है अन्य कोई प्रमाण नहीं, यह ठीक नहीं है, क्योंकि "मैं हूं"

इस वाक्य के अर्थों के सदभाव का ज्ञान होता है जिससे अनुमान होता है कि आत्मा है क्योंकि मैं हूं इस वाक्य के कहने से जिसके होने को स्वीकार किया जाता है वह अवश्य हैं और वह अपने आपको पृथ्वी आदि से पृथक समझता है। इमसे "मैं" शब्द से जिसका ज्ञान होता है वह तत्वों से भिन्न हैं क्योंकि कभी यह विचार नहीं होता कि मं पृथ्वी हूं या जल हूं अथवा अग्नि, वायु वा आकाश हूं ? या काल हूं या दिशा हूं ?

प्रश्न—यह मान लिया जावे कि ज्ञान शरीर में होता है ?

उत्तर—तो ऐसा प्रत्येक शरीर में हो सकता है अर्थात दूसरे के शरीर को भी मैं हूं ऐसा मान सकते हैं परन्तु दूसरे के शरीर का 'मैं' कहने से सम्पूर्ण कथन ही बिगड़ जावेगा क्योंकि यह 'मैं' हमको दूसरे मनुष्यों से पृथक् करता है जिसकी वक्ता सर्वदा अपने ही लिये प्रयोग करता है। यदि "मैं" प्रत्येक शरीर के लिए प्रयूक्त होगा तो प्रथम मध्यम और उत्तम पुरुष की पहचान ही नहीं रहेगी। यदि प्रत्येक शरीर अपने को "मैं" कह सकता है तो मेरे शरीर में पीड़ा होती है यह ज्ञान असत्य होगा परन्तु ऐसा प्रयोग प्रत्येक समय किया जाता है जिसमें किसी प्रकार का दोष भी नही होता, इसलिये अपने शरीर के लिये मैं का प्रयोग नहीं होता किन्तु "मेरा" ऐसा प्रयोग किया जाता है, अतः जब कि यह शब्द आठ द्रव्यों की सत्ता को सूचित नहीं करता, तो शेष जो नवां है उसके लिये यह शब्द कहा जाता है, इसलिये "मैं" के कहने से आत्मा का अनुमान होता है।

प्रश्न यह अनुमान सामान्यतो दृष्ट हैं जिसमें दोष का होना सम्भव है, इसलिये इससे आत्मा होना सिद्ध नहीं होता ?

उत्तर—जब कि मन को सयोग से आत्मा का ज्ञान होता है जिससे कहता है 'मैं सुखी हूं'''मैं दुःखी हूं'' इससे सुख-दुःख का अनुभव करने

वाला आत्मा प्रतीत होता है और यह कोई नियम नहीं की अनुमान और शब्द से जानी हुई बात असत्य हो।

प्रश्न—शब्द और अनुमान से जो ज्ञान होता है वह मिथ्या ज्ञान को दूर करने के योग्य नहीं होता, क्योंकि केवल शब्द के सुनने से किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, किन्तु सुनने के उपरान्त मनन करने की आवश्यकता है, और मनन करने के लिए निदिध्यासन की आवश्यकता है जिससे उसका साक्षात्कार हो जावे।

उत्तर—भ्रम होना तो, किसी दोष के कारण, प्रत्येक प्रमाण से जाने हुए पदार्थ में सम्भव है। प्रायः प्रत्यक्ष में भी किसी कारण से धोखा हो जाता है। जबकि "मैं हूं" इस बात का सदैव एक ज्ञान होता है, तो मेरे होने में कोई सन्देह नहीं रहता। अब पूर्व पक्षी कहता है:

यदि दृष्टमः बृक्षमहं देवदत्तोऽहं यज्ञदत्त ॥१०॥

अर्थ—यदि इस प्रकार आत्मा का ज्ञान हो जाता है कि मैं देवदत्त हूं या मैं यज्ञदत्त हूं तो अनुमान अदि से उसके सिद्ध करने के परिश्रम से क्या लाभ, क्योंकि जब इन्द्रियों से जान लिया कि यह देवदत्त हैं और वह यज्ञदत्त है, तो जिस प्रकार हाथी को चिघाड़ते हुए देखकर अनुमान करने कि आवश्यकता नहीं रहती, इसी प्रकार यहाँ भी अनुमान करने की आवश्यकता ही क्या है ?

उत्तर—पक्षी उत्तर देता है:

दृष्ट आत्मनि लिंगे एक एव दृढत्वात् प्रत्यक्षवत् प्रत्ययः ॥११॥

अर्थ—इसी प्रकार परमात्मा को जान लेने पर भी उसका निश्चय ज्ञान होने के लिये अनुमान की आवश्यकता है जिससे वह ज्ञान सन्देह से रहित और निश्चयात्मक हो जावे। जिस प्रकार दूर से सरोवर को देख

वैशेषिक दर्शन भाषानुवाद

चतुर्थ अध्याय : प्रथम आह्निक

प्रश्न--नित्य किसको कहते हैं ?

सदकारणन्नित्यम् ॥१॥

अर्थ--जो वस्तु विद्यमान हो परन्तु अपनी सत्ता के लिये किसी दूसरे कारण की आवश्यकता न रखती हो वह नित्य है। सत् शब्द के अर्थ हैं कि जो तीनों कालों में रहे और कारण की आवश्यकता न रखे वह नित्य कहाता है। उसके विरुद्ध जो किसी काल में हो और किसी काल में न हो, जो अपनी सत्ता के लिये कारण की आवश्यकता रखता हो वह अनित्य है जो वस्तु उत्पत्ति रहित है वह नित्य है, और जो उत्पन्न हुई है वह अनित्य है, इसलिये प्रत्येक वस्तु का जो कार्य है, उसका कारण नित्य होगा, क्योंकि सम्पूर्ण अनित्य पदार्थ जिसकी अपेक्षा रखते होंगे, वह उनसे भिन्न होगा अर्थात् नित्य होगा, इसलिये सृष्टि के उपादान कारण प्रकृति और निमित्त कारण सृष्टि-कर्ता को नित्य मानना चाहिये।

प्रश्न--एक कर्त्ता को ही नित्य मानना चाहिये दूसरे को नित्य मानने की आवश्यकता नहीं ?

उत्तर--कारण के गुण के अनुसार ही कार्य में गुण होते हैं। यदि एक ही नित्य पदार्थ माना जावे तो सम्पूर्ण सृष्टि उसके गुणों के समान गुण रखने वाली होनी चाहिये। जितने आभूषण सुवर्ण के होंगे उन सबों में सुवर्ण के गुण पाये जावेंगे इसी प्रकार यदि

एक कर्त्ता के अतिरिक्त उपादान कारण प्रकृति आदि को नित्य न माना जावे तो सम्पूर्ण जगत् में परमेश्वर के गुण पाये जाने चाहियें, कोई विरुद्ध गुण होना ही नहीं चाहिये, क्योंकि एक वस्तु में दो विरुद्ध गुण रह नहीं सकते। परन्तु देखने से नितान्त इसके विरुद्ध पाया जाता है, इसलिये कर्त्ता के अतिरिक्त प्रकृति आदि को भी नित्य माना जावे यही ठीक है।

प्रश्न---अभाव से भाव की उत्पत्ति करना ही कर्त्ता का गुण है, और यदि कर्तृत्व है इसलिये कर्त्ता बिना उपादान कारण प्रकृति के भी, संसार को उत्पन्न कर सकता है।

उत्तर---यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति सम्भव है, तो संसार में अभाव से भावोत्पत्ति का दृष्टान्त मिलना चाहिये। द्वितीय, किसी रोग की चिकित्सा ही नहीं होनी चाहिये, क्योंकि प्रत्येक रोग का कारण अभाव हो सकता है। जो रोग किसी कारण से उत्पन्न हो तब तो उसके विरोधी से उसकी चिकित्सा हो सकती है। जब कोई कारण ही नहीं तो चिकित्सा किस प्रकार होगी? जब सारे रोगों का कारण अभाव ही है तो उसकी चिकित्सा किससे की जावे? कारण से कार्य की उत्पत्ति के तो सारे उदाहरण मिलते हैं परन्तु अभाव से भाव की उत्पत्ति का एक भी उदाहरण नहीं मिलता। इसलिये नित्य पदार्थ प्रकृति से ही परमात्मा सारे कार्य उत्पन्न करता है।

तस्य कार्यं लिंगम् ॥२॥

अर्थ---कारण जो नित्य है उसका लिंग कार्य है। कार्य ही से कारण का अनुमान किया जाता है, जैसे घड़े को देखकर उसके कारण पार्थिव परमाणुओं का अनुमान होता है। यदि मिट्टी के परमाणु पार्थिव नहीं होते उनका कार्य घड़ा कैसे बन सकता है? इसलिये परमाणु जो कि अनित्य द्रव्य के उपादान कारण हैं उनसे

और कार्य ये अवयवी और अवयव का सम्बन्ध होता है। घड़ा अवयवी है, और जिन परमाणुओं से वह बना है वे उसके अवयव हैं। इस अवयव अवयवी के सम्बन्ध से यह भी पता चलता है कि प्रत्येक कार्य के परमाणुओं की संख्या नियत है। छोटी वस्तु में थोड़े परमाणु और बड़ी वस्तु में अधिक परमाणु होते हैं।

प्रश्न – प्रत्येक वस्तु में अनन्त परमाणु होते हैं, इसलिये उनकी गिनती और अन्त नहीं हो सकता।

उत्तर—यदि प्रत्येक कार्य में अनन्त परमाणु मान लिए जावें तो हिमालय पर्वत और सरसों के दानों में कोई अन्तर नहीं रहेगा क्योंकि दोनों ही अनन्त परमाणुओं का समूह है। इसलिये परमाणुओं की संख्या अर्थात अन्त मानना पड़ेगा।

प्रश्न—परमाणुओं का होना ही असम्भव है क्योंकि जब दो परमाणु आपस में मिलेगें तो वे दोनों एक दूसरे में समा जायेगें या एक ओर से मिलेगें ? यदि एक ओर से मिलेगें तो विभाग होना सिद्ध होगा, क्योंकि दोनों पार्श्वों में कुछ अन्तर न होगा ? यदि सारे के सारे एक दूसरे में समा जायेंगे तो यह होना असम्भव है !

उत्तर—परमाणु दूसरे के साथ एक ओर से मिलते हैं परन्तु दो पार्श्व होने से विभाग सिद्ध नहीं होता किन्तु बीच में आकाश होने से विभाग उत्पन्न होता है। परमाणुओं के पार्श्वों में आकाश नहीं इसलिये आकाश सम्भव नहीं।

प्रश्न – परमाणुओं का होना असम्भव है, क्योंकि परमाणुओं से यदि एक रेखा बनाई जावे और रेखा गणित के नियम के अनुसार उसको बिभक्त करना हो तो या तो विभाग असंभव होगा या साढ़े चार पर विभक्त होने से परमाणु में विभाग होगा।

उत्तर—सृष्टि उत्पन्न होने का क्रम यह है कि प्रथम ही प्रथम परमाणुओं से द्वयणुक बनते हैं और द्वयणुक त्रसरेणुक आदि होते हुए

सृष्टि उत्पन्न होती है। सीधे परमाणुओं से सृष्टि नहीं बनती, इसलिए विषम परमाणुओं से कोई रेखा बन ही नहीं सकती, क्योंकि यह सृष्टि नियम के विरुद्ध है।

कारणाभावात् कार्याभावः ॥३॥

अर्थ - कारण के प्रभाव से कार्य का अभाव होता है, परन्तु यह नियम नहीं कि कार्य के अभाव से कारण का भी अभाव हो। यदि सृष्टि का कारण परमाणु नहीं तो सृष्टि का उत्पन्न होना हो सम्भव नहीं क्योंकि उपादान कारण का नियम संसार में देखा जाता है। यदि कार्य-कारण का नियम संसार में न हो तो कोई मनुष्य किस प्रकार किसी वस्तु को लेकर कार्य आरम्भ करें, इसलिये जो गुण कार्य में आते हैं। जैसे घड़े आदि में होते हैं कि यदि पीतल से बने तो पीतल के गुण, लोहे से बने तो लोहे के गुण और मिट्टी से बने तो उसमें मिट्टी के गुण अवश्य पाये जावेंगे।

प्रश्न - कार्य और कारण ये पदार्थ नित्य होते हैं, इस लिये कारण कार्य का सम्बन्ध ही नहीं होता।

उत्तर—अनित्य इति विशेषतः प्रतिषेधभावः ॥४॥

अर्थ—जो वस्तु सावयव है वह संयुक्त होने के पूर्व न होने से और जिन पदार्थों से वह संयुक्त हुई है उसकी सत्ता के बिना उसकी सत्ता न होने से नित्य नहीं किन्तु प्रत्येक वस्तु जो सावयव है अनित्य है। जो लोग सारी वस्तुओं को अनित्य कहते हैं यह ठीक नही है, क्योंकि अनित्य कहने से विशेष कर सावयव पदार्थों को अनित्य बताया है। सबका अनित्य होना नहीं, इसलिये सावयव पदार्थ अनित्य और निरवयव पदार्थ नित्य होता है। जगत् के उपादान कारण परमाणु असंयुक्त है इसलिये नित्य है। जहाँ जगत को अनित्य बताया है

अहमिति मुख्ययोग्याभ्यां शब्दवद् व्यतिरेकाव्यभि-चाराद्विशेषसिद्धेर्नागमिकः ॥१८॥

अर्थ--"मैं हूं" ऐसा ज्ञान आत्मा की सत्ता को बतलाने वाला है शरीर का बतलाने वाला नहीं, यह केवल शास्त्रों से सुना हुआ नहीं प्रत्युत मन से प्रत्यक्ष होता है जिससे वह अपने आपको सुखी वा दुःखी मानता है। जिस प्रकार व्यतिरेक अर्थात् पृथक करने से शब्द गुण बिना किसी व्यभिचार के आकाश में सिद्ध हो चुका है। इसी प्रकार "मैं" इस शब्द का प्रयोग भी व्यतिरेक से आत्मा के आश्रय सिद्ध होता है जबकि आठों द्रव्यों में इस शब्द का प्रयोग हो ही नहीं सकता तो उसका कार्य शरीर में किस प्रकार हो सकता है ? इसलिये व्यभिचार दोष से रहित "मैं" शब्द आत्मा के आश्रय व्यतिरेक से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है।

प्रश्न--प्रत्यक्ष सावयव और मूर्तिमान् पदार्थ का हो सकता है, आत्मा निरवयव है रूप रहित है, इसलिये उसका प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता। जब आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं तो "मैं" इस शब्द का आश्रय शरीर को ही मानना चाहिये क्योंकि जैसे 'मैं मोटा हूं' 'मैं दुबला हूं,' 'गोरा हूं, काला हूं', इस ज्ञान का आश्रय उपचार से शरीर की जगह आत्मा को मानते हो ऐसे ही "मैं" "सुखी और दुःखी हूँ" को भी शरीर ही मानो।

उत्तर--यह जो कुछ कहा गया कि प्रत्यक्ष मूर्तिमान् और सावयव पदार्थ का होता है, यह नियम केवल बाह्य प्रत्यक्ष के लिये है मन के प्रत्यक्ष के लिये यह नियम नहीं है। मन निराकार और निरवयव पदार्थ का भी अनुभव कर सकता है, जैसे सुख दुःख कोई सावयव और साकार वस्तु नहीं ? परन्तु उसका प्रत्यक्ष मन से ही होता है ऐसे ही आत्मा का प्रत्यक्ष भी मन से ही होता है।

प्रश्न---सुख दुःख गुण हैं, उनका आश्रय होना चाहिये और आश्रय कोई प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं होता, इसलिये उनका आश्रय शरीर ही समझना चाहिये, जैसे गर्म और सुगन्धित जल में गर्मी और सुगन्ध का कोई आश्रय न देखकर उसको जल में ही समझते हैं।

उत्तर--सुख दुःख आश्रय रहित नहीं किन्तु उनका आश्रय मन और आत्मा है, जैसे पानी में गर्मी आश्रय से रहित नहीं, किन्तु तेज जो जल से सूक्ष्म है वह उसमें विद्यमान है उस तेज के गुण गर्मी को उपचार से पानी में मानते हैं। ऐसे ही शरीर में सूक्ष्म आत्मा विद्यमान है और उसके गुणों का उपचार से शरीर में होना मानते हैं। इसलिये ज्ञान का अधिकरण आत्मा है यह प्रत्यक्ष से प्रतीत होता हैं आत्मा के होने को सिद्ध करके अब उसके एक वा बहुत होने का विचार करते हैं। पहिले पूर्व पक्ष बतलाते हैं कि आत्मा एक है।

सुखदःखज्ञाननिष्पत्यविशेषादैकात्म्यम् ॥१६॥

अर्थ--सुख दुख और ज्ञान का होना भिन्न-भिन्न शरीर में सामान्यतया पाया जाता है, और किसी प्रकार की विशेषता प्रतीत नहीं होती है, इससे सिद्ध होता है कि आत्मा एक ही है। जिस प्रकार असंख्य घड़ों में रहने वाला पानी एक ही होता है, क्योंकि उसमें पानी के गुण सामान्यतया पाये जाते हैं, ऐसे ही असंख्य शरीरों में आत्मा एक ही है क्योंकि आत्मा के गुण सामान्यतया पाये जाते हैं। जैसे आकाश काल और दिशा का लिंग विशेषता से रहित होने से उनको एक ही मानना पड़ता है, उनके भेद केवल उपाधि से माने जाते है, ऐसे ही आत्मा भी एक ही है। उसके लिंग सुख दुःख और ज्ञान में भेद उत्पन्न करने वाली कोई विशेषता नहीं पाई जाती इस पूर्व पक्ष का उत्तर अगले सूत्र में देते हैं :—

व्यवस्थातो नाना ॥२०॥

अर्थ सुख दुःख और ज्ञान की व्यवस्था करने से सिद्ध होता है कि आत्मा अनेक हैं यदि एक ही आत्मा होता तो कोई मनुष्य सुख का और कोई दुःख का अनुभव नहीं करता। कोई मूर्ख है कोई विद्वान् है। इसी प्रकार की अवस्थाओं से ज्ञात होता है कि आत्मा अनेक है। यदि किसी पात्र में लाल रंग का जल हो और किसी में काला, तो उनको एक नहीं कहते, इसलिये भिन्न-भिन्न अवस्थाएं एक ही समय में एक आत्मा की सम्भव नहीं।

प्रश्न—जिस प्रकार एक ही शरीर की लड़कपन, युवावस्था और बुढ़ापा आदि अनेक अवस्थाएं होती हैं और शरीर एक ही होता है ऐसे ही एक आत्मा की भी अनेक अवस्थायें हो सकती हैं।

उत्तर शरीर जिस समय बालक होता है उस समय युवा नहीं होता, और जब युवा होता है उस समय वृद्ध नहीं होता, परन्तु एक ही समय में कोई सुखी कोई दुःखी कोई मूर्ख और कोई विद्वान् पाये जाते हैं, इसलिये यह अवस्थाओं का परिणाम नहीं अर्थात् लौट-बदल शरीर की अवस्थाओं के समान नहीं है। अतः आत्मा को अनेक ही मानना पड़ेगा।

प्रश्न--जिस प्रकार अनेक घड़ों में एक ही सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है, अब जो घड़ा चलता है उसमें तो सूर्य चलता प्रतीत होता है, और जो घड़ा ठहरा हुआ है उसमें सूर्य भी ठहरा हुआ ज्ञात होता है, इसी प्रकार नाना अन्तःकरणों के साथ आत्मा का सम्बन्ध है जो अन्तःकरण दुःखी है उसका आत्मा दुःख को अनुभव करता है, और जो अन्तःकरण सुखी है उसका आत्मा सुखी प्रतीत होता है, जो अन्तःकरण निर्मल है उसका आत्मा ज्ञानी प्रतीत होता है और जो अन्तःकरण मलिन है उसका आत्मा अज्ञानी प्रतीत होता है।

उत्तर--यदि सुखी दु:ख और ज्ञान का आश्रय अन्त:करण होता तो यह हेतु ठीक होता परन्तु अन्त:करण साधन है और उसका भेद स्वयं है या उसका कोई कारण है ? जिस प्रकार घड़े का चलना किसी दूसरे निमित्त से हो सकता है, बिना किसी कारण के घड़ा नहीं चल सकता, इसी प्रकार अन्त:करण बिना आत्मा के जड़ होने से कुछ कर ही नहीं सकता फिर उसका अवस्था-भेद किस प्रकार माना जा सकता है ? जब उसमें अवस्था भेद नहीं तो आकाश में अवस्था भेद किस प्रकार हो सकता है ? दूसरे अन्त:करण और आत्मा में कितना अन्तर है। जिससे अन्त:करण पर आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है ? आत्मा अन्त:करण के भीतर बाहर व्यापक है इसलिये यह बिचार ठीक नहीं। इससे आत्मा का अनेक होना ही मानना ठीक है। इसके लिये दूसरा प्रमाण और देते हैं :—

शास्त्रसामर्थ्याच्च ॥२१॥

अर्थ—वेद के उपदेश से भी आत्मा का अनेक होना सिद्ध होता है, जैसे "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्व जाते"। इत्यादि, इसी प्रकार के और बहुत से वाक्यों से सिद्ध है कि सुख दु:ख के भेद से आत्मा माना है। पहिला स्वाभाविक सुख स्वरूप है और दूसरा नैमित्तिक सुख दु:ख का ग्रहण करने वाला है अर्थात् एक परमात्मा और दूसरा जीवात्मा है। जहाँ तक पता लगाया जावे तो सिद्ध होता है कि जीव ब्रह्म का भेद है। ब्रह्म स्वरूप से विभु होने से आत्मा कहाता है, फिर जीवों में दो भेद हैं—एकबद्ध जीव दूसरे मुक्त जीव जिनको नवीन वेदान्ती जीव और ईश्वर बतलाते हैं।

वैशेषिक दर्शन के भाषानुवाद का तृतीय अध्याय
समाप्त हुआ।

जगत् को अनित्य बताया है वहाँ जगत् से आशय उत्पन्न होने वाली वस्तु से है। नित्य परमाणु की अनित्य नहीं कहा।

प्रश्न—बहुत से लोग तो सारे ही पदार्थों को अनित्य मानते हैं!

अविद्या ॥५॥

अर्थ—जो लोग सारे पदार्थों को अनित्य मानते हैं वे परमाणुओं को भी अनित्य मानते हैं और उनके अनित्य होने में हेतु यह देते है कि परमाणु रूप, रस, गन्ध और स्पर्श वाले हैं। इसलिये अनित्य हैं। दूसरे परमाणु की कुछ न कुछ मूर्ति है, और प्रत्येक ओर से दूसरे परमाणुओं के साथ मिलाप होने से परमाणु के मध्य में आकाश होना सम्भव होने से और आकाश के होने से एक में दूसरा समा जाने से परमाणु सावयव है। इसका उत्तर कणाद जी देते हैं कि यह अविद्या है। वास्तव में परमाणु नित्य ही है।

उत्तर—परमाणु के भीतर आकाश है वा नहीं?

उत्तर—परमाणु के लिये भीतर बाहर का शब्द ही नहीं आ सकता, क्योंकि उस शब्द का अर्थ परमाणु हैं जहां भीतर बाहर न हो। जहां भीतर बाहर होगा वह परमाणु ही नहीं होगा। और परमाणु के भीतर आकाश कैसे हो सकता है, क्योंकि आकाश में परमाणु हैं। आकाश कहते हैं पोल को जिस जगह परमाणु है वहाँ आकाश नही क्योंकि वह स्थान परमाणु ने घेर लिया है।

प्रश्न—यदि परमाणु के भीतर आकाश न माना जायेगा तो आकाश सर्वव्यापक नहीं रहेगा?

उत्तर—निरवयव परमाणु के भीतर न होने से आकाश की सर्व-व्यापकता में अन्तर नहीं आ सकता, और आकाश जब कि पूर्व में विद्यमान था जहाँ अब परमाणु है तो किस प्रकार कह सकते हैं कि आकाश सर्व व्यापक नहीं। इसलिये जितने हेतु परमाणुओं के अनित्य होने में दिये जाते हैं वह सब अविद्या हैं

प्रश्न– यदि परमाणु है तो उसका प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता ?

उत्तर—महत्यनेकद्रव्यत्वाद् रूपाच्चोपलब्धिः ॥६॥

अर्थ—प्रत्यक्ष उन वस्तुओं का होता है जिनका परिमाण महत्–बड़ा हो, माध्यम परिमाण वाली हों। क्योंकि न तो सबसे सूक्ष्म पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है जैसे परमाणु और न सर्वव्यापक का प्रत्यक्ष होता है जैसे आकाश और परमात्मा। इसके अतिरिक्त एक द्रव्य का भी प्रत्यक्ष नहीं होता किन्तु सावयव का प्रत्यक्ष हो सकता है, परन्तु वायु सावयब और महान होने पर भी दृष्टिगत नहीं होती, इसलिये बतलाया कि जिसमें रूप विद्यमान हो उसको आंख देख सकती है। जब कि वायु में रूप नहीं इसलिये उसको आंख नही देख सकती। परमाणु जब कि महत् परिमाण वाला और सावयव नहीं है, किन्तु एक द्रव्य निरवयव है और प्रत्यक्ष अनेक द्रव्य वाले=सावयव का हो सकता हैं, इसलिये प्रत्येक प्रकार के गुण रखने वाले परमाणु को भी नहीं देख सकते।

प्रश्न–जो गुण कारण में होते हैं वही कार्य में भी होते हैं। जब कि परमाणुओं से बने हुये कार्य द्रव्यों में महत्व=बड़ापन पाया जाता है तो उस द्रव्य के कारण परमाणुओं में भी अवश्य होगा। इस प्रकार जब परमाणुओं में बड़ापन है तो परमाणु का प्रत्यक्ष अवश्य होना चाहिये।

उत्तर–गुण तीन प्रकार के होते हैं-स्वाभाविक, नैमित्तक, और औपाधिक। स्वाभाविक गुण कारण से कार्य में आया करता है। नैमित्तिक गुण या तो संयोग से उत्पन्न होते हैं या किसी दूसरे सूक्ष्म द्रव्य से उसमें आ जाते हैं। जैसे पानी में सरदी उसके कारण परमाणुओं से आती है जो उसका स्वाभाविक गुण है, परन्तु गर्मी उसमें अग्नि का प्रवेश कर जाने से है जो नैमित्तिक गुण हैं। जहां नीचे लाल रंग का

डाट लगा हो और ऊपर श्वेत नगीना लगा हो, वहां पर लाली औपाधिक होती है जो कि लाल डाट के कारण प्रतीत होती है। अब विचार करना चाहिये कि बड़ापन संयोग से उत्पन्न हुआ है या बड़ापन नैमित्तिक गुण है, जो अनेक द्रव्यों के मिलने से उत्पन्न होता है, इसलिये परमाणु के एक द्रव्य होने से उसमें बड़ापन नहीं अतः परमाणु का प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता।

सत्यपि द्रव्यत्वे महत्वे रूपसंस्काराभावाद् वायोरनुपलब्धिः ।७।

अर्थ यद्यपि वायु द्रव्य है, और अनेक परमाणु रूप द्रव्यों के संयोग से उत्पन्न होने वाली होने से बड़ापन भी उसमें विद्यमान है तो भी रूप का संस्कार न होने से वायु में रूप का ज्ञान नहीं होता। आचार्य ने जो रूप का संस्कार न होना लिखा है, उसका आशय यह है कि स्थूल के गुण सूक्ष्म में नहीं आते। रूप तेज का गुण है और वायु अग्नि से सूक्ष्म है, इसलिये अग्नि का गुण रूप धातु में नहीं आ सकता, अर्थात् वायु इस योग्य नहीं कि उसमें अग्नि का गुण रूप आ सके क्योंकि यह उस वायु के स्थूल अग्नि का है।

प्रश्न – इसमें क्या प्रमाण है कि वायु अग्नि से सूक्ष्म है ? बुद्धि से यह सिद्ध होता है कि अग्नि वायु से सूक्ष्म है।

उत्तर – अग्नि में दो गुण रूप और स्पर्श पाये जाते हैं, और वायु में केवल स्पर्श गुण ही पाया जाता है और रूप नहीं पाया जाता इससे स्पष्ट है कि वायु सूक्ष्म है क्योंकि वायु का गुण स्पर्श तो अग्नि में भी पाया जाता है, परन्तु अग्नि का गुण रूप वायु में नहीं पाया जाता।

तो उस ठोसपन को दूर होने से गन्ध का गुण अवश्य ही प्रत्यक्ष होगा।

प्रश्न—यदि गुणों का प्रत्यक्ष होना अनेक द्रव्यों के मिलने और उनमें विशेषकर उस गुण वाले परमाणु के होने की अवस्था में ही माना जावे तो गुरुत्व (भारीपन) जो गुण है और जिस वस्तु में रूप रहता है उसमें गुरुत्व भी रहता है, गुरुत्व का प्रत्यक्ष न होने से इस नियम में व्यभिचार प्रतीत होता है अर्थात् किस गुण का प्रत्यक्ष होता है किसका नहीं ?

तस्याभावादव्यभिचारः ॥१०॥

अर्थ—जिस हेतु से व्यभिचार दोष दिया गया अर्थात् यह बतलाया गया है कि जिस अनेक द्रव्यों के मिले हुये पदार्थ में रूप रहता है, उसमें गुरुत्व भी रहता है, इसलिये गुरुत्व का भी प्रत्यक्ष होना चाहिये परन्तु एक ही अधिकरण में दो गुणों के रहने से यह आवश्यक नहीं कि दोनों का प्रत्यक्ष हो। यदि यह सार्वत्रिक नियम होता कि एक ही इन्द्रिय से एक अधिकरण में रहने वाले गुणों का प्रत्यक्ष हो जावे, उस अवस्था में व्यभिचार हो सकता था, परन्तु यह नियम ही नहीं, इसलिये व्यभिचार भी नहीं है। गुरुत्व और रूप को एक ही द्रव्य में रहता हुआ जानकर उनके प्रत्यक्ष होने का विचार करना ही अविद्या है। प्रथम तो दोनों का अधिकरण ही एक नहीं, क्योंकि रूप तो अग्नि का गुण है और गुरुत्व पृथ्वी के आकर्षण से प्रतीत होता है। जब दोनों का अधिकरण ही एक नहीं तो एक अधिकरण कहना बुद्धि को धोखा होने के कारण है। दूसरे एक अधिकरण में रहने वाले दो गुणों का एक इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होता। जैसे अग्नि में रूप और गरमी है। परन्तु आंख से रूप का ज्ञान होता है, परन्तु गरमी का ज्ञान नहीं होता है, क्योंकि आंख केवल रूप का ग्रहण करती है, यदि गुरुत्व में रूप होता तो आंख उसका भी ग्रहण कर लेती, परन्तु नियम तो यह है कि गुण में

गुण हो नहीं सकता । फिर गुरुत्व गुण में रूप गुण कैसे रह सकता है ? जब गुरुत्व में रूप नहीं तो उसको किस प्रकार देखते ? इसलिये इन बातों के न होने से व्यभिचार नहीं है। आशय यह है कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द इन्हीं का ज्ञान नियम से होता है ।

संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वा-परत्वे कर्म च रूपिद्रव्यसमवायाच्चाक्षुपाणि ॥११॥

अर्थ---संख्या और परिमाण, पृथक्त्व, मिलना, अलग होना, परे होना, वरे होना ये सावयव पदार्थों में होने से आँख से देखने योग्य हैं । आशय यह है कि इन गुणों का आँख से प्रत्यक्ष हो सकता है, जैसे पाँच मनुष्य खड़े हैं तो उनकी संख्या का ज्ञान हमको आँख से होता है । किसी चीज से कोई छोटी है या बड़ी है, इस छोटाई-बड़ाई का ज्ञान भी आँख से हो जाता है, यदि बहुत सी वस्तुओं से कोई वस्तु पृथक् है तो उसकी पृथक्ता को भी हम आँख से देख सकते हैं । कोई वस्तु जब कभी किसी वस्तु से मिलती है, या अलग होती है तो उसके मिलने या अलग होने को हम आँख से देख सकते हैं । यह इससे वरे है इसका ज्ञान भी आँख से हो जाता है परन्तु यह ध्यान रहे कि जो वरे परे देश के कारण होगा उनका ज्ञान आँख से हो सकेगा और जहाँ कालकृत होगा वहाँ पर आँख से ज्ञान नहीं होगा । इन सब गुणों और कर्म का ज्ञान भी सक्रिय वस्तुओं को क्रिया करते हुये देखकर, आँख से हो जाता है । आँख के अतिरिक्त इन बातों का ज्ञान त्वचा से भी होता है । यद्यपि सूत्र में त्वचा शब्द नहीं, परन्तु क्रम से सिद्ध होता है कि पहिले पाँच गुण तो एक इन्द्रिय से अनुभव होने वाले थे और ये गुण दो इन्द्रियों अर्थात् त्वचा और आँख से प्रतीत होते हैं ।

प्रश्न---क्या प्रत्येक वस्तु की संख्या आदि का ज्ञान आँख से ही जाता है ? या केवल रूप वाली वस्तु का ?

अरूपिष्वचाक्षुषाणि ॥१२॥

अर्थ--संख्या आदि रूप वाले द्रव्यों में रहने की अवस्था में ही आँख से प्रतीत होती हैं। जब आत्मा आदि रूप रहित वस्तुओं की संख्या आदि जानना चाहें तो वह आँख से नहीं जानी जायेंगी। आशय यह है कि जिस वस्तु में रूप है उसकी संख्या और पृथक्ता आदि आँख से जानी जावेंगी। जिनमें रूप नहीं है उनकी संख्या आँख व त्वचा से नहीं जानी जाती।

प्रश्न--क्या रूप रहित वस्तु की संख्या आदि का ज्ञान किसी प्रकार भी प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता ?

उत्तर....सूत्रकार ने यह नहीं कहा कि प्रत्यक्ष नहीं होता किन्तु यह कहा है कि आँख और त्वचा से नहीं जाना जाता।

एतेन गुणत्वे भावे च सर्वेन्द्रियं ज्ञानं व्याख्यातम् ॥१३॥

अर्थ--रूप आदि पाँच गुणों का आँख आदि एक-एक इन्द्रिय से ज्ञान होता है, और संख्या आदि का दो-दो इन्द्रियों से, और सुख दुःख का मन से परन्तु भाव (होना) का ज्ञान प्रत्येक इन्द्रिय से हो जाता है, क्योंकि भाव और गुण का धर्म सामान्य है और यह नियम है कि जिस द्रव्य के देखने का ज्ञान इन्द्रिय से हो सकता है उसकी जाति का भी ज्ञान हो सकता है इसलिये जिन इन्द्रियों से गुणों का ज्ञान हो सकता है उन्हीं इन्द्रियों से गुणों में रहने वाली जाति अर्थात गुणपन का भी ज्ञान हो सकता है, यह परिणाम निकलता है।

● चतुर्थ अध्याय का पहिला आह्निक समाप्त ●

अध्याय चौथा, दूसरा आह्निक

द्रव्य और गुणों की परीक्षा करके पृथ्वी आदि कार्यों की जांच करते हैं—

तत् पुनः पृथिव्यादिकार्य्यं द्रव्यं त्रिविधं शरीरेन्द्रिय-विषयसंज्ञकम् ॥१॥

अर्थ– पृथ्वी आदि के कार्य तीन प्रकार के होते हैं, एक शरीर, दूसरे इन्द्रिय और तीसरे विषय जो भोगे जाते हैं।

प्रश्न– शरीर किसे कहते हैं ?

उत्तर– भोग करने के लिये जीवात्मा को जो बतौर मकान के मिलता है वा जिसमें रहकर इन्द्रियों के विषयों के साथ जीवात्मा का सम्बन्ध होता है वह शरीर है। यह शरीर तीन प्रकार का है एक कर्त्तव्य योनि जिसमें रहकर जीवात्मा किसी पूर्व कर्म का फल नहीं भोगता किन्तु भोग के लिये कर्म करता है। दूसरे कर्त्तव्य और भोक्तव्य योनि, जिसमें रहकर जीवात्मा पहले कर्मों का पाप और पुण्य भोगता है और आगे के लिये कर्म करता है। तीसरे भोक्तव्य योनि जिसमें रहकर केवल पिछले कर्मों की बुरी वासना वा बुरे संस्कारों को भुलाने के लिये उसके स्वतन्त्र न होने से केवल फल ही भोगता है, आगे के लिये स्वतन्त्रता से कर्म नहीं करता। इन्द्रिय जो जीवात्मा के कर्म करने और फल भोगने के लिये साधन हैं जिनसे कर्म करता है और फल भोगता है। और विषय वह है जो इन इन्द्रियों से प्राप्त किये जाते हैं जिसको जीवात्मा अपने अनुकल या प्रतिकल मानकर सुख दुःख का अनुभव करता है। आशय

यह है कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के कार्य तीन प्रकार के होते हैं।

प्रश्न–एक तत्त्व अर्थात् पृथ्वी आदि से शरीर की उत्पत्ति मानना ठीक नहीं किन्तु यह पञ्चभूतों से बना हुआ है ?

उत्तर—प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां संयोगस्याप्रत्यक्षत्वात् पञ्चात्मकं न विद्यते ।।२।।

अर्थ–शरीर आदि को पांचों भूतों का कार्य कहना ठीक नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष होने योग्य पृथ्वी और अग्नि का न प्रत्यक्ष, होने योग्य वायु और आकाश से मिल जाना प्रत्यक्ष मे सिद्ध नहीं होता। यदि पाँच भूतों से शरीर का बनना सिद्ध हो तो वायु और आकाश से बना हुआ शरीर जो प्रत्यक्ष होने योग्य नहीं, पानी और अग्नि से मिलकर बनता है या तो बिलकुल प्रत्यक्ष न होता या कुछ प्रत्यक्ष होता या कुछ न होता। इसलिये पाँच भूतों से बना हुआ शरीर नहीं।

प्रश्न–तो क्या तीन भूतों से, जो प्रत्यक्ष होने योग्य हैं, यह शरीर बनता है अर्थात् मिट्टी, जल और अग्नि से उत्पन्न हुआ है ?

गुणान्तराप्रादुर्भावाच्च न त्र्यात्मकम् ।।३।।

अर्थ–यदि मिट्टी, पानी और आग के मिलने से यह शरीर बनता, तो पानी के गुण सरदी और बहना, अग्नि का गुण गर्मी और प्रकाश इसमें पाया जाता, परन्तु ऐसा नहीं पाया जाता किन्तु आत्मा से शून्य शरीर में गन्ध की अधिकता प्रतीत होने से विदित होता है कि यह शरीर पार्थिव है।

प्रश्न—शरीर में गरमी और रूप के होने से आग का होना और सर्दी और संयोग के पाये जाने से जल का होना पाया जाता है।

उत्तर–शरीर में गरमी नैमित्तिक है, और प्राण वायु अर्थात् अग्नि से मिली हुई वायु के उसमें रहने से प्रतीत होती है। और मुर्दा शरीर में गरमी नहीं पाई जाती। ऐसे ही गर्मी और सर्दी भी भोजन और जल के कारण जो खाया-पिया जाता है प्रतीत होती है वास्तव में शरीर पार्थिव है उसका स्वभाविक गुण गन्ध है और शेष नैमित्तिक हैं। यहाँ पर कणादजी का तात्पर्य यह है कि समवाय सम्बन्ध से शरीर का कारण मिट्टी है।

प्रश्न–यदि यह शरीर पाँच भूत या तीन भूतों अर्थात् मिट्टी, पानी और अग्नि आदि से नहीं बना तो उसनें भोजन पचाने की शक्ति जो अग्नि है और रूप आदि उसमें क्यों पाये जाते हैं ? उन गुणों के होने से शरीर का पाँचभौतिक होना पाया जाता है ?

उत्तर—अणुसंयोगस्त्वप्रतिषिद्धः ॥४॥

अर्थ–पूर्व सूत्र में जो अग्नि, जल आदि पञ्चभूतों से शरीर न बनने का खण्डन किया गया है अर्थात् यह बतलाया गया है कि दूसरी जाति के परमाणु किसी वस्तु के समवाय कारण नहीं होते, परन्तु परमात्मा के नियम से पञ्चभूतों के परमाणुओं के संयोग का निषेध नहीं किया गया था। इसलिये उनके संयोग से भोजन आदि पचता है, और रूप आदि का होना भी बतलाया गया है। परन्तु यदि कोई यह प्रश्न करे कि शरीर का सबसे प्रथम उपादान कारण कौन सा है तो उसका उत्तर यह होगा कि अधिकतया मिट्टी से बना है, क्योंकि शरीर में उसके गुण अधिकता से पाये जाते हैं। गन्ध मिट्टी का स्वाभाविक गुण है। यह शरीर के नाश होने तक मृत शरीर में भी पाया जाता है, और भोजन का पचना आदि मृत शरीर में नहीं पाये जाते इसलिये शेष गुण नैमित्तिक और गन्ध गुण

स्वाभाविक है। गन्ध के स्वाभाविक होने से शरीर का पार्थिव होना सिद्ध है।

अब शरीर के प्रकार वर्णन करते हैं—

तत्र शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजं च ॥५॥

अर्थ—यह शरीर दो प्रकार का होता है—एक योनिज अर्थात् माता-पिता के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाला, दूसरा आयोनिज अर्थात् विना माता-पिता के सम्बन्ध से होने वाला। अयोनिज शरीर सृष्टि के आदि में, बिना माता-पिता के, ऋषियों का होता है, जो मुक्ति से लौटे हुए होने के कारण किसी कर्म का फलभोग न होने से केवल नये कर्म करने के लिए युवावस्था में होता है, इसको कर्त्तव्य योनि अर्थात् केवल भोग के लिये कर्म करने योग्य शरीर कहते हैं। योनि अर्थात् माता-पिता के संयोग से उत्पन्न होने वाले शरीर दो प्रकार के होते हैं। एक जरायुज अर्थात मनुष्य और पशु आदि जो जरायु से उत्पन्न होते हैं, दूसरे अण्डज अर्थात् अण्डे से उत्पन्न होमे वाले पक्षी और सूर्य आदि के शरीर।

प्रश्न—अयोनिज शरीर का होना सम्भव नहीं प्रतीत होता क्योंकि यह सृष्टि नियम के विरुद्ध है?

उत्तर—अयोनिज शरीर बुद्धि के विरुद्ध नहीं क्योंकि पसीने से उत्पन्न होने वाले अब भी बिना माता-पिता के उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक वैदिक सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए परमात्मा ने सृष्टि में दृष्टान्त दिया हुआ है, इसलिए देव ऋषियों के उत्पत्ति को बिना माता-पिता के सिद्ध करने के लिए दृष्टान्त की रीति पर स्वदेज अर्थात् मैल से उत्पन्न होने वाले जन्तु विद्यमान हैं।

प्रश्न---बिना शरीर के उत्पन्न होने का कारण क्या है क्योंकि बिना कारण के कोई कार्य नहीं हो सकता?

अनियतदिग्देशपूर्वकत्वात् ॥६॥

अर्थ–परमाणु देश और दिशा से बन्धे हुए नहीं किन्तु प्रत्येक देश और दिशा में परमाणु विद्यमान हैं जो ईश्वर के नियम से चेष्टा पाकर मिल जाते हैं पहिले परमाणु दूसरे परमाणु से मिलकर द्वयणुक बनते हैं। और इसी प्रकार क्रम से मिले हुए शरीर बन जाते हैं। इसमें उन जीवात्माओं के मुक्ति से लौटे हुए होने के विशेष गुण के कारण से उनके शरीर बनने के लिए यह विशेष नियम है। क्योंकि प्रत्येक प्रकार के शरीर और उनमें जाने को नियम जीवात्मा की अवस्थाओं के अनुसार ही पृथक्-पृथक् है। इसी प्रकार मुक्त जीव को पुनः सृष्टि में आने के लिए यह विशेष नियम है।

प्रश्न–परमाणु बिना क्रिया के मिल ही नहीं सकते, क्योंकि संयोग की उत्पत्ति कर्म से है और बिना संयोग के वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती।

धर्म-विशेषाच्च ॥७॥

अर्थ—सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा की दी हुई चेष्टा से ही परमाणुओं का संयोग होकर पृथ्वी और वृक्षादि सब वस्तु बनते हैं। इसलिए परमात्मा की दी हुई क्रिया से ही नियम के अनुसार परमाणु मिलकर देव ऋषियों के शरीरों को उत्पन्न करते हैं। इसी नियम के अनुसार मच्छर आदि छोटे-छोटे जन्तुओं के शरीर भी बिना माता-पिता के उस चेष्टा और नियम से उत्पन्न होते हैं जिस प्रकार स्वदेज अब भी बिना माता-पिता के उत्पन्न होते हैं। इसलिए कोई आक्षेप नहीं।

समाख्याभावाच्च ॥८॥

अर्थ– ब्राह्मण आदि के श्रुतियों, शास्त्रों और स्मृतियों में बिना माता-पिता के उत्पन्न हुए ऋषियों के नाम* पाये जाते हैं,

और सृष्टि-नियम के अनुसार कारागार (जेलखाना) के बनाने वाले स्वतन्त्र ही होते हैं और उसमें रहके के लिए परतन्त्र जाते हैं। इसी प्रकार सृष्टि के क्रम को आरम्भ करने के लिए जिसमें पूर्व सृष्टि से कर्म फल भोगने वाले जीव आकर जन्म लें उनके शरीरों के सांचे बनाने के लिए विना कर्म के फल भोगने वाली सृष्टि के होने का अनुमान होता है। यह दो प्रमाण अयोनिज शरीरों के वास्ते मिलते हैं। इस पर और युक्ति देते हैं:-

संज्ञाया अनादित्वात्+ ॥९॥

अर्थ—यौगिक नाम जो गुण के कारण से रक्खे जाते हैं और प्रत्येक सृष्टि में एक से होते हैं, जैसे अग्नि आदि जिसको संस्कृत में यौगिक कहा गया है। इसलिये ये नाम अनादि है क्योंकि यदि नये-नये नाम उत्पन्न होते तो प्रत्येक सृष्टि में भिन्न-भिन्न होते परन्तु वेद से ज्ञात होता है कि जिस प्रकार सूर्य चन्द्र आदि परमात्मा ने इस संसार से पहिले सर्ग में रक्खे थे वे ही इस सर्ग अर्थात् संसार में रक्खे। ऐसे ही उससे पहिले इन नामों के अनादि होने से ज्ञात होता है कि अयोनिज मनुष्य भी होते हैं, जिनके माँ बाप के न होने से उनके रूढ़ि नाम तो हो नहीं सकते उन्हें यौगिक नामों से अर्थात् अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा, ब्रह्मा और मनु आदि से पुकारते हैं। इसलिए वेदों में जिन यौगिक नामों का उल्लेख है वे प्रत्येक सृष्टि में एक से होते हैं, और अयोनिज लोगों के वही नाम जो पूर्व सर्ग के अयोनिज लोगों के थे, रक्खे जाते हैं।

सन्त्ययोनिजाः ॥१०॥

अर्थ—उपर्युक्तयुक्ति और प्रमाण से सिद्ध होता है कि विना

---

* स्वयंभू आदि। +आदित्वात् इति पाठः।

योनि अर्थात् बिना माता-पिता के उत्पन्न होने वाले देव ऋषियों के शरीर होते हैं। उनके नाम वेद के अनुसार प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में यौगिक अर्थात् अग्नि, वायु, आदित्य, अगिरा, मनु और ब्रह्मा आदि एक से रक्खे जाते हैं।

वेदलिंगाच्च ॥११॥

अर्थ---वेद के प्रमाण से भी ब्रह्म देव ऋषि आदि की उत्पत्ति लिखी है, जिनका बनाने वाला ईश्वर है। जैसे यजुर्वेद अध्याय ३१ में अर्थात् पुरुष सूक्त में दिखलाया है कि उससे देव ऋषि आदि उत्पन्न हुये। जिस प्रकार योनिज और अयोनिज दो प्रकार के शरीर होते हैं और वे पार्थिव होते हैं ऐसे शेष वायु आदि से बने हुये शरीर नहीं होते किन्तु वे सब अयोनिज ही होते हैं, क्योंकि पिता के वीर्य और माता के रज से मिलकर जो शरीर बनता है वह शरीर योनिज कहलाता है, परन्तु रज और वीर्य दोनों पार्थिव होते हैं इसलिये इनसे बना हुआ शरीर पार्थिव ही होगा, यह कार्यकारण के नियम से नियत बात है और इन्द्रिय पृथिवी के गन्ध को प्रत्यक्ष करने वाली नासिका है। ऐसे ही जल की इन्द्रिय रसना, अग्नि की आँख और वायु की त्वचा है। आकाश का कान है जो अपने-अपने भूत के गुण, गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द का प्रत्यक्ष करते हैं और मिट्टी से उत्पन्न हुये विषय घट आदि और पहाड़ और स्थावर अर्थात् वृक्ष फल और घास आदि हैं।

चौथे अध्याय का दूसरा आह्निक समाप्त।

अध्याय ५ : आह्निक १

द्रव्य और गुण की परीक्षा करके, इस पाँचवें अध्याय में कर्म की परीक्षा आरम्भ करते हैं और उसमें प्रयत्न से उत्पन्न होने वाले उत्क्षेपण और बिना प्रयत्न उत्क्षेपण के पुण्य के कारण जो कर्म हैं और जो कर्म पाप का कारण है, और जो पाप पुण्य दोनों से पृथक उदासीन कर्म हैं, उन सबका पहिले आह्निक में वर्णन होगा।

आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म ॥१॥

अर्थ—आत्मा के संयोग और प्रयत्न से हाथ में कर्म होता है। आशय यह है कि हाथ जो कुछ कर्म करता है उसका कारण आत्मा का संयोग और प्रयत्न है। क्योंकि यदि आत्मा का संयोग ही कर्म का कारण माना जावे तो आत्मा के शरीर में व्यापक होने से उसका प्रतिक्षण हाथ से संयोग बना रहता है और जिस अंग के साथ आत्मा का सम्बन्ध न हो उसका जीवित रहना ही सम्भव नहीं इसलिये प्रत्येक जीवित अंग से उसका आत्मा का सम्बन्ध होने से उसमें चेष्टा होनी चाहिये, इस दोष को दूर करने के लिये ऋषि ने बतलाया कि जब प्रयत्न अर्थात् इच्छा शक्ति का भी हाथ के साथ सम्बन्ध हो अर्थात् आत्मा हाथ की चेष्टा देने की इच्छा रखता है तब हाथ में कर्म होता है। इस कर्म का समवायि कारण हाथ है और असमवायि कारण इच्छा शक्ति वाले आत्मा का संयोग है और इच्छा शक्ति निमित्त कारण अर्थात कर्त्ता है और इस समूह का नाम चेष्टा अर्थात कर्म करना है।

प्रश्न---समवायि कारण किसको कहते हैं ?

उत्तर---अवयवों का जो संयोग है, जिससे कार्य बना हैं, जिसके बिना कार्य रह ही नहीं सकता अर्थात् अवयवों के संयोग को समवायि कारण कहते हैं ?

प्रश्न---असमवायिकारण किसको कहते हैं ?

उत्तर---जिन अवयवों के संयोग से वस्तु बनती है वे अवयव उस वस्तु के असमवायिकारण होते हैं ।

प्रश्न---निमित्त कारण किसको कहते हैं ?

उत्तर---संयोग का कराने वाला और संयोग के लिये जिन साधनों को आवश्यकता पड़ती है, वे सब निमित्त कारण कहलाते हैं ।

तथा हस्तसंयोगाच्च मुसले कर्म ॥२॥

अर्थ---जिस प्रकार आत्मा के संयोग और प्रयत्न से हाथ में क्रिया होती है, उसी प्रकार हाथ के संयोग से ऊखल में धान कूटने वाले मूसल में, धान कूटते समय होती है । महर्षि कणाद जी ने सूत्र में 'च' से बतला दिया है कि गिरने में भारी होना भी कारण है अर्थात जब मूसल नीचे की ओर से ऊपर को जाता है तो उसमें आत्मा के प्रयत्न से हाथ में क्रिया और हाथ के संयोग से मूसल में क्रिया होती है, परन्तु नीचे जाते समय भारी होने के कारण वह गिर जाता है । वहाँ भारी होना भी गिरने का कारण है । आशय यह है कि ऊपर चलने में प्रयत्न से कर्म होता है, और नीचे पृथ्वी के आकर्षण से गुरुत्व के कारण गिर सकता है । उसमें प्रयत्न की विशेष आवश्यकता नहीं । जैसे एक गेंद को आकाश की ओर फेंका जावे तो उससे दो क्रियाएं होंगी । एक तो गेंद का ऊपर की ओर जाना और दूसरा नीचे की ओर गिरना । इन दोनों में ऊपर की ओर जाना, तो आत्मा के प्रयत्न और हाथ के संयोग से हुआ है और नीचे की ओर आना भारी

होने के कारण है। इस स्थल पर मूसल और गेंद समवायि कारण है और प्रयत्न से क्रिया करके जो हाथ का मूसल से संयोग माना है वह असमवायि कारण है। आत्मा का प्रयत्न और भारी हाथ निमित्त कारण है।

अभिघातजे मुसलादौ कर्मणि व्यतिरेकादू कारणं हस्तसंयोगः ॥३॥

अर्थ---जब मूसल नीचे गिरता है, यद्यपि उस समय हाथ का भी संयोग होता है, परन्तु गिरने में भारी होने के अतिरिक्त जिससे पृथ्वी की आकर्षण शक्ति नीचे गिराती है, हाथ का सम्बन्ध उसका कारण नहीं होता है, क्योंकि गिरते समय आत्मा के प्रयत्न की आवश्यकता नहीं। उसकी युक्ति यह है कि चाहे हाथ का संयोग हो या न हो, वह अवश्य गिरेगा, जब हाथ के बिना उसका गिरना आवश्यक है, क्योंकि यदि गिरते समय प्रयत्न होता तो वह उसको नीचे गिरने से रोकता न कि गिराता क्योंकि प्रयत्न का प्राकृतिक शक्ति के विरुद्ध ही प्रयोग किया जाता है या प्राकृतिक आकर्षण को अपने बल से चलाने में उस का प्रयोग होता है। इससे यह भी परिणाम निकलता है कि मनुष्य को उन्नति करने में यत्न करने की आवश्यकता है और यदि उन्नति का यत्न न किया जावे तो अवनति स्वयं ही हो जाती है, क्योंकि जिस प्रकार भारी वस्तुओं को आकर्षण शक्ति से पृथ्वी अपनी ओर प्रत्येक समय खींचती है उसे गिराने की कोई आवश्यकता नहीं इसी प्रकार विषयों की आकर्षण शक्ति इन्द्रियों को बराबर अपनी ओर खींचती है, यदि आत्मा इन्द्रियों को विषयों से रोकने का काम न करे तो वह बलात् आत्मा को विषयों की ओर ले जायेगी। जिस प्रकार भारी वस्तु में गुरुत्व पृथ्वी की आकर्षण शक्ति से है, इसलिये वह वस्तुओं को अपने कारण पृथ्वी की ओर ले

जाता है इसी प्रकार इन्द्रियां और मन पञ्चभूतों से उत्पन्न होते हैं और वह प्रत्येक वस्तु को भौतिक विषयों की ओर लेजाते है, इसलिये जो लोग ऐसा मानते हैं कि यदि हम बुरा काम न करें तो हमको सन्ध्या अग्नि होत्र आदि शुभ कर्म करने की क्या आवश्यकता है, वे बड़ी भारी भल करते हैं क्योंकि बुराई उनको अवश्य अपनी ओर खींच लेगी ।

तथात्मसंयोगो हस्तकर्मणि ॥४॥

अर्थ---जब मूसल के नीचे गिरते समय हाथ भी नीचे की ओर गिरता है उसमें भी आत्मा के संयोग की कोई आवश्यकता नहीं है अर्थात हाथ की उस क्रिया का आत्मा का प्रयत्न कारण नहीं किन्तु नीचे गिरने वाले मूसल का संयोग ही उस कर्म का कारण है। आशय यह है कि गिरने के कर्म में आत्मा के प्रयत्न की आवश्यकता नहीं। या यह समझो कि जब आत्मा अपने प्रयत्न से काम करता है तो उन्नति होती है, यदि मन आदि के पीछे लग जाता है तो अवनति होती है।

अभिघातान्मुसलसंयोगाद्धस्ते कर्म ॥५॥

अर्थ—जैसे मूसल के गिरने से उसके मुंह पर लगा हुआ लोहा गिरता है ऐसे ही मूसल से लगा हुआ हाथ भी उसके साथ ही नीचे को गिरता है। इस सूत्र में अभिघात शब्द से वह संस्कार अभिप्रेत हैं जो गिरने से उत्पन्न होता है। उपचार से अभि शब्द कहा गया है। आशय यह है कि मूसल की अति शीघ्र गति से जो गिरने में उत्पन्न होती है मूसल में एक तम का संस्कार उत्पन्न होता है और उस संस्कार के कारण हाथ और मूसल के संयोग से जो समवायि कारण है हाथ में नीचे गिरना है वह गिरना आत्मा की सांकल्पिक क्रिया से नहीं होता, आशय यह है कि उस गिरने का कारण हाथ और मूसल का

मिलना है आत्मा की सांकल्पिक क्रिया उसका समवाय-कारण नहीं क्योंकि मूसल के गिरने के साथ हाथ का नीचे जाना आत्मा के संकल्प से पृथक है ?

जबकि सारे शरीर या उसके किसी अंग में क्रिया होती है वह सब आत्मा के प्रयत्न से होती है तो ऐसे समयों पर ऐसा क्यों नहीं कि आत्मा का बिना प्रयत्न के ही मूसल के साथ नीचे चला जाना स्वीकार करते हो और हाथ के साथ सारे शरीर में भी क्रिया होती है ?

उत्तर—आत्मकर्म हस्तसंयोगाच्च ॥६॥

अर्थ यहाँ आत्मा शब्द से तात्पर्य सारे शरीर से है, उपचार से शरीर को आत्मा लिखा है कि सारे शरीर में जो क्रिया होती है उस समय वह हाथ के संयोग से होती है। आशय यह है कि मूसल तो भारी होने से पृथ्वी की आकर्षण शक्ति से नीचे को गिरता है और उस मूसल के साथ लगा हुआ होने से हाथ में भी वह हरकत आ जाती है, जैसे कि इञ्जन के साथ लगी हुई होने से तमाम गाड़ियां क्रिया करती हैं और हाथ के संयोग में सारे शरीर में क्रिया होती है। जिस प्रकार एक इञ्जन के संयोग से दूसरी गाड़ी चलती है, और दूसरी गाड़ी के संयोग से तीसरी गाड़ी चलती है ऐसे ही सारी की सारी चलती हैं। यद्यपि चलाने वाली शक्ति जो भाप है उसका सम्बन्ध केवल इञ्जन से है परन्तु क्रिया संयोग से सारी गाड़ियों से होती है। इसी प्रकार पृथ्वी का आकर्षण केवल मूसल पर होता है लेकिन संयोग से हाथ और सारा शरीर क्रिया करता है। और यह भी तात्पर्य है कि आत्मा में जो क्रिया होती है वह शरीर के सम्बन्ध से होती है क्योंकि वह किसी कारण द्वारा ही क्रिया करने वाला है। बिना कारणों के अर्थात बिना शरीर

के वह क्रिया कर भी नहीं सकता। अब उन क्रियाओं का वर्णन करते हैं कि जिसमें किसी प्रकार के प्रयत्न की अपेक्षा नहीं यद्यपि मूसल आदि के गिरने की क्रिया भी प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रखती परन्तु जब तक प्रयत्न से मूसल ऊपर न जाये तब तक गिर नहीं सकता।

संयोगाभावे गुरुत्वान् पतनम् ॥७॥

संयोग इस शब्द से सारी रुकावटों से तात्पर्य है अर्थात रुकावट के न होने से भारी होने के कारण वस्तु ऊपर से नीचे गिरती है। जब तक रुकावट हो तबतक नहीं गिरती यहाँ गिरने में एक रुकावट तो संयोग ही है। भारी वस्तु किसी वृक्ष आदि में बन्धी होने से नहीं गिरती, उसके न गिरने में वही संयोग ही कारण है।

प्रश्न—जो पक्षी अन्तरिक्ष में उड़ते हैं उनमें न तो किसी से संयोग होता है, और वे भारी भी होते हैं, वे क्यों नहीं गिरते!

उत्तर—यहाँ पर प्रयत्न, जो नीचे गिरने से पृथक् रहने के लिये पक्षी करते हैं वह गिरने से रोकता है। दूसरे वह अपने परों को फैलाकर अपने शरीर को इस प्रकार बना लेता है कि उसका बोझ नीचे की वायु से कम हो जाता है इसलिए वायु में विचरते हैं, इसी प्रकार बहुत-सी रुकावटें गिरने से रोकने वाली हैं, जिसको महर्षि कणाद जी ने संयोग शब्द से दिखाया है। जब ये रुकावटें न हों तब भारी वस्तु नीचे गिरती है। जिन वस्तुओं में गुरुत्व नहीं अर्थात् जिन पर पृथ्वी की आकर्षण शक्ति का प्रभाव नहीं है, वे नहीं गिरतीं, जिस प्रकार अग्नि की शिखा सदैव ऊपर को उठती है।

प्रश्न—यदि बोझ (गुरुत्व के कारण ही गिरना माना जावे तो गेंद ऊपर क्यों जाती है, और घूमती हुई नीचे को क्यों आती है ?

उत्तर—नोदनविशेषाभावान्नोर्ध्वं नतिर्यग्गमनम् ॥८॥

अर्थ - विशेष भाव से प्रयत्न के न होने से ऊपर नीचे नहीं जाता

अर्थात् जबतक क्रिया उत्पन्न करने वाले की क्रिया रहती है तब तक गेंद ऊपर चली जाती है, और जहां वह क्रिया समाप्त होती है वहां से लुड़कती हुई नीचे गिरती है। परन्तु वृक्ष से जो फल गिरता है, और पक्षी जो ऊपर से थककर गिरता है और तीर जो कमान से चलकर किसी दूसरे स्थान पर गिरता है उन में विशेष प्रयत्न का संयोग न होने से ऊपर चलना और नीचे गिरना नहीं होता। जहां-जहां विशेष प्रयत्न से सम्बन्ध होगा वहां वस्तु लुढ़कती हुई चलेगी, जहां पृथ्वी के आकर्षण से भारी होने के कारण गिरेगी वहां सीधी गिरेगी, इसका यही तात्पर्य है।

प्रश्न---वह विशेष प्रकार की क्रिया, जिससे इस प्रकार का कर्म होता है किस प्रकार उत्पन्न होती है ?

उत्तर—प्रयत्नविशेषान्नोदनविशेषः ।।६।।

अर्थ---वह विशेष क्रिया आत्मा के प्रयत्न से होती है अर्थात जीवात्मा मन को प्रेरणा करता है और मन इन्द्रियों को प्रेरित करता है। उस प्रेरणा से क्रिया उत्पन्न होकर उस कर्म का कारण होती है। जो ऊपर जाती हुई गेंद गिरती है।

प्रश्न---बहुत चीजें थोड़ी दूर जाकर ऊपर रह जानी और बहुत चीजें अधिक ऊंची जाती हैं ?

उत्तर—नोदनविशेषादुदमनविशेषः ।।१०।।

अर्थ---जो आत्मा के प्रयत्न से विशेष क्रिया उत्पन्न होती हैं जिससे प्रेरित हुई गेंद ऊपर जा रही है यदि वह अधिक वेग वाली हो तो उस चीज से दूर तक ऊंची चली जाती है। यदि वह क्रिया न्यून हैं तो चीज कम ऊंची जाती है। अधिक वा न्यून वेग वस्तु के भारी और हलका होने पर निर्भर है, और क्रिया की न्यूनाधिकता से सम्बन्ध रखती है। हलकी चीज अधिक क्रिया से बहुत ऊंची जावेगी, उसी क्रिया से भारी चीज कम ऊंची जावेगी। जो चीज बहुत ही हलकी

हो वह ऊंची कठिनता से जावेगी अब इस अवस्था को दिखाते हैं कि जब प्रयत्न होता है और उससे पाप-पुण्य नहीं होता क्योंकि पाप-पुण्य आत्मा के प्रयत्न से ही किये जाते हैं, परन्तु यदि आत्मा संस्कार के वश में क्रिया उत्पन्न करे और उसमें प्रयत्न हो तो वह क्रिया यद्यपि आत्मा की उत्पन्न की हुई है परन्तु पाप-पुण्य का कारण नहीं होती। उसका दृष्टान्त देते हैं :–

हस्तकर्मणा दारककर्म व्याख्यातम् ॥११॥

अर्थ--ऊखल में मूसल गिरने से जो हाथ में क्रिया होती हैं, क्योंकि वह संस्कार के कारण होती है, इसलिये वह पाप-पुण्य का कारण नहीं होती। उसका उदाहरण यह है, कि यद्यपि बालक के हाथ-पांव आत्मा की शक्ति से कार्य करते हैं परन्तु उसके चित्त में कोई इच्छा इस प्रकार की नहीं जिससे किसी को हानि-लाभ पहुंचाने का विचार हो, इसलिये उसके क्रिया कर्मों को पाप-पुण्य के कारण नहीं जानना चाहिये। इसी प्रकार वे क्रियायें जो हस्तादि से होती हैं, पाप-पुण्य का कारण नहीं होती। आशय यह है, कि प्रयत्न भी दो प्रकार का होता है, एक वह जिसमें दूसरों को हानि-लाभ पहुंचाने का विचार हो, वह पाप-पुण्य का कारण होता है दूसरे जिसमें हानि-लाभ पहुंचाने का विचार न हो स्वभाव के अनुसार चेष्टा होती हो, जैसे छोटे से बालक का हाथ-पाँव चलाना, तो वह पाप-पुण्य का कारण नहीं होगी।

तथा दग्धस्य विस्फोटने ॥१२॥

अर्थ–इसी प्रकार छः प्रकार के दोषों से जला हुआ (दग्ध) जो आततायी है, उसके मारने में भी दोष नहीं है। आशय यह

है, कि जहां दूसरों की रक्षा के बिचार से किसी अन्यायी को मारा जावे तो उस अवस्था में कर्म होगा, यद्यपि वह प्रयत्न बिशेष से होता है तो भी हानि पहुंचाने के विचार न होने से पुण्य-पाप का कारण नहीं होगा। अपनी आत्मा की रक्षा के लिये भी यदि किसी ऐसे मनुष्य को मारा जावे, जिसके बिना मारे अपनी जान न बचे उसका भी पाप नहीं। ऐसे बिना दूसरे को हानि पहुंचाने के विचार जो कर्म होते हैं वे पाप-पुण्य का कारण नहीं हो सकते, यदि दग्ध का आशय ज्ञान अग्नि से दग्ध, जीवन मुक्त लिया जावे, तो भी उसके जो कर्म हैं वे पूर्व जन्म के कर्मो के अनुसार दैवी नियमानुसार होने के कारण भी पाप-पुण्य का कारण नहीं होते।

प्रश्न--जिन छः दोषों से आततायी होता है वे छः दोष कौन-कौन से हैं?

उत्तर—किसी के घर में आग लगाने वाला, दूसरे को विष देने वाला, हथियारों से मारने वाला, डाकू धन छींनने वाला, खेत छीनने वाला और स्त्री को छींनने वाला ये छः आततायी हैं। इनको मारना राजा को उचित है और किसी समय पर अपनी रक्षा के लिये दूसरे को मारने वाला भी पापी नहीं।

प्रश्न---बिना प्रयत्न विशेष के कर्म किस प्रकार हो सकता है?

उत्तर---यत्नाभावे प्रसुप्तस्य चलनम् ॥१३॥

अर्थ--सोये हुये मनुष्य के शरीर में जो क्रिया होती है वह प्राण वायु के कारण होती है और जीवात्मा का कर्म नहीं होता। इसी प्रकार उन्मत्त मनुष्य जो जीवित रहने पर भी ज्ञान के बिना ही हाथ पांव को हिलाता है, विना प्रयत्न विशेष के करता है। आशय यह है कि इस प्रकार की क्रिया प्राण वायु के कारण समझनी चाहिये।

इससे प्रयत्न बिशेष का बिचार करना ठीक नहीं। इस सम्बन्ध में और भी उदाहरण देते हैं।

तृणे कर्म वायुसंयोगात् ॥१४॥

अर्थ--घास और फल आदि के बृक्ष और सारे वनस्पति या झाड़ आदि जो क्रिया करते हैं वह क्रिया भी वायु के कारण होती है उसमें भी प्रयत्न का कोई सम्बन्ध नहीं होता। आशय यह है कि जिस बस्तु में करना, न करना और उलटा करना पाया जावे वहाँ तो समझना चाहिये कि जीवात्मा के कारण प्रयत्न विशेष काम कर रहा है जहाँ उसके विरुद्ध हो वहाँ अग्नि जल वायु आदि के कारण, जो परमात्मा के नियम से क्रिया होती है; उसी के कारण समझना चाहिये।

प्रश्न--प्रकृति में क्रिया स्वाभाविक है वा नैमित्तिक। नैमित्तिक है तो उसका कारण क्या है ?

उत्तर--प्रकृति में क्रिया स्वाभाविक नहीं, किन्तु नैमित्तिक है। जो कि परमात्मा के नियम से होती है। जिस प्रकार घड़ी की सारी सूईयाँ और चक्र घड़ी साज के नियम और चाबी देने से क्रिया करती हैं और लौटकर उसी स्थान पर आ जाती हैं। जब वह उत्पन्न की हुई क्रिया बन्द हो जाती है तब घड़ी भी बन्द हो जाती है।

मणिगमनं सूच्यभिसर्पणमदृष्टकारणम् ॥१५॥

अर्थ--जहाँ पर मणि में क्रिया होती है, या चुम्बक पत्थर के आकर्षण से सुई आदि क्रिया करती हैं उन सबका अदृष्ट कारण है, जैसे लोहा चुम्बक पत्थर के कारण क्रिया करता है, उस चुम्बक पत्थर में जो आकर्षण शक्ति है, वह दृष्टिगत नहीं होती। आदृष्ट का आशय पूर्वजन्म के कर्मों का भी हो सकता है। जीवों के कर्मानुसार भी चीजें क्रिया करके उनके पास पहुंच सकती हैं। यद्यपि उनकी क्रिया में कोई

और कारण बिना प्रयत्न का भी होता है परन्तु अधिक ध्यानपूर्वक विचार करने से भोग ही का पता लगता है।

प्रश्न--तीर, पक्षी और अलातचक्र (लकड़ी जलाकर घुमाने से जो ज्योति का चक्र बन जाता है) के नीचे से ऊपर जाने में एक ही क्रिया होती है वा अधिक ?

उत्तर-- इषावयुगपत् संयोगविशेषः कर्मान्यत्वे हेतुः ।।१६।।

अर्थ--तीर में एक काल में न होने वाला संयोग विशेष कर्म कई प्रकार का सिद्ध होता है आशय यह है कि तीव्रता से चलते हुये तीर में यद्यपि क्रिया विद्यमान होती है, परन्तु वह दीवार के साथ मिलते ही चलना बन्द कर देता है। यहाँ इस क्रिया का नाश करने वाले आश्रय का नाश तो हो नहीं सकता, क्योंकि आश्रय विद्यमान है। अर्थात् जिस तीर के भीतर क्रिया कार्य कर रही थी वह तीर विद्यमान है, वहां विरुद्ध गुण भी नहीं प्रतीत होता कि जिससे कर्म का नाश हुआ हो। यही विदित होता है, कि कर्म से उत्पन्न हुआ संयोग ही उस कर्म का नाश करने वाला है। अर्थात् तीर के चलने से जो दीवार के साथ संयोग उत्पन्न हुआ वह मिला यही तीर के चलने को रोकता है। यह संयोग चौथे क्षण में उत्पन्न होकर पाँचवें क्षण में कर्म का नाश कर देता है।

प्रश्न---पांचवां और चौथा क्षण कहने से क्या आशय है ? क्या यहां क्षण कहने से वह क्षण अभिप्रेत है, जिस समय कार्य आरम्भ होता है और समाप्त होता है।

उत्तर---पहिले क्षण में कर्म उत्पन्न होता है, दूसरे क्षण में जो तीर और कमान का संयोग था उसका नाश होता है, तीसरे क्षण में तीर कमान से पृथक् होकर विभाग उत्पन्न करता है, चौथे क्षण में भित्ति से संयोग उत्पन्न होता है और पाँचवें क्षण में वह क्रिया नष्ट

हो जाती है, इसलिये एक साथ न होने वाले संयोग विशेष से कर्म का नाश विदित होता है।

प्रश्न—यहाँ संयोगविशेष कहने से क्या आशय है ?

उत्तर---विशेष प्रकार का संयोग ही कर्म का नाश करता है। यदि हर एक संयोग कर्म का नाश करता, तो कर्म कहीं रह ही नहीं सकता। इसलिये विशेष संयोग से ही कर्म का नाश होता है। प्रत्येक संयोग से नहीं, यह आशय है।

प्रश्न---प्रेरणा से उत्पन्न हुआ कर्म तो प्रतीत हुआ। संस्कार से उत्पन्न हुआ कर्म कौन सा होता है ?

उत्तर-नोदनादाद्यमिषोः कर्म तत्कर्मकारिताच्च संस्कारादुत्तरमुत्तरञ्च ।१७।।

अर्थ--तीर में जो आरम्भ में क्रिया होती है वह नोदना से होती है, अर्थात् क्रिया उत्पन्न करने वाले की शक्ति से होती है। उस पहिले कर्म से तीव्रता से चलने वाला संस्कार उत्पन्न होता है। यह तीव्रता से चलती हुई चीज को देखने मे स्पष्ट प्रतीत होता है, उस संस्कार से उस तीर में कर्म उत्पन्न होता है, और उस कर्म से दूसरा कर्म, इसी प्रकार कर्म से क्रिया करता हुआ तीर चला जाता है। आशय यह है कि जब तक चलता हुआ तीर गिरता नहीं तब तक संस्कार क्रम से उसमें क्रिया उत्पन्न करता रहता है। अर्थात् कर्म सन्तान होती चली जाती है और अपने उत्पन्न किये संयोग से कर्म का नाश होने पर संस्कार से दूसरा कर्म उत्पन्न होने के कारण संस्कार एक ही कर्म की सन्तान-कर्म परम्परा उत्पन्न करने का कारण है। संस्कार की सन्तान नहीं होती इसलिये संस्कार को एक वचन कहा है।

प्रश्न---यदि एक ही संस्कार कर्म की उत्पत्ति का कारण हो

तो कभी पृथ्वी पर न गिरे क्योंकि काम का उत्पन्न करने वाला संस्कार विद्यमान है ।

उत्तर--संस्काराभावे गुरुत्वात् पतनम् ॥१८॥

अर्थ--संस्कार के न होने पर भारी होने से वस्तु गिर जाती है । आशय यह है, कि भारी वस्तु पृथ्वी की आकर्षण शक्ति से नीचे गिरती है ! जब तक उस आकर्षण को रोकने वाला संस्कार कर्म को उत्पन्न करता है तब तक यह आकर्षण खींचने में विवश रहता है, और जब संस्कार नष्ट हो गया तो आकर्षण को रोकने वाला कर्म उत्पन्न नहीं होता । इसलिये वह आकर्षण उस बाण को गिरा देता है ।

पांचवें अध्याय का प्रथम आह्निक समाप्त ।

अध्याय ५, आह्निक २

इस अध्याय में कर्म की परीक्षा करते हैं :—

प्रश्न—तीर आदि को तो चलाता हुआ देखते हैं, परन्तु पृथिवी में जो क्रिया होती है उसका क्या कारण है ?

उत्तर—नोदनाभिघातात् संयुक्तसंयोगाच्च पृथिव्यां कर्म ॥१॥

अर्थ—पृथिवी में जो कर्म होता है उसका एक कारण तो प्रेरणा है, दूसरे किसी वस्तु का वेग से बढ़ना है। ये तो पृथिवी के नैमित्तिक कारण हैं। और जो नैमित्तिक गति है, उसका कारण परमात्मा जो उसमें व्यापक है, उसका संयोग है। आशय यह है कि परमात्मा की व्यापकता से जड़ पृथिवी और तारे आदि क्रिया करते हैं। और विशेष क्रिया किसी विशेष प्रेरणा और किसी भारी वस्तु के गिरने से होती है।

प्रश्न - तुमने संयुक्त संयोग का अर्थ, और टीकाकारों के विरुद्ध परमात्मा का पृथिवी में व्यापक होना कैसे किया ?

उत्तर—जड़ वस्तुओं में स्वाभाविक क्रिया तो है नहीं, यदि स्वाभाविक होती तो प्रत्येक वस्तु सक्रिय दृष्टिगत होती, परन्तु यह प्रत्यक्ष के विरुद्ध है। किसी जड़ वस्तु में जब कोई गति उत्पन्न करता है तब ही वह क्रिया करती है इसीलिये श्वेताश्वतर उपनिषद् में जो लिखा है 'संयुक्तमेतत् क्षरमक्षाञ्चेत्यादि" विदित होता है, कि ऋषि का तात्पर्य संयुक्त कहने से इसी पृथ्वी और परमात्मा के संयोग से है। यदि कोई कहे कि वैशेषिक का

उपनिषद् से क्या सम्बन्ध है, तो ऋषि ने पहले ही अध्याय में तत्त्व ज्ञान के लिये वेद को ही प्रमाण माना है। उसी के अनुसार यहाँ लिखा है।

प्रश्न—प्रतिदिन की साधारण गति के अतिरिक्त भूचाल आदि आते हैं जिससे पृथ्वी की गति ज्ञात होती है परन्तु वहां प्रेरणा करने वाला और किसी वस्तु का गिरना सिद्ध होता है !

उत्तर—तदविशेषेणाऽदृष्टकारितम् ।।२।।

अर्थ-भूकम्प आदि से जो पृथ्वी में असाधारण क्रियायें होती हैं उनका कारण जीवों के अदृष्ट के अनुसार ईश्वरीय चेष्टा है, क्योंकि भूकम्प से जीवों को कष्ट पहुँचता है और जिस किसी को उससे लाभ पहुँचता है उसके पूर्व जन्म के किए हुए कर्म से उत्पन्न हुआ अदृष्ट फल ही उसका कारण होता है। और वह अदृष्ट फल ईश्वर के नियम के अनुसार ही होता है आशय यह है कि जिस कर्म की प्रेरणा और किसी वस्तु के गिरने से न हो और उससे जीवों को किसी प्रकार का हानि लाभ अवश्य पहुंचता है, इसलिये उसका कारण अदृष्ट ही मानना चाहिये। अदृष्ट के अतिरिक्त और किसी से जीवों को सुख वा दुःख नहीं मिल सकता।

प्रश्न–वर्षा में जो पानी ऊपर से गिरता है, उसमें जो कर्म है, उसका क्या कारण मानोगे ?

उत्तर—अपां संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम् ।।३।।

अर्थ वर्षा में जो ऊपर से पानी नीचे गिरता है, वह संयोग के न रहने में भारी होने के कारण ही है अर्थात् प्रत्येक भारी वस्तु पृथ्वी के आकर्षण से नीचे गिरती है, जब तक कोई विरुद्ध शक्ति उसको नीचे गिरने से रोकती है तब तक यह नहीं गिरती जब संयोग जो रोकने वाला था नष्ट हो गया, तब पृथ्वी के

आकर्षण से पानी गिरने लगता है। इस कर्म का समवायि कारण गुरुत्व और बादल में संयोग का अभाव निमित्त कारण है।

प्रश्न--जो पानी बरस कर नीचे की ओर जाता है, उसका क्या कारण है ?

उत्तर—द्रवत्वात् स्यन्दनम् ॥४॥

अर्थ—पृथ्वी पर गिरे हुये पानी की बूंदें, परस्पर मिलकर जो पानी के अवयवों के समूह की सूरत धारा को पैदा करती हैं उसका जो नीचे की ओर बहना है अर्थात् जहां पर पानी गिरा था वहां से दूर चला जाना है वह कर्म द्रवत्व असमवायि कारण से उत्पन्न होता है और भारी होना निमित्त कारण है और जल समवायि कारण है।

प्रश्न—द्रवत्व किसको कहते हैं ?

उत्तर--जो बहने वाली शक्ति है उसे 'द्रवत्व' कहते हैं जिससे बहने वाली चीजों में नीचे की ओर बहना पाया जाता है।

प्रश्न—यदि पृथ्वी पर रहने वाले पानी का ऊपर जाना होता तो भी होने से उसका नीचे गिरना या बरसना सम्भव होता इसलिये जब जल नीचे की ओर जाता है, ऊपर जाता ही नहीं तो यह कैसे सम्भव है ?

उत्तर—*नाडयवायुसंयोगादारोहणम् ॥५॥

अर्थ—पानी यद्यपि स्वाभाविक रूप से नीचे की ओर बहने वाला है और उसमें सूर्य की किरणों से जो कि वायु के साथ मिलकर कार्य करती हैं, ऊपर जाता है। ग्रीष्म ऋतु में वायु वायु के साथ मिली हुई सूर्य की किरणें ही पानी को ऊपर की ओर ले जाती हैं। जब सूर्य उत्तरायण से दक्षिणायन हो जाता है, तो दूर हो जाने के कारण

---

* 'नाडयो' इति पाठः।

किरणें तिरछी होकर निर्बल पड़ने लगती हैं जिससे पानी बरसने लगता है। आशय यह है कि सूर्य की किरणों और वायु के संयोग से पानी ऊपर जाता है संयोग के न रहने से और भारी होने से नीचे गिर जाता है। संयोग का नाश बिजली के कारण प्रायः होता है।

प्रश्न--सूर्य की किरणों में यह शक्ति कहां से आई, कि वह पृथ्वी के पानी को ले जावे ?

उत्तर---नोदनापीडनात् संयुक्तसंयोगाच्च ॥६॥

अर्थ---बलवान वायु की प्रेरणा से पानी के भाग पृथक-पृथक् होकर किरणों और वायु के संयोग से उड़ने लगते हैं या किरणों में जो व्यापक परमात्मा है उसके संयोग से किरणों के भीतर यह शक्ति आती है कि वह अपने अधिकरण, वा भंडार की ओर चलें। इसी प्रकार सूर्य की किरणें परमात्मा की नियम रूप शक्ति से प्रेरणा पाकर पानी को पृथक् करके तीव्र वायु के साथ मिलकर ऊपर ले जाती हैं, जैसे उष्ण जल को वायु और अग्नि मिलकर उड़ा ले जाती है और वह भाप बनकर उड़ता हुआ प्रत्यक्ष दिखाई देता है। ऐसे ही सूर्य की किरणें पानी को ऊपर ले जाती हैं।

प्रश्न--जो पानी वृक्षों की जड़ों में डाला जाता है वह वृक्ष के भीतर से ऊपर कैसे चला जाता है। वहां न तो प्रयत्न है और न उद्घाटन है ?

उत्तर---वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्टकारितम् ॥७॥

अर्थ---वृक्ष की जड़ में जो पानी डाला जाता है वह उलटा मनुष्य के अदृष्ट अर्थात प्रारब्ध से, जिन्हें उस वृक्ष की छाया, लकड़ी, पत्ते, फल, फूल आदि से सुख या दुःख प्राप्त करना है, क्योंकि वह ईश्वर कर्म फल देने वाले के नियम से प्रेरित

किरणों के साथ मिलकर वृक्ष के भीतर जाकर उसे बढ़ाता है। जो मनुष्य वृक्षों के बढ़ने में जीव को कारण मानकर वृक्षों में वृक्ष का अभिमानी जीव मानते हैं, उन्हें वैशेषिक के इस सूत्र पर ध्यान देना चाहिये।

प्रश्न---जल में यदि बहने की शक्ति मानी जावे और इस प्रकार के पानी का ऊपर जाना, नीचे गिरना और बराबर चलना माना जावे, बर्फ और ओलों में सरदी होने से उनका पानी होना तो सिद्ध है, फिर वह कठोर क्यों हो जाते हैं और फिर क्यों बहने योग्य बन जाते हैं। पानी को यदि बहने वाला कहा जावे तो बर्फ और ओले क्यों ठोस हो जाते हैं और फिर क्यों बहने वाले बन जाते हैं।

उत्तर---अपां संघातो विलयनञ्च तेजः संयोगात् ॥८॥

अर्थ---पानी इस रीति पर बर्फ वा हिम बन जाता है कि जब वह तेज अर्थात् बिजली से रोके जाने पर पानी के परमाणु परस्पर मिलते तो उस द्व्यणुक में द्रवत्व को उत्पन्न नहीं करते। इस द्रवत्व से पृथक द्व्यणुकों से बर्फ और ओले बन जाते हैं जिससे उनमें ठोसपन बहने के स्थान में उत्पन्न हो जाता है।

प्रश्न – इसी प्रकार ओले वा बर्फ के पानी होने में वा पानी उत्पन्न हुए होने में क्या प्रमाण है ?

उत्तर – ओले और बर्फ नष्ट होकर पानी बन जाते हैं इससे स्पष्ट विदित है कि वे पानी से बनते हैं और उसी में मिल जाते हैं।

प्रश्न – यदि तेज के कारण पानी का बर्फ और ओले बनना मान भी लिया जावे तो फिर पानी कैसे बनेंगे ?

उत्तर – यह भी तेज के कारण से होता है कि बर्फ और ओले बनाने वाला तेज जब बर्फ और ओले बनाने वाले परमाणुओं में तीव्र प्रभाव डालता है तो उससे क्रिया उत्पन्न होती है, और उस क्रिया से

विभाग उत्पन्न हो जाता है और उससे बनाने वाले संयोग का नाश हो जाता है। इसी प्रकार ओलों और बर्फ के टुकड़ों का नाश हो जाता है जिससे द्रवत्व के विरोधिनी शक्ति के नाश होने से पुनः द्रवत्व उत्पन्न होकर पानी हो जाता है। इस प्रकार पानी में बर्फ और ओलों के सम्मिलित हो जाने से दिव्य तेज का काम ही कारण है।

प्रश्न—उसमें बलवान् तेज सम्मिलित हो गया इसमें क्या प्रमाण है?

उत्तर—विस्फूर्जथुर्लिङ्गम् ॥९॥

अर्थ—उसमें आकाश में रहने वाले तेज के सम्मिलित होने में जो प्रमाण मांगा गया है उसमें प्रमाण बिजली है। बिजली की चमक से इस बात का पता लगता है, क्योंकि जब ओले बरसते हैं या बर्फ पड़ती है, उस समय बिजली की चमक और बादलों की गरज भी प्रत्यक्ष से दिखाई पड़ती है जिससे अनुमान होता है कि जिस बादल से ओले उत्पन्न होते हैं उसमें सूक्ष्म तेज अर्थात् विद्युत विद्यमान है जो पानी के द्रवत्व गुण को रोक कर संयोग का कारण होता है उससे ओले आदि उत्पन्न हो जाते हैं।

प्रश्न—उसमें कोई और कारण भी है या यह नया विचार ही है?

उत्तर—वैदिकञ्च ॥१०॥

अर्थ—पानी के भीतर जो आकाश होता है उसमें तेज का होना वेदों के प्रमाण से सिद्ध होता है। जब कि वेदों से पता लगता है और आजकल भी लोग बनाकर देख सकते हैं तो किस प्रकार कहा जावे कि आकाश में रहने वाले पानियों में अग्नि नहीं है!

प्रश्न---बिजली की उत्पत्ति किसप्रकार हुई है ?

उत्तर—अपां संयोगाद् विभागाच्च स्तनयित्नोः ।।११।।

अर्थ---पानी के भरे हुए दो बादलों के मिलने और पृथक् होने से जो रगड़ उत्पन्न होती है उससे बिजली उत्पन्न होती है, और बादलों का मिलना व पृथक होना प्रायः वायु के कारण होता है और इसी रगड़ से बादलों में गड़गड़ाहट उत्पन्न होती है। जिस को मनुष्य बादल का गरजना कहते हैं। तात्पर्य यह है कि बादलों की गरज का शब्द और बिजली की उत्पत्ति का कारण बादलों की रगड़ अर्थात् मिलना और पृथक होना सिद्ध होता है। जब बादल उधर से आता है, इधर से जाता है तो प्रायः रगड़ उत्पन्न हो जाती है, जिससे शब्द और बिजली उत्पन्न होती है।

प्रश्न---भूडोल आदि पृथ्वी की नैमित्तिक क्रियाओं का कारण, तो जीवों का अदृष्ट कहा, परन्तु अग्नि के लग जाने से सहस्रों गृह भस्म हो जाते हैं। तीव्र वायु और आंधी से सैकड़ों वृक्ष उखड़ जाते हैं, उसका क्या कारण है ?

उत्तर—पृथिवीकर्मणा तेजःकर्म वायुकर्म च व्याख्यातम् ।।१२।।

अर्थ---जिस प्रकार भूचाल आदि पृथ्वी की नैमित्तिक क्रियाएं अदृष्ट अर्थात् जीवों के कर्म से होती हैं, इसी प्रकार अग्नि का लगना और उससे सहस्रों घरों का भस्म हो जाना और उन वृक्षों का उखड़ जाना आदि भी जीवों के अदृष्ट से होती हैं। आशय यह है कि जिन जीवों को उससे हानि वा लाभ पहुंचता है। उन्हीं के कर्म के फल देने के लिये परमात्मा की प्रेरणा से यह क्रिया होती है।

प्रश्न---अग्नि सदैव ऊपर को उठती है, वायु बराबर हिलती

है अर्थात् तिरछी चलती है, इसी प्रकार मन कर्म करता है और अणुओं में क्रिया होती है, उसका क्या कारण है ?

उत्तर—अग्नेरूर्ध्वं ज्वलनम् वायोस्तिर्यक्पवनमणूनां मनसश्चाद्यं कर्मादृष्टकारितम् ॥१३॥

अर्थ—ये कर्म जीवों का अदृष्ट फल देने के लिये सृष्टि के आरम्भ से कर्म कर-देने वाले की ओर से होते हैं। आशय यह है कि परमात्मा इन सब भूतों में क्रिया देकर उनकी क्रियाओं का नियमानुसार संचालन करते हैं, और नैमित्तिक क्रियाएं भी होती हैं उनका कारण जीवों का अदृष्ट ही है, और परमात्मा की दी हुई प्रथम क्रिया से जो वेग का संस्कार उत्पन्न होता है उसी से सब क्रियाएं हो रही हैं, क्योंकि जहां प्रत्यक्ष से कारण का पता लग जावे वहां अनुमान आदि से दूसरा कारण ढूंढना ठीक नहीं। इन सूत्रों से स्पष्ट विदित होता है कि पृथ्वी की नैमित्तिक क्रियाओं से जो जीवों को हानि-लाभ पहुंचता है, वह जीवों के कर्मों के फल से नियत है, और उसके कारण से पृथ्वी आदि में ये क्रियाएं होती हैं। जो लोग आग से जलकर मरने वालों की अकाल मृत्यु मान लिया करते हैं उन्हें महर्षि कणाद जी के इन सूत्रों पर विचार करना चाहिये।

प्रश्न—जो मन में कर्म बतलाया जाता है उसमें कोई प्रमाण नहीं।

उत्तर—हस्तकर्मणा मनसः कर्म व्याख्यातम् ॥१४॥

अर्थ—यह पूर्व ही सिद्ध कर चुके हैं कि मन विभु अर्थात् सारे शरीर में व्यापक नहीं किन्तु अणु है और मन का गुण एक काल में दो इन्द्रियों के विषय का ज्ञान न होना सिद्ध कर चुके हैं इसलिये मन में कर्म के बिना सुख और दुःख का ज्ञान हो ही नहीं सकता, क्योंकि जिस इन्द्रिय से सुख-दुःख होता है जब तक उस इन्द्रिय तक मन न

पहुंचे अर्थात् मन का और उसका सम्बन्ध न हो, तब तक इन्द्रिय को ज्ञान होना सम्भव ही नहीं। यदि मन में कर्म न हो तो "मेरे सिर में दर्द है" और "मेरे पाँवों में कष्ट है" यह ज्ञान हो ही किस तरह सकता है। यद्यपि आत्मा के सारे नैमित्तिक गुण मन के सम्बन्ध पर निर्भर हैं परन्तु सुख दु:ख का होना सबसे अधिक स्पष्ट है इसलिये कहा कि हाथ पाँवों की क्रिया के समान मन का कर्म भी जानना चाहिये।

प्रश्न यदि मन को चञ्चल मानोगे तो मन के टिकने के बिना योग नहीं होगा और योग के न होने से आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होगा, अत: मोक्ष भी नहीं होगी। इसलिये मन का चंचल होना ठीक नहीं।

उत्तर—आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षात् सुखदु:खे ॥१५॥

अर्थ--जब विषयों को दूषित समझकर मन उदास होकर बाहर की इन्द्रियों की ओर से हटाकर आत्मा में ठहरता है अर्थात् केवल आत्मा से ही सम्बन्ध रखता है इन्द्रियों से नहीं, उस समय मन को कर्म में लगाने वाले गुणों के न होने से मन में कर्म उत्पन्न नहीं होता, मन नितान्त स्थिर हो जाता है। वही अवस्था, जब सारे काम करना छोड़ दे, ध्यान कहाती है। और वही योग है। जब मन योग हो गया तो मन में कर्म आरम्भ ही नहीं होता, जब योग होता है तो दु:ख का अभाव होता है, और कर्म दु:ख दूर करने के लिये किया जाता है, जब दु:ख दूर होगया तो किसकी प्राप्ति के लिये और किसके त्याग के लिये मन कर्म करेगा। दु:ख बाहर की इन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य विषयों से होता है। इन्द्रियों का सम्बन्ध ही दु:ख है।

प्रश्न-- सुख प्राप्ति करने के लिये मन यत्न करेगा, क्योंकि

सुख को प्राप्त करने और दुःख को दूर करने के लिये यत्न किया जाता है।

उत्तर--दुःख दूर ही तब होता है जब सुख प्राप्त होता है, क्योंकि दुःख का विरोधी सुख है और विरोधी ही दूर करने वाला होता है इसलिये आत्मा के साथ सम्बन्ध होने पर मन की कोई आवश्यकता नहीं रहती इसलिये काम बन्द हो जाता है।

प्रश्न---यदि प्राण और मन का कर्म आत्मा के प्रयत्न से है तो जब जीवात्मा को मृत्यु से प्राण और मन शरीर से बाहर निकल कर दूसरे शरीर में प्रवेश करते हैं, वहाँ आत्मा का प्रयत्न न होने से उनका निकलना और प्रवेश करना दोनों असम्भव हैं और जो गर्भ में न रह कर काम करते हैं उनका कारण क्या है?

तदनारम्भ आत्मस्थे मनसि, शरीरस्य दुःखाभावः स योगः ॥१६॥

अर्थ---अभ्यास वैराग्य द्वारा गन्धादि विषयों में मानस वृत्ति के अभाव से दुःखाभाव का नाम योग है अर्थात् जब अभ्यास वैराग्य की दृढ़ता से गन्धादि विषयों में आत्मा की इच्छा का अभाव हो जाता है तब इच्छा के आधीन उत्पन्न होने वाले मन के वृत्ति लक्षण कर्म का भी अभाव होता है उसके अभाव से चित्त की ईश्वर के स्वरूप में स्थिति होना ही योग है।

उत्तर---अपसर्पणमुपसर्पणमशितपीतसंयोगाः कार्यान्तरसंयोगाश्चेत्यदृष्टकारितानि ॥१७॥

अर्थ---जब शरीर के उत्पन्न करने वाले प्रारब्ध कर्म का नाश हो जाता है तो शरीर से प्राण और मन निकल कर दूसरे

शरीर में जाकर उत्पन्न होते हैं वहां प्राण मन का प्रवेश करना ही खाने-पीने का कारण होता है वह दूसरे गर्भ और शरीर का कारण होता है। इस संयोग का कारण ही यह सब काम, अदृष्ट अर्थात् किये हुये कर्मों के फल से उत्पन्न होते हैं।

प्रश्न--अपसर्पण किसको कहते हैं ?

उत्तर--मन और प्राण का एक शरीर में से निकलना अपसर्पण कहाता है।

प्रश्न---उपसर्पण किसको कहते हैं ?

उत्तर---प्राण और मन का जीव के साथ किसी दूसरे शरीर में प्रवेश करना उपसर्पण कहाता है। आशय है, कि शरीर के भीतर रजवीर्य का मिलना, उनका गोल बनना, जीव का प्राण मन के साथ एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाना सब अदृष्ट अर्थात् पूर्व कर्मों के फल से होता है।

प्रश्न---क्या प्राण और मन जीव के साथ एक शरीर को छोड़कर दूसरे के विना नहीं रह सकते ?

उत्तर---मन और प्राण से सम्बन्ध रखने वाला, शरीर के बिना नहीं रह सकता।

प्रश्न---यदि दूसरे शरीर का पाना आवश्यक है तो मोक्ष किस प्रकार हो सकती है।

उत्तर—तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः ॥१८॥

अर्थ---जब तक मिथ्या ज्ञान रहता है तब तक सूक्ष्म शरीर के साथ सम्बन्ध आवश्यक है जिससे दूसरे शरीर में जाना भी आवश्यक है। जब मिथ्या ज्ञान का नाश होकर निश्चयात्मक ज्ञान हो जाता है तो उससे राग-द्वेष नष्ट हो जाते हैं और राग-द्वेष के नष्ट हो जाने से प्रवृत्ति का नाश होता है जिससे जन्म मरण के अदृष्ट कर्मों

का फल ही दूर हो जाता है। जब कर्मों का फल अदृष्ट, जो प्राण और मन को शरीर से निकाल कर दूसरे में ले जाने का कारण था, नष्ट हो गया तो फिर शरीर का उत्पन्न होना बन्द हो जाता है। बस, यही मोक्ष है।

प्रश्न---सूत्र में जो अभाव और संयोग का अभाव लिखा हैं उसका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर---विद्यमान शरीर का न रहना तो अभाव का तात्पर्य है और होने वाले शरीर का न उत्पन्न होना संयोग के अभाव का आशय है। अर्थात् प्राप्त हुये शरीर का पुनः न मिलना ही मोक्ष है।

प्रश्न---यह अवस्था तो सदैव प्रलय के समय भी होतीं है तो क्या प्रलय में सारे जीव मुक्त हो जाते हैं।

उत्तर---प्रलय में जिन जीवों का उत्पन्न होना बन्द हुआ था वे सृष्टि के आरम्भ में ही जन्म ले लेते हैं, इसलिये बताया कि जिनका सृष्टि के आरम्भ में भी जन्म न हो।

आगे अन्धकार की परीक्षा करते हैं कि वह द्रव्य है या गुण है।

प्रश्न---अन्धकार एक द्रव्य है, उसमें कर्म पाया जाता है। छाया के चलने का ज्ञान होने से न वहाँ आत्मा का प्रयत्न है और न ही गुरुत्व है, न द्रवत्व ही है, न अविघात है और न ही संस्कार है, तो उस कर्म का क्या कारण है ?

द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्याद्भावाभावस्तमः ॥१६॥

उत्तर---द्रव्य गुण और कर्म इन तीनों के गुणों से रहित होने से अन्धेरा केवल प्रकाश का अभाव है; क्योंकि जिस द्रव्य में रूप रहता है उसमें स्पर्श भी होता है। स्पर्श से रहित रूप

वाला पदार्थ कोई द्रव्य है ही नहीं। अन्धकार का रूप तो दृष्ट होता है परन्तु स्पर्श पाया नहीं जाता। इसलिये द्रव्य भी नहीं है।

प्रश्न---हम मानते हैं कि अन्धकार दशवाँ द्रव्य है ?

उत्तर—नौ से अधिक द्रव्य नहीं हैं, और नील रूप दूसरे के आधार है जो अन्धेरे में पाया जाता है इसलिये द्रव्य नहीं और गुण भी नहीं क्योंकि उसमें कालापन पाया जाता है और गुण में गुण होता ही नहीं।

प्रश्न—फिर छाया के चलने का क्या कारण है ?

उत्तर---तेजसो द्रव्यान्तरेणावरणाच्च ॥२०

अर्थ – प्रकाश पर दूसरे द्रव्य का परदा पड़ जाने से दूसरे द्रव्य के चलने पर इस तरह का आवरण अर्थात् परदा आगे-आगे चला जाता है, जिससे छाया में चलने का भ्रम होता है। इसलिये वह केवल प्रकाश का अभाव ही है वास्तव में कोई द्रव्य नहीं और उसमें चलना भी नहीं, क्योंकि दूसरा चले तो छाया चलती हुई प्रतीत है, यदि न चले तो चलती नहीं ज्ञात होती, इसलिये चलना किसी मनुष्य वा किसी वस्तु में है छाया केवल भ्रम होता है, इसलिए जहाँ प्रकाश न हो अर्थात् तेज परमाणु स्थूल अवस्था में प्रकाश के योग्य न हों वही अन्धकार कहाता है। इन दो सूत्रों में अन्धेरे का प्रकरण समाप्त हो गया।

प्रश्न—दिशा काल और प्रकाश में गति है वा नहीं ?

उत्तर---दिक्कालावाकाशञ्च क्रियावद्वै धर्म्यान्निष्क्रियाणि ॥२१॥

अर्थ—क्रिया एक देश में रहने वाली वस्तु में होती है। परन्तु समय, दिशा और आकाश अनन्त हैं, इसलिए उनमें क्रिया गुण

नहीं अर्थात् चल फिर नहीं सकते। "च" शब्द से परमात्मा भी अनन्त होने से क्रिया नहीं करता ऐसा ज्ञात होता है?

प्रश्न---परमात्मा क्रिया करता है या नहीं?

उत्तर---परमात्मा शान्त है इसलिए उसमें क्रिया होना सम्भव नहीं है। जहाँ आत्मा को क्रिया से रहित बतलाया है वहाँ परमात्मा जानना, जहां सक्रिय हो वहाँ जीवात्मा जानना।

प्रश्न---गुण और कर्म में भी क्रिया है वा नहीं?

उत्तर---एतेन कर्माणि गुणाश्च व्याख्याताः ॥२२॥

अर्थ---जिस प्रकार अनन्त और निराकार होने से आकाश, काल, दिशा ओर परमात्मा क्रिया से शून्य हैं इसी प्रकार गुण और कर्म भी क्रिया से शून्य हैं क्योंकि गुण और कर्म का भी कोई शरीर नहीं और जिसकी सीमा और शरीर नहीं उसमें गति किस प्रकार हो सकती है?

प्रश्न---यदि गुण कर्म क्रिया शून्य हैं तो उनका द्रव्य से क्या सम्बन्ध है। संयोग सम्बन्ध वा समवायि? सम्बन्ध हैं तो वह कर्म पर निर्भर है?

उत्तर---निष्क्रियाणां समवायः कर्मभ्यो निषिद्धः ॥२३॥

अर्थ--जो क्रिया से शून्य गुण कम हैं उनका द्रव्य के साथ केवल समवायि सम्बन्ध होता है और वह कर्म से उत्पन्न नहीं होता है क्योंकि उसकी उत्पत्ति ही नहीं। संयोग आदि सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाला सम्बन्ध कर्म पर निर्भर है अर्थात् कर्माधीन है।

प्रश्न--यदि अमूर्त्त होने से गुण कर्म समवायि कारण नहीं होते तो गुणों से गुण और कर्म से गुण कैसे उत्पन्न होते हैं क्योंकि समवायि कारण के विना कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता?

उत्तर---कारणान्त्वसमवायिनो गुणाः ॥२४॥

अर्थ--असमवायि कारण होते हैं न कि समवायि कारण, जिससे कर्म परम्परा आरम्भ हुई। और असमवायि कारण होने का गुण भी तो कार्य के साथ ही मिला रहता है। जैसे आत्मा और मन के संयोग को आत्मा के स्वाभाविक गुणों में पाते है और कभी संयोग और विभाग को शब्दों में कारण में अर्थ को मिला हुआ पाते हैं जैसे कपाल (ठिकड़े का जो रूप है वही घट के रूप में असमवायि कारण से रहता है।

प्रश्न---समवायि कारण किसे कहते हैं ?

उत्तर--जो कार्य के साथ प्रत्येक समय रहता है, कभी कार्य से पृथक् नहीं होता जैसे दो कपालों का मिलाप घड़े का समवायि कारण है।

प्रश्न--असमवायि कारण किसे कहते हैं ?

उत्तर--जिसका कार्य के साथ रहना आवश्यक नहीं, उसके अतिरिक्त भी रह सकते हैं। जैसे कपाल घड़ा बनने के बिना भी रह सकते हैं।

प्रश्न--"यहां कर्म उत्पन्न होता है" और "अब कर्म उत्पन्न होता है" ऐसा कहने से विदित होता है, कि दिशा और काल भी कर्म के समवायि कारण हैं उनको आधार क्यों बतलाते हैं।

उत्तर----गुणैर्दिग्व्याख्याता ॥२५॥

अर्थ--जिस प्रकार गुरुत्व आदि गुण कर्म के समवायि कारण नहीं, क्योंकि ये अमूर्त्त हैं इसी प्रकार दिशा भी कर्म का समवायि कारण नहीं, क्योंकि दिशा अमूर्त्त है। और आधार तो वह भी हो सकता है जो कि समवायि कारण न हो। यह नियम नहीं, जो कि समवायि कारण हो वही आधार हो जैसे कहते हैं कि कुण्ड में बेर हैं, यहाँ कुण्ड बेरों का समवायि कारण नहीं किन्तु आधार है।

वन में सिंह का नाद है। यहां भी बन केवल आधार है, समवायि कारण नहीं। कूण्डे में दही है, घर में आदमी है। ऐसे ही अनेक उदाहरण हैं। यहां केवल आधार ही होता है समवायि कारण नहीं होता। इसी प्रकार दिशा आधार ही है।

प्रश्न—काल तो समवायि कारण है ?

उत्तर---कारणेन कालः ॥२६॥

अर्थ--काल भी आधार ही है, उसमें क्रिया नहीं या वह क्रिया का समवायि कारण नहीं किन्तु निमित्त कारण होने से कर्मों का आधार ही समवायि कारणनहीं।

प्रश्न--जबकि काल से सब कार्य होते हैं तो सारी क्रियाओं का कारण काल है इसलिये उसे समवायि कारण मानना चाहिये ?

उत्तर--काल केवल आधार है क्योंकि वह कर्मों में निमित्त है। समवायि कारण नहीं हो सकता क्योंकि अमूर्त्त है।

पांचवे अध्याय का दूसरा आह्निक समाप्त

वैशेषिक दर्शन भाषानुवाद

अध्याय ६, प्रथम आह्निक

इस छठे अध्याय में ऋषि, संसार के मुख्य उद्देश्य की परीक्षा के लिये जो प्रमाण वेद और साधन जो धर्म है, उसको आरम्भ करते हैं, क्योंकि तीसरे सूत्र में कहा था कि तप व ज्ञान के लिये केवल वेद ही प्रमाण हो सकता है, क्योंकि वह ईश्वर का वाक्य या तत्त्वज्ञान के अनुसार मुक्ति के कारण धर्म को बतलाने वाला है।

प्रश्न---वेद के बनाने की ईश्वर को क्या आवश्यकता थी ?

उत्तर----**बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे** ॥१॥

अर्थ---परमात्मा ने जितने मनुष्य के ज्ञान के साधन बनाये हैं, उन सबको हम बुद्धिपूर्वक पाते हैं, यदि उनको सहायता पहुंचाने वाली शक्ति विद्यमान न हो तो वे सब निकम्मे होंगे। जैसे आँख है, वह बिना प्रकाश की सहायता के कुछ भी नहीं कर सकती। ऐसे ही कान बिना आकाश की सहायता के कुछ भी नहीं सुन सकते। इसी प्रकार स्पर्शन शक्ति वायू की सहायता की आवश्यकता रखती है, वायु के बिना वह निकम्मी है। इसी प्रकार मनुष्य की पाँचों इन्द्रियां बिना पंचभूतों की सहायता के कुछ काम नहीं कर सकती। अब प्रश्न यह है कि जीवात्मा का स्वाभाविक गुण जो बुद्धि है वह अपने काम के लिये दूसरे की सहायता की आवश्यकता रखती है वा नहीं ? जहां तक विचार किया जाता है वहां तक यही पता लगता है कि

बुद्धि भी सहायता की आवश्यकता रखती है, जिस प्रकार प्रकाश की न्यूनाधिकता से आंख की शक्ति घटती बढ़ती है। दीपक के प्रकाश में आंख के देखने की शक्ति जितनी होती है, चन्द्रमा के प्रकाश में उससे अधिक होती है और सूर्य के प्रकाश में और भी बढ़ जाती है। यही अवस्था बुद्धि की है कि जिस मनुष्य ने शिक्षा ग्रहण नहीं की उसकी बुद्धि मोटी-सी बात को भी समझने में असमर्थ होती है, और जितनी बुद्धि बढ़ती जावेगी उतनी ही समझने की शक्ति भी बढ़ती जावेगी। इससे स्पष्ट विदित होता है कि और इन्द्रियां तो भौतिक होने से भौतिक वस्तुओं की सहायता की आवश्यकता रखती हैं और अभौतिक बुद्धि अपनी सहायता के लिये अभौतिक शिक्षा की आवश्यकता रखती है जिस प्रकार इन भौतिक इन्द्रियों की सहायता के लिये सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ने उनके सहायक उत्पन्न किये, अर्थात् आंख के लिये सूर्य, इसी प्रकार भीतरी इन्द्रिय के लिये क्या कोई सहायक उत्पन्न न किया होगा। यद्यपि आंख की सहायता के लिये आज कल दीपक आदि भी काम में लाये जाते हैं, परन्तु यदि परमात्मा सूर्य को उत्पन्न न करता तो ये दीपक आदि होते ही नहीं। इसी प्रकार सृष्टि की आदि में यदि परमात्मा जीवों की शिक्षा का सूर्य न देता तो मनुष्य किसी प्रकार भी शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता था। इसलिये परमात्मा ने बुद्धि की सहायता के लिये अर्थात् बुद्धि को सहायता देने वाले वाक्य को वेद में प्रकट किया है जिससे मनुष्यों की बुद्धि की निर्बलता दूर होकर वह अपने काम को कर सकेंगे।

प्रश्न--परमात्मा को शिक्षा देने की क्या आवश्यकता थी, शिक्षा को तो मनुष्य स्वयं ही बढ़ाता जाता है ?

उत्तर--या तो अभाव से भाव की उत्पत्ति माननी पड़ेगी,

या शिक्षा व ज्ञान का कोई अधिकरण मानना पड़ेगा, क्योंकि जो शिक्षा प्राप्त की जाती है या तो उसको मनुष्य का स्वाभाविक गुण मानना पड़ेगा या नैमित्तिक। यदि स्वाभाविक मानो तो प्रत्येक मनुष्य में समान मानना पड़ेगा और यदि नैमित्तिक माना जावे तो उसका निमित्त ढूंढना पड़ेगा कि वह यहां से प्राप्त होती है। अभाव से भाव की उत्पत्ति होना सम्भव ही नहीं, इसलिये यह शिक्षा सर्वज्ञ परमात्मा ही की ओर से है जिस प्रकार आंख के लिये सूर्य मिला है उसी प्रकार बुद्धि की सहायता के लिये वेदों का प्रकाश हुआ है, क्योंकि ज्ञान का अधिकरण केवल चेतन परमात्मा के और कोई हो ही नहीं सकता इसलिये आरम्भ में उसी ज्ञानाधिकरण से शिक्षा स्रोत बहा।

प्रश्न---यह क्यों न माना जावे कि मनुष्य ने अपनी बुद्धि से वेदों को बनाया है इसलिये वेदों की बनावट बुद्धि से हुई है?

उत्तर---यह विचार ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि बिना शिक्षा के बुद्धि में शक्ति ही नहीं आती। दूसरे वेदों में उन आत्मिक विद्याओं की चर्चा है जिनको कोई लाख वर्ष तक भी अनुभव करने से बिना शिक्षा के प्राप्त किये नहीं कर सकता, इसलिये योरुप वासी आत्मिक शिक्षा में निर्बल हैं।

प्रश्न---यदि वेदों को बुद्धि का सहायक माना जावे तो मनुष्य के बनाये ब्राह्मणों में भी ये बातें पाई जाती हैं, इसलिये वेदों को मनुष्य की बुद्धि के अनुकूल बनना ही माना जावे?

उत्तर---ब्राह्मण संज्ञाकर्म सिद्धिलिंगम् ॥२॥

अर्थ---ब्राह्मण ग्रन्थों में कर्म को ठीक-ठीक करने के लिये उनमें कर्म की विधि और संज्ञा अर्थात् नामों का व्यवहार है जो इतिहास होने के कारण मनुष्य की बुद्धि के अनुसार होने को सिद्ध करता है

यदि वेद ईश्वर की ओर से प्रकाशित न होते तो मनुष्य के भीतर इतनी शक्ति कभी नहीं होती कि वह ब्राह्मणों जैसे कर्मकाण्ड के ग्रन्थ और उनके नियमों में कर्म के पूर्ण करने का सारा क्रम नियत कर सकता। इसलिये ब्राह्मण में जो कर्म और नाम के नियम हैं वह वेदों के प्रकाश के लिंग हैं, क्योंकि ब्राह्मणों में सारी बात प्रत्यक्ष ही नहीं हैं कि जिससे यह अनुमान किया जावे कि मनुष्यों ने अनुभव से ज्ञान करके लिखे होंगे, किन्तु उनमें परोक्ष बातों की भी चर्चा है जो बताती हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थ बनाने वालों ने वे बातें प्रत्यक्ष जगत् से नहीं लीं बल्कि किसी दूसरी जगह से ली है, इसलिये उनसे भी वेदों के ईश्वर उपदेश होने का पता लगता है। ब्राह्मण ग्रन्थों का बहुत-सा भाग वेदों का व्याख्यान है और बहुत स्थलों पर कर्म काण्ड में विनियोग करने वाला है।

प्रश्न ब्राह्मण ग्रन्थों में तो दान देने का और यज्ञ करने का बहुत विधान है वह मनगढ़न्त जान पड़ता है, बुद्धी के अनुकूल नहीं!

उत्तर---बुद्धिपूर्वो ददातिः ॥३॥

अर्थ---वेदों में जो दान की शिक्षा है वह भी बुद्धि के अनुकूल है। आशय यह है कि जो मनुष्य दान करता है वह बुद्धि के अनुकूल ही करता है क्योंकि जिस प्रकार दान दूसरों को दिया जाता है उसी प्रकार पृथ्वी में बीज बोया जाता है। उस बीज में फल लगता हुआ देखकर अनुमान होता हैं कि दान का कोई फल है। जिस समय बीज बोया जाता है उस समय कोई फल नहीं लगता, न कोई अंकुर निकलता है किन्तु आगे जाकर उत्पन्न होता है। ऐसे ही दान का फल भी आगे होता है। इस लिये ब्राह्मण ग्रन्थों ने लिखा था। (परोक्षप्रिया हि देवाः प्रत्यक्ष-

द्विष:) आशय यह है, विद्वान् लोग परोक्ष फल वाले कर्म को प्यार करते हैं और प्रत्यक्ष फल से द्वेष करते हैं क्योंकि प्रत्यक्ष फल वाले भोग के सम्बन्ध में कर्म हैं जिनसे विषय का भोग होकर दुख ही मिलता है इसलिये जिन कर्मों से आने वाला दुःख दूर हो ही विद्वानों के करने योग्य हैं।

प्रश्न---क्या जिन कर्मों को पाप लिखा है या जिस दान का लेना अच्छा माना है और किन्हीं को बुरा बतलाया है, यह तो बुद्धि के विरुद्ध है ?

उत्तर—तथा प्रतिग्रहः ॥४॥

अर्थ – जिस प्रकार दान देने वाली श्रुतियां बुद्धि के अनुकूल हैं, ऐसे ही दान लेने योग्य-अयोग्य बतलाने वाले ब्राह्मण ग्रन्थों का लेख भी ठीक है, क्योंकि बहुत से ऐसे दान हैं जिनके लेने वाले को झगड़े में पड़ना पड़ता है। कुछ जगह दान लेने में आत्महनन करना पड़ता है। आशय यह है कि जिस प्रकार दान देने में बुराई-भलाई विद्यमान है वैसे ही जिससे अच्छा फल हो वह दान देना, जिससे बुरा फल हो वह न देना चाहिये, ऐसे ही दान लेने में भी दोनों प्रकार के फल हो सकते हैं, इसलिये बुद्धि से विचार लेने की आवश्यकता होने से और बिना शिक्षा के बुद्धि के असम्भव होने से ब्राह्मण ग्रन्थों में दान और प्रतिग्रह देने और लेने का विचार लिखा है, वह बुद्धि के अनुसार है।

प्रश्न – यदि हम मृत पितरों के लिये दान करें तो क्या वह नहीं पहुँचेगा ?

उत्तर—किसी के किये का फल दूसरे को नहीं पहुंच सकता। केवल अपने किये कर्मों का फल मिलता है।

प्रश्न– क्यों नहीं मिलता, हमतो प्रायः यही सुनते हैं ?

उत्तर--आत्मान्तरगुणानामात्मान्तरेऽकारणत्वात् ॥५॥

अर्थ–दूसरी आत्मा के गुण पाप पुण्य आदि दूसरो आत्मा के लिये सुख दुःख या कारण नहीं हो सकते, क्योंकि एक मनुष्य ने पाप किया है यदि उससे दूसरा मुक्त जीव बन्ध जावे और एक मुक्त जीव के ज्ञान से दूसरा बन्धा हुआ मुक्त हो जावे तो सारी कर्म परम्परा अस्त व्यस्त हो जावे, और जिसने पाप नहीं किया उसे दण्ड मिल जावे और जिसने पाप किया तो वह छूट जावे। इससे सारे नियम भंग हो जावें इसलिये प्रत्येक मनुष्य अपने-अपने कर्मों का ही फल पाता है। यवि यह बिचार लिया जावे कि कर्मो का फल किस प्रकार मिलता है तो कुछ सन्देह ही उत्पन्न नहीं होता, मनुष्य जो कर्म करता है उससे दो अंकुर उत्पन्न होते हैं एक संस्कार दूसरा भोग। उस कर्म का संस्कार जो मन में होता है उसके भोग के समय वैसी ही बुद्धि होकर दुःख-सुख अनुभव करता है। उसका संस्कार दूसरे जीव के अन्तःकरण में हो नहीं सकता। इसलिये वह उसके फल को भोग ही नहीं सकता, क्योंकि भोग बुद्धि है जिस वस्तु को मनुष्य अपने अनुकूल समझता है उससे सुख मानता है। जिसको विरुद्ध समझता है उससे दुःख मानता है। अब यह अनुकूल व प्रतिकूल समझना संस्काराधीन है। कोई वस्तु जीवात्मा को सुख दुख देने वाली नहीं, कि जिससे दूसरे को भोग मिल सके।

प्रश्न–भूख आदि तो प्रत्यक्ष में दुख प्रतीत होती है। इसलिये एक कवि ने कहा भी है कि "भूख कड़ा दुःख है!

उत्तर--यद्यपि किसी कवि ने कहा हो परन्तु भूख दुःख नहीं, क्योंकि भूख यदि दुःख होती तो जिस आदमी को भूख कम हो जाती है तो वह उसके बढ़ाने के लिये यत्न करता हुआ न

देखा जाता, परन्तु प्राय: देखा जाता है इसलिये भूख न दुःख है न सुख, जिसके पास खाने को है उसे सुख प्रतीत होता है जिसके पास खाने को नहीं उसे दुःख प्रतीत होता है। इसलिये भूख को आवश्यकता का होना न होना ही सुख-दुःख का कारण है।

प्रश्न - यदि यह मान लिया जावे कि एक के किये का फल दूसरे को नहीं मिलता तो पुत्रेष्टि यज्ञ करने से पुत्र का गुण वाला होना और पितृयज्ञ करने से पितरों का तृप्त होना जो वैदिक नियम है, झूठ हो जावे।

उत्तर--पुत्रेष्टि कर्म से पुत्र उत्पन्न होता है। उसका गुण वाला व निर्गुण होना उसके पूर्व कर्मों का फल है। और पितृयज्ञ में जो पुत्र पिता को तृप्त करता है वह पिता के पूर्व कर्मों के बदले में करता है जिसका नाम पितृऋण है। जो बाल्यावस्था में पालन पोषण करने से होता है, इसलिये उनका अपना ही कर्म है दूसरे का नहीं।

प्रश्न--यदि हम दान करें तो उसका फल अवश्य होगा चाहे किसी को दें?

उत्तर---तद्दुष्टभोजने न विद्यते ।।६।।

अच्छे मनुष्य को दान से फल मिलता है परन्तु दुष्टों को खिलाने से दान का फल नहीं मिलता। जिस प्रकार अच्छी धरती में वृक्ष बोने से उत्पन्न होता है परन्तु ऊसर में बोने से बीज व्यर्थ जाता है। इसलिये कहा है कि बुद्धि के अनुसार दान करना चाहिये। जहां से फल प्राप्त होने की आशा न हो वहां बोना ठीक नहीं। इसलिये अतिथि यज्ञ और ऋषितर्पण के समय धर्मात्मा और विद्वानों के स्थान में पापी और मूर्खों को खिलाने से ऋषितर्पण का फल नहीं मिलता. क्योंकि जिस

वृक्ष का बीज पृथ्वी में बोया जाता है यदि वह पृथ्वी उस योग्य न हो तो फल नहीं आ सकता। इसलिये जो पुरुष पुण्य करने वाले नहीं उनको दान देने से पुण्य का फल मिलना असम्भव है।

प्रश्न—दुष्ट किसे कहते हैं ? क्या जिसके खिलाने से पुण्य नहीं होता ?

उत्तर--दुष्टं हिंसायाम् ॥७॥

अर्थ---दुष्ट उसे कहते हैं जो हिंसा करने वाला हो। यहां हिंसा का अर्थ वेद विरुद्ध कर्मों का उपलक्षण मात्र है। आशय यह है, कि जो लोग वेद के विरुद्ध कर्म करते हैं उनको दान देने या भोजन कराने मे दान का भूल नहीं मिलता, जिस प्रकार ऊसर भूमि में बोने से बीज भी नष्ट हो जाता है। इसलिये बुद्धि के अनुसार दान करना चाहिये, वरन् निष्फल कर्म के करने से हानि के अतिरिक्त लाभ कुछ नहीं हो सकता।

प्रश्न--यदि दुष्ट मनुष्य को खिलाने से पुण्य नहीं होता तो पाप भी नहीं, इसलिये सबको बिना सोचे खिलाना चाहिये !

उत्तर--तस्य समभिव्याहारतो दोषः ॥८॥

प्रश्न---हिंसा करने वाले वा पाप करने वाले पुरुष को खिलाने से तो पाप ही है, किन्तु उसके साथ व्यवहार करने से भी दोष है अर्थात् उसके हाथ को खाने से, उसके साथ एक पंक्ति में बैठकर खाने से, साथ सोने से भी पाप है। इसकी व्याख्या मनस्मृति में भली प्रकार की गई है। इसलिये बुद्धिपूर्वक दान देना चाहिये और प्रत्येक काम में जांच करके व्यवहार करना चाहिये। बिना बुद्धि से विचारे किसी से सम्बन्ध उत्पन्न कर लेने में बड़ी ही हानि है। इसलिये जब तक

परमात्मा के दिये वेदों की आज्ञा से ज्ञान प्राप्त करके कर्म न किया जाएगा तब तक बहुत प्रकार की हानि होना सम्भव है।

प्रश्न – यह दोष तो सबके साथ व्यवहार करने से होता है। इसलिये किसी के साथ खाना और सोना आदि व्यवहार नहीं करना चाहिये ?

उत्तर—तद्दुष्टे न विद्यते ॥९॥

अर्थ---जो लोग शास्त्र की आज्ञा के अनुकूल कार्य करने वाले हैं उनके साथ व्यवहार करने से कोई हानि नहीं। आशय यह है कि कुसंग से पाप होता है, अच्छे सग से पाप नहीं होता। पापी मनुष्य के साथ भोजन करने, काम में लगने और अन्य व्यवहार में दोष अवश्य लगता है। ऐसे को दान देने से पुण्य के स्थान में पाप होता है।

प्रश्न---फिर कैसे मनुष्यों को दान देना चाहिये ?

उत्तर--पुर्नविशिष्टे प्रवृत्तिः ॥१०॥

अर्थ---जो उत्तम गुण वाले हैं उनको दान देना, भोजन कराया जाना और उनका संग करना चाहिये, क्योंकि जिनकी उपासना की जाती है उसके गुण हम में आते हैं इसलिये अपने बड़े पिता, दादा, गुरु, आचार्य, अतिथि और बिद्वान् ही इस योग्य हैं कि उनकी सेवा की जावे, और उनके संग से लाभ उठाया जावे। यदि हमारे पास कोई बस्तु हो और उसको किसी को देने का भी बिचार हो यदि वह दुष्ट हो तो त्याग देना ही चाहिये नहीं तो उससे अधिक विद्वान् मनुष्य मिले तो उस योग्य मनुष्य को ही देना चाहिये, जिसको देने का विचार हो उसको नहीं देना चाहिये, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य का स्वभाव ही यह है, कि वह उन्नति का इच्छुक है। इसलिये जैसे

अच्छा लेने वाला मिलेगा वैसा ही अधिक फल मिलेगा जैसे कोई मनुष्य किसी पृथ्वी में बोना चाहता है परन्तु उसको उससे अच्छी पृथ्वी मिल जावे तो उसी में बोयेगा।

समे हीने वा प्रवृत्तिः ॥११॥

अर्थ---श्रेष्ठ गुणों वाला न मिल सके तो दान देना बन्द न करे किन्तु अपने बराबर गुण वाले पुरुष को दान दे, यदि वह पापी न हो तो। यदि अपने बराबर का भी न मिले तो अपने से न्यून गुणों वाले शुद्ध आचारी पुरुष को दान दे, क्योंकि न देने से देना अच्छा है। केवल पापी को देना बुरा है। यदि पापी न हो तो कम विद्या वाले को भी, विद्वान् न मिले तो, दान दे दे। दान की रीति बन्द न करना चाहिये केवल पापी को देना वा उससे लेना वा अन्य व्यवहार न करें।

एतेन हीनसमविशिष्टधार्मिकेभ्यः परस्वादानं व्याख्यातम् ॥१२॥

अर्थ---जिस प्रकार अपने से निर्बल अर्थात् कम गुण वाले और बराबर गुण वाले और बड़े गुण वाले धर्मात्माओं को दान देना बतलाया गया है इसी प्रकार दान लेते समय पर भी ध्यान रखना चाहिये। आशय यह है कि दुष्टों से दान नहीं लेना चाहिये क्योंकि वे अधर्म से कमाते हैं। कुछ मनुष्य दूसरे से अर्थात् दान लेने के स्थान में चोरी आदि से लेना बताते हैं सो ठीक नहीं, क्योंकि विषय केवल वेदोक्त विधि अर्थात् जिसका करना वेद ने बतलाया है और जिसका न करना बतलाया है वह भी केवल दान देने और लेने के सम्बन्ध में है, इसलिये यहाँ किसी शब्द से चोरी आदि का लेना ठीक नहीं। इसी जगह पर वे एक श्रुति प्रस्तुत करते हैं जिसका अर्थ यह करते हैं कि यदि सात दिन तक खाने को न मिले तो शूद्र

के घर से चुरा कर खा लेने से भी पाप नहीं। यदि दस दिन तक भोजन न मिले तो वैश्य के घर से चुराना उचित हैं। यदि १५ दिन तक न मिले तो क्षत्रिय के घर में चोरी करे। यदि जीवन जाने का भय हो तो ब्राह्मण के घर से चोरी करे। यद्यपि यह श्रुति हमारे सामने दृष्टिगोचर नहीं हुई तथापि यह आपद्धर्म वालों के लिये आ सकती है।

प्रश्न--क्या धार्मिकों को ही दान देना चाहिये और उनसे ही लेना चाहिये ? धर्म विरोधियों से दान लेना-देना नहीं चाहिये ?

उत्तर--तथा विरुद्धानां त्यागः ॥१३॥

अर्थ—जो मनुष्य धर्म के विरोधी हैं उनसे कदापि दान लेने-देने का व्यवहार नहीं करना चाहिये क्योंकि उनसे व्यवहार करने में दोष पूर्व हो बतला चुके हैं। कुछ लोग इस सूत्र का यह अर्थ करते हैं कि मनुष्य क्षुधा से मरता हो, जिसका उल्लेख पीछे आ चुका है, और वह किसी के घर में चोरी करने जावे, उस समय जो उसको चोरी करने से रोके तो उस रोकने वाले को मार देने में भी पाप नहीं होता, परन्तु यह अर्थ यथ र्थ नहीं हैं क्योंकि वेदों में किसी का स्वत्व लेना पाप बताया है, और जो अपने स्वत्व की रक्षा करता है उसको बिना किसी दोष के अपने स्वार्थ के लिये मार डालना अवैदिक कर्म हैं। जो किसी प्रकार भी निर्दोष नहीं हो सकता। इसलिये यह अर्थ ठीक है कि जो मनुष्य धर्म के विरुद्ध हो उनको दान देना और उनसे दान लेना त्याग दे।

प्रश्न--यदि भोजन एक मनुष्य के खाने योग्य बना हो और उस समय जो दूसरा आ जावे तो क्या करे ?

उत्तर—होने परे त्यागः ॥१४॥

अर्थ - जब ऐसी अवस्था हो कि एक मनुष्य की जान भोजन से बचती हो तो उस समय बुद्धि से विचार लेना चाहिये कि दो में से कौन संसार के लिये अधिक उपकार करने वाला है, कौन ईश्वर की आज्ञाओं का ठीक-ठीक पालन करने वाला है ? यदि यह निश्चय हो जावे कि जो दूसरा आया है, वह संसार का उपकार करने और धर्म के कार्यों में हीन है तो उसको न देकर स्वयं खाले, क्योंकि जीवन दूसरों की भलाई के लिये है। जिससे संसार को अधिक लाभ पहुंचे उसका जीवित रहना अच्छा है। शंकर मिश्र ने इस सूत्र का यह अर्थ किया है यदि भूख से मरता हुआ मनुष्य दूसरे के घर पर चोरी करने जावे और घर वाला उसे चोरी करने से रोके और वह गुण कर्म में अपने से न्यून हो तो उसे मार डालना चाहिये। यह अर्थ वैदिक सिद्धान्तों के नितान्त विरुद्ध हैं।

प्रश्न---यदि आने वाला अतिथि गुणों में बराबर हो और उपकारी भी समान ही हो और भोजन एक ही के लिये हो तो क्या करे ?

उत्तर—सम आत्मत्यागः परत्यागो वा ॥१५॥

अर्थ—यदि दोनों धर्म और उपकार में बराबर हों तो चाहे स्वयं न खाय चाहे स्वयं खाले अर्थात् चाहे स्वयं खाय वा अतिथि को खिला दे। इस अवस्था में दोनों का उपकार एक ही सा होगा। इसमें अपने को छोड़कर दूसरे को दे देना उत्तम पक्ष है और स्वयं खा लेना मध्यम पक्ष है।

प्रश्न---यदि दूसरा अपने से धर्मात्मा और परोपकारी अधिक हो तो क्या करे ?

उत्तर—विशिष्ट आत्मत्याग इति ॥१६॥

अर्थ—यदि दूसरा अपने से अधिक धर्मात्मा हो तो उसकी रक्षा करना और अपने को छोड़ देना ही अच्छा है। उस अवस्था में अपनी रक्षा करना पाप है, क्योंकि उससे संसार में अधिक उपकार होना सम्भव है। इस सूत्र का तात्पर्य वहां पर लगता है कि जहां दोनों बराबर के विद्वान मृत्यु के संकट में पड़े हों और उनमें से एक का बचना सम्भव हो तो किसको बचाना चाहिए तो उत्तर ऊपर लिखा हुआ है। आशय यह है कि वेदों में जो कुछ लिखा हुआ है सब बुद्धिपूर्वक करने के लिये है।

छठे अध्याय का पहला आह्निक समाप्त

अध्याय ६, आह्निक २

-:०:-

प्रश्न---बहुत ऐसे कर्म हैं कि जिनका फल संसार में दृष्टिगत नहीं होता ?

उत्तर---दृष्टादृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोजनमभ्युदयाय ॥१॥

अर्थ---दृष्ट अर्थात प्रत्यक्ष फल वाला कर्म जैसे खेती, व्यवहार और नौकरी आदि और अदृष्ट अर्थात जिसका फल संसार में दृष्टिगत नहीं होता है। जिस कर्म का फल प्रत्यक्ष में नहीं मिलता वह तत्त्वज्ञान के प्राप्त करने के लिये है। वेद में निष्काम करने के लिए आज्ञा दी है और उस कर्म का फल संसार में दृष्टगत नहीं होता जिस पर निर्बुद्धि मनुष्यों को सन्देह होता है कि वह कर्म निष्फल गया। ऋषि इस भ्रम को दूर करते हैं कि निष्काम कर्म अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा तत्वज्ञान के लिये किया जाता है, दृष्टफल न होने से वह कर्म निष्फल नहीं जाता किन्तु उससे अन्तःकरण का मल दूर होता है। दृष्ट-कर्म से तात्पर्य इसी जन्म में भोगने योग्य कर्म से है जिसको भोक्तव्य कहते हैं और अदृष्ट से आशय उन कर्मों से है जो आने वाले दुःखों से बचने के लिए किए जाते हैं जिनका नाम कर्मतत्त्व या धर्म है।

प्रश्न--जिन कर्मों का फल इस समय न हो उसके आगे फल देने का क्या प्रमाण है ?

उत्तर--जो कर्म इस दुनिया के भोग के लिये किये गये उनके भी दो भेद हैं। एक वह जिसका फल तत्काल होता है जैसे खाना, पीना आदि, दूसरे वह जिसका फल आगे होता है जैसे बोना, पढ़ना आदि। जैसे आज बोकर महीनों उपरान्त उठाते हैं, वर्षों के उपरान्त फल खाते हैं। यह दृष्टान्त दैव ने कर्मों का फल आगे होने के प्रमाण में प्रस्तुत कर दिया है। यदि कोई मनुष्य यह बिचार करले कि कर्मों का फल आगे को नहीं होता, केवल बर्तमान में ही होता है, तो खेती भी न बोये, वाटिका कभी न लगाये।

प्रश्न--वाटिका और खेती का फल तो प्रत्यक्ष बोने से काटते हुये देखते हैं परन्तु अदृष्ट कर्मों का फल तो किसी को नहीं दीखता ?

उत्तर--जिस प्रकार खेती बोने वाला फल उठाता हुआ देखा जाता हैं ऐसे ही पूर्व कर्मों का फल मिलता हुआ भी देखा जाता है। एक जीव राजा के घर उत्पन्न होता है और सारी सामग्री विना कमाय प्राप्त कर लेता है, दूसरा ऋण चुकाता रहता है। इससे स्पष्ट विदित है कि जिसने पूर्व जन्म में अच्छे कर्म किये हैं अर्थात् बोया है उसको फल पका पकाया मिलता है जिसने नहीं बोया उसको नहीं मिलता।

प्रश्न--आगे के लिये फल उत्पन्न करने वाले कौन से कर्म हैं ?

उत्तर--अभिषेचनोपवासब्रह्मचर्यगुरुकुलवासवानप्रस्थयज्ञदानमोक्षणदिङ्नक्षत्रमंत्रकालनियमाश्चादृष्टाय ॥२॥

अर्थ--निम्नलिखित कर्म अदृष्ट फल अर्थात् मोक्ष और आगामी जीवन में सुख देने वाले हैं। पहले अन्तःकरण की शुद्धि का

प्रबन्ध करना जिसको स्नान कहते हैं। कुछ मनुष्य स्नान का तात्पर्य केवल जल से शरीर को पवित्र करना ही समझते हैं, परन्तु इतना ही नहीं प्रत्युत शुद्धि के लिये ऐसे स्नान की आवश्यकता है जिसको महात्मा श्री कृष्ण जी ने अर्जुन को बतलाया था । आत्मा रूपी नदी है, संयम और पुण्य के घाट हैं सत्य का जल भरा है। शील के तट हैं और दया की लहरे उठ रही हैं, हे अर्जुन ! तू ऐसी नदी में स्नानकर। केवल जल से आत्मा शुद्ध नहीं हो सकता। व्रत करना अर्थात् कृच्छ चन्द्रायण आदि ब्रह्मचारी होना-गुरुकुल में शिक्षा प्राप्ती के लिये बास करना, वानप्रस्थाश्रम को यथा मन्त्र से पालन करना दान करना, प्रमोक्ष अर्थात् यज्ञ में विधिवत् सामग्री डालना और संध्या अदि में दिशा और नक्षत्र और समय के नियमों का यथावत् पालन करना।

प्रश्न—ब्रह्मचारी बनने से तो शरीर पुष्ट होता है और ज्ञान प्राप्ति होती है इसलिये वह दृष्ट कर्म है ?

उत्तर---यद्यपि ब्रह्मचारी होने का कुछ फल यहां भी मिलता है परन्तु विद्याफल नहीं है किन्तु कर्मों का साधन है या उद्देश्य प्राप्ति में सहायक हैं, इसलिये इस व्रत का मुख्य फल आगे ही मिलेगा। कर्म के दो फल होते हैं एक संस्कार दूसरा भोग। यह केवल संस्कार है। भोग इस समय नहीं मिलता। इस ही प्रकार और कर्मो को भी विचार लेना चाहिए।

प्रश्न---नक्षत्र के नियम से क्या तात्पर्य है ? वह किस प्रकार से फल देने वाला है ?

उत्तर--प्रातः काल की सन्धया तारों की विद्यमानता में करे और सायं सन्धया सूर्य के होने पर। इस प्रकार के जो कर्मकांड के नियम हैं उनका पालन करे।

प्रश्न---क्या शुभ कर्मों का ही अदृष्ट फल होता है या

अशुभ कर्मों का भी। यदि बुरे कर्मों का अदृष्ट फल है तो वे कौन-से हैं ?

उत्तर—चातुराश्रम्यमुपधाः अनुपधाश्च ॥३॥

अर्थ—अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के कर्मों का अदृष्ट फल होता है। परन्तु उनमें अधिकतर विचारों पर भी ध्यान देना चाहिये क्योंकि यदि शुद्ध इच्छा से एक कार्य किया जावे और उससे परिणाम बुरा हो तो उससे बुरा अदृष्ट उत्पन्न नहीं होगा। जैसे एक वैद्य किसी के फोड़े को चीरता हैं, किसी प्रकार की न्यूनता हो जाने से रोगी मर जाता है तो उस अवस्था में वैद्य दोषी नहीं होगा और न ही अगले जन्म में उसको उसका बुरा फल मिलेगा। यद्यपि मरने वाला उसके अस्त्र से मरा है। आशय यह है कि चारों आश्रमों के कर्म श्रद्धा से उत्तम फल मिलता है उसके विरुद्ध करने से बुरा फल मिलता है परन्तु यह दोनों कर्म श्रद्धा की न्यूनाधिकता से भिन्न-भिन्न फल उत्पन्न करते हैं।

प्रश्न---इस सूत्र में उपधा शब्द जिसके अर्थ श्रद्धा के लिये गये, उसका क्या आशय है ?

उत्तर--यहां उपधा शब्द से कुल अधर्मों के साधनों का लेना ऋषि को अभिप्रेत है। उसका विवरण अगले सूत्र में ऋषि स्वयं करेंगे।

भावदोष उपधाऽदोषोऽनुपधाः ॥४॥

अर्थ—इस सूत्र में ऋषि उपधा का लक्षण करते हैं। भाव में जो दोष है उसको उपधा कहते हैं। जैसे राग, द्वेष, प्रमाद अश्रद्धा, अहंकार, अभिमान और निन्दा आदि। ये मन के दोष हैं, जो उपधा नाम से कहे जाते हैं। और उसके विरुद्ध जो कर्म करने योग्य हैं और जो गुण ग्रहण करने योग्य हैं जैसे ज्ञान, वैराग्य, सत्संग, श्रद्धा, संयम, प्रेम, गाम्भीर्य वा मनु महाराज के

बतलाये धर्म के दश लक्षण थे, अनुवधा शब्द से ग्रहण किये जाते हैं ये दोनों प्रकार के गुण और कर्म, धर्म और अधर्म के कारण होते हैं।

प्रश्न—जो शुद्धि बतलाई गई है उससे क्या तात्पर्य है ? उन की पहचान किस प्रकार हो सकती है ?

उत्तर—यदिष्टरूपरसगन्धस्पर्शं प्रोक्षितमभ्युक्षितञ्च-तच्छुचिः॥५॥

अर्थ—जो रूप, रस, स्पर्श और गन्ध श्रुति वेद और स्मृति धर्मशास्त्र ने लाभदायक बतलाये हैं वे शुद्ध हैं ! जैसे जो धन न्याय से कमाया जाता है वह पवित्र है। जो वेद मन्त्रों में बतलाये हुये नियम के साथ पवित्र किया जाता है वह शुद्ध है। जिस प्रकार बतलाया गया है कि ब्राह्मण यज्ञ कराने और विद्या पढ़ाकर गुरु दक्षिणा लेने से धन प्राप्त करे यह धन पवित्र है। इसके विरुद्ध कमाया हुआ धन अपवित्र है। इसी प्रकार क्षत्रिय जो प्रजा की रक्षा करके धन प्राप्त करता है वह धन पवित्र है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु वेद के अनुसार शुद्ध कहलाती है।

प्रश्न – अशुद्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर – अशुचीति शुचिप्रतिषेधः ॥६॥

अर्थ – जो शुद्ध द्रव्य है उसके विरुद्ध अशुद्ध है अर्थात् वेद-शास्त्र ने जैसा लिखा है उसके प्रतिकूल को अशुद्ध मानना चाहिये । अर्थात् ब्राह्मण जो धन द्वारा प्राप्त करते हैं वह अशुचि होगा।

प्रश्न—क्या इसके अतिरिक्त और किसी प्रकार से अपवित्र नहीं होगा ?

उत्तर—अर्थान्तरञ्च ॥७॥

अर्थ—यदि सत्यता से कमाया हुआ धन है तो भी भाव दुष्ट होने से जो दान है वह भी अशुचि है। इसी प्रकार जल

का दोष भी अशुद्ध कर देता है। इस प्रकार दान लेने देने में दोष का होना स्पष्ट है।

प्रश्न—क्या उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त धर्म का कोई और भी कारण है?

उत्तर—अयतस्य शुचिभोजनादभ्युदयो न विद्यते, नियमाभावात् विद्यते वार्थान्तरत्वद् यमस्य ॥८॥

अर्थ—जो मनुष्य यम से रहित हैं अर्थात् हिंसक हैं, असत्यवादी है और धन का हरने वाला, व्यभिचारी, अभिमानी-इन्द्रियों के विषयों में फंसा हुआ है ऐसे मनुष्य के खिलाने से धर्म नहीं होता किन्तु पाप होता है क्योंकि ऐसा करने बालों से जितने पाप होते है उनका भाग उनके सहायकों पर भी पड़ता है। संयमी को खिलाने से धर्म का साधन होता है। आशय यह है कि चाहे पुण्य न करता हो उसको भोजन करावें, परन्तु पापी को कभी न खिलावे।

प्रश्न—क्या केवल यम ही फलदायक है, शुद्ध भोजन फलदायक नहीं हैं?

उत्तर- असति चाभावात् ॥९॥

अर्थ- यदि जिसको खिलाया जावे या खिलाने वाला यम से युक्त हो परन्तु जो दान दिया हो यह श्रद्धायुक्त न होने से अशुद्ध हो तब भी वह धर्म अर्थात् मोक्ष का साधन नहीं, इसलिये जो दान दिया जावे उसका सत्यता से कमाया हुआ होना और सुकर्मी को दान देना ही धर्म के लिये कहता है, यहां दान और भोजन सब अच्छे कर्मो के लिये कहते हैं अर्थात् यह सत्यता से कमाया हुआ धन ही दान देने और लेने योग्य है।

प्रश्न—प्रवृत्ति के सहायक जो राग द्वेषादि दोष है उनका कारण क्या है?

उत्तर–सुखाद्रागः ॥१०॥

अर्थ---चन्दन आदि की सुगन्ध लगाने, या सुन्दर वस्तु के देखने, अच्छे रस के खाने, सुन्दर राग के सुनने आदि से सुख प्रतीत होता है। उससे उस प्रकार की वस्तुओं में सुख या दुख का कारण समझने से राग उत्पन्न होता है। इस प्रकार जिन बुरी वस्तुओं से दुःख मिलता है, जैसे सर्प और काँटे आदि में द्वेष उत्पन्न होता है और द्वेष मोह प्रवृत्ति के कारण होने से दोष कहाते हैं। महात्मा गौतम जी ने दोष का यही लक्षण किया है कि जो काम में लगाने वाला हो।

प्रश्न--यदि दुःख-सुख से ही राग द्वेष उत्पन्न होते हैं तो उनके नाश से वह कैसे रहते है ?

उत्तर--तन्मयत्वाच्च ॥११॥

अर्थ---राग-द्वेष से उत्पन्न होने वाले द्वेषों का दृढ़ संस्कार मन में उत्पन्न होता है जिसके कारण जो काम में फंसा हुआ मनुष्य है, उसको सारा संसार, स्त्री न होने पर भी, स्त्री ही दीख पड़ता है, या जिस को सर्प का संस्कार उत्पन्न हो गया है तो अन्धेरे में हर जगह साँप भूत ही दीख पड़ते हैं, ऐसी अवस्था को तन्मय कहते हैं।

प्रश्न--इसका कोई और भी कारण है ?

उत्तर -अदृष्टाच्च ॥१२॥

अर्थ--अदृष्ट से भी दोष उत्पन्न होते हैं। यद्यपि सामान्यतया अदृष्ट एक असाधारण कारण है परन्तु प्रायः अदृष्ट साधारण कारण भी हो जाता है। जिस प्रकार पूर्व जन्म में जिसने स्त्री के विषय को अनुभव किया है उनको युवावस्था में स्त्रियों से प्रेम उत्पन्न हो जाता है, जिसने पूर्व जन्म में सर्प से कष्ट पाया है उसको इस जन्म में सर्प से द्वेष उत्पन्न हो जाता है।

प्रश्न--इस जन्म ही के होने वाले संस्कार से राग होता है, पूर्व जन्म की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर--इस जगह होनेवाला संस्कार कारण नहीं हो सकता। जो हुआ नहीं उसको कारण मानन में कोई प्रमाण नहीं। इसलिये अदृष्ट से मानना ठीक है। उस राग द्वेष का और भी कारण बताते हैं।

जातिविशेषाच्च ॥१३॥

अर्थ - जातिविषेश का भी जातिविशेष से राग और द्वेष होता है। मनुष्य अन्न की इच्छा रखते हैं पशु हरी घास को ही अच्छा समझते हैं, कर्म जाति के पशु कांटों को खाना ही अच्छा समझते हैं। इसमें उस जाति का पिछले जन्म के कर्म से उत्पन्न हुआ अदृष्ट ही कारण है। जाति तो केवल एक द्वार है। इसी प्रकार भैंस, ऊंट और घोड़े से द्वेष होता है। न्योले का सांप से द्वेष होता है। इसी प्रकार और भी जातियों में विचार से ज्ञात कर सकते हैं।

प्रश्न---धर्म और अधर्म का क्या कारण है ?

उत्तर---इच्छाद्वेषपूर्विका धर्माधर्मप्रवृत्तिः ॥१४॥

अर्थ---प्राप्त करने में राग से प्रवृत्ति होती है, हिंसा आदि के दुष्कर्मों में द्वेष से प्रवृत्ति होती है, राग अर्थात् इच्छा के कारण यज्ञदान और परोपकार के कामों में जो प्रवृत्ति होती है वह धर्म को उत्पन्न करती है। और द्वेष से हिंसा आदि दुष्ट कर्मों की प्रवृत्ति अधर्म को उत्पन्न करती है। राग-द्वेष ही सारे संसार को चला रहे हैं इसलिये महात्मा गौतम जी ने न्यायदर्शन में प्रवृत्ति का यह लक्षण किया है। जो वाणी मन और शरीर से काम करता है उनका नाम प्रवृत्ति है। जो वाणी से काम किया जाता है उसका नाम वाचिक प्रवृत्ति जैसे सत्य बोलना, मीठा बोलना, दूसरों के भले के लिये बोलना पुण्य का कारण है

और झूठ बोलना, कड़वा बोलना और दूसरों को हानि पहुंचाने वाली बात बोलना, पाप कहाता है।

प्रश्न--धर्म अधर्म से क्या उत्पन्न होता है।

उत्तर —तत् संयोगो विभागः ॥१५॥

अर्थ धर्म अधर्म से संयोग अर्थात् आत्मा का शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण के साथ सम्बन्ध होता है जिसको जन्म कहते हैं। विभाग अर्थात शरीर का इन्द्रियों से पृथक होना जिसको मृत्यु कहते हैं। इसलिये यह जन्म और मृत्यु का जो चक्र है उसी का नाम संसार है। इसको प्रेत्यभाव भी कहते हैं अर्थात् मरना और जीना। इस मरने-जीने का कारण धर्माधर्म है। धर्माधर्म न हो तो यह चक्र चल ही नहीं सकता। धर्माधर्म का कारण राग-द्वेष है और उनका कारण मिथ्या ज्ञान है।

प्रश्न--इस प्रेत्यभाव का कभी नाश होता है वा नहीं ?

उत्तर—आत्मकर्मसु मोक्षो व्याख्यातः ॥१६॥

अर्थ--जब आत्मा में स्वरूप और परमात्मा का ज्ञान होता है तो उस समय शरीर और मन का जो जीवात्मा से पृथक् होना है उससे मोक्ष हो जाता है। आत्मा को जानने का साधन क्या है ? पहले मन को शुद्ध करने के लिये कर्मकाण्ड और उपासना-काण्ड नियम के अनुसार करना। अष्टाँगयोग भी मुख्य साधन है। जब निर्मल मन से तत्व ज्ञान हो जावेगा तो मिथ्या ज्ञान का नाश हो जावेगा। जिस प्रकार प्रकाश से अन्धकार का नाश हो जाता है। मिथ्या ज्ञान से राग-द्वेष का नाश होगा। इसी प्रकार आगे की प्रवृत्ति का नाश होने से मुक्ति हो जाती है।

छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥

वैशेषिक दर्शन भाषानुवाद

अध्याय ७, आह्निक १

पिछले अध्याय में संसार सागर से तरने और बन्धन में फंसने के कारण धर्म–अधर्म की परीक्षा को बतला कर अब महर्षि कणाद जी गुणों की परीक्षा करते हैं क्योंकि पिछले अध्यायों में गुण का उपदेश हो चुका है, विभाग भी हो चुके हैं, लक्षण भी बया चुके हैं, इस अध्याय में परीक्षा करते हैं । अतः लिखते हैं कि:–

उक्ता गुणाः ॥१॥

अर्थ---रूप आदि २४ गुणों को पहले बतला चुके हैं, जिनमें १७ तो ऋषि ने अपनी जिह्वा से कहे हैं और शेष ७ चकार शब्द से जो आदि-आदि के कर्म में हैं, जाने जाते हैं ।

प्रश्न–परीक्षा उस वस्तु की जाती है जिसमें सन्देह हो । गुण के होने में कोई सन्देह नहीं उसकी परीक्षा क्यों की जावे ?

उत्तर—गुणों के सद्भाव में कोई सन्देह नहीं किन्तु उनके नित्य वा अनित्य होने में तो सन्देह है, इसलिये परीक्षा करना आवश्यक है ।

प्रश्न–गुण के नित्य वा अनित्य होने की ही परीक्षा होगी वा और किसी प्रकार की भी ?

उत्तर—नित्य, अनित्य, पाकज, संख्या और परिमाण इन पांच प्रकार के गुणों की परीक्षा इस पहिले आह्निक में होगी ।

प्रश्न--रूप आदि गुण नित्य हैं वा अनित्य ?

उत्तर—पृथिव्यादिरूपरसगन्धस्पर्शाः द्रव्यानित्यत्वा-दनित्याश्च ॥२॥

अर्थ--पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु जो कि परमाणुओं से मिलकर बनते हैं उनके गुण, रूप रस, गन्ध और स्पर्श से सब अनित्य हैं, क्योंकि ये अनित्य वस्तुओं में पाये जाते हैं, यद्यपि और समवाय पदार्थ में रहने वाले गुण अनित्य ही हैं, परन्तु वे गुण विरुद्ध गुण के उत्पन्न होने से नष्ट होते हैं। ये चार गुण आश्रय के नाश से ही नाश को प्राप्त होते हैं। उनके नाश का कोई दूसरा कारण नहीं उनके नाश के बहुत से कारण हैं। आशय यह है कि ये गुण जिन पदार्थों में रहते हैं वह अनित्य हैं इसलिये वे गुण भी अनित्य ही हैं।

प्रश्न--क्या जब पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु नित्य हों तब भी ये अनित्य होंगे ?

उत्तर--- एतेन नित्येषु नित्यत्वमुक्तम् ॥३॥

अर्थ—जो रूप आदि गुणों के अनित्य होने में उनके आश्रय के अनित्य होने को हेतु से सिद्ध होता कि जब द्रव्य, जिनमें ये गुण रहते हैं नित्य हैं तो उस अवस्था में रूप आदि चारों गुणों को नित्य कहा गया है। आशय यह है कि आश्रय के नित्य होने से नित्य और अनित्य होने से गुण अनित्य हैं।

प्रश्न--क्या पृथ्वी से परमाणुओं में ही रूप आदि गुण होते हैं या और द्रव्यों में भी ?

उत्तर---- अप्सु तेजसि वायौ च नित्याः द्रव्य-नित्यत्वात् ॥४॥

अर्थ—जल के परमाणुओं में रूप, रस और स्पर्श ये गुण नित्य हो सकते हैं और अग्नि के परमाणुओं में रूप और स्पर्श गुण नित्य हो सकते हैं, क्योंकि जब ये द्रव्य नित्य होंगे तो उनके गुण भी नित्य होंगे।

प्रश्न--यदि नित्य द्रव्यों में जो रूप आदि गुणों को अनित्य माना जावे तो उसमें क्या हानि है ?

उत्तर--इसलिये कि द्रव्य गुण का समवाय सम्बन्ध होता है अतः नित्य द्रव्य में स्वभाविक गुण अनित्य नहीं हो सकता।

प्रश्न--जब नित्य आकाश का गुण शब्द अनित्य है, ऐसे ही नित्य आत्मा में बुद्धि अनित्य उत्पन्न होती है। इसी प्रकार इन गुणों को भी नित्य द्रव्यों में अनित्य मानने में कोई दोष नहीं ?

उत्तर--ऋषि ने जो सूत्र में बतलाया है वह स्पष्ट करता है कि शब्द और बुद्धि में दूसरे विकार उत्पन्न होते हैं जिससे वे अनित्य हो सकते हैं किन्तु रूप आदि में यह स्पष्ट नहीं होता जैसे शब्द में हलका और तीव्र होना पाया जाता है, और बुद्धि अर्थात् ज्ञान में अज्ञान के संस्कार आदि उत्पन्न होते हैं परन्तु रूप आदि में किसी प्रकार का विकार सिद्ध नहीं होता अर्थात् किसी दूसरे गुण का ज्ञान नहीं होता।

प्रश्न—यदि रूप आदि में दूसरे गुण की प्रतीति मान ली जावे तो क्या हानि है ?

उत्तर---यदि प्रतीति हो तो उसके कारण द्वयणुक आदि से आरम्भ होकर जल सावयव पदार्थों में विरुद्ध रूप आदि की प्रतीति हो परन्तु अग्नि और जल में स्पर्श रूप और रस आदि का वैसा ही ज्ञान होता है, विरुद्ध ज्ञान नहीं होता।

प्रश्न--जल गर्म है वायु ठण्डी है यह ज्ञान बतलाता है कि उनमें दूसरे गुण आ सकते हैं ?

उत्तर---इस प्रकार का ज्ञान तो निमित्त से किसी दूसरी वस्तु के उसमें प्रवेश करने से होता है।

प्रश्न---अनित्य पदार्थों के गुण नित्य होंगे।

उत्तर---अनित्येष्वनित्या: द्रव्यानित्यत्वात् ॥५॥

अर्थ---जल आदि के अनित्य होने में उनके गुण भी अनित्य होंगे, क्योंकि आश्रय के नाश होने से वे गुण भी नष्ट हो जावेंगे। जबकि आश्रय अनित्य है तो उसका नष्ट होना भी अवश्य है, और जब आश्रय का नाश हो गया तो उनमें रहने वाले गुण कहां रहेंगे? अवश्य ही नष्ट हो जायेंगे।

प्रश्न---कार्य रूप पृथ्वी में भी रूप आदि गुण मिलने से उत्पन्न होते हैं और नष्ट भी होते हैं, तो वे किस प्रकार आश्रय के नष्ट होने के योग्य होंगे?

उत्तर---कारणगुणपूर्वका: पृथिव्यां पाकजा: ॥६॥

अर्थ---पृथ्वी में जो रूप, रस और गन्ध हैं वे कारण के गुण के अनुसार हैं अर्थात जिस प्रकार के अवयवों से कोई पार्थिव वस्तु बनती है जैसे उन परमाणुओं में रूप, रस, गन्ध होंगे वैसे ही उस कार्य में प्रकट होंगे। जिस रंग के सूत का कपड़ा बुना जावेगा उसी रंग का कपड़ा होगा, ऐसे ही जिस प्रकार के फूलों से हार बनाया जावेगा वैसा ही गन्ध उन फूलों में होगा। यदि रेशम के तारों से कपड़ा बनाया जावेगा उसका स्पर्श रेशम के समान होगा, यदि सन के तारों से बनाया जावेगा तो उसका स्पर्श वैसा ही होगा।

प्रश्न---क्या जिसको आंख से जाने वही रूपत्व है, ऐसे ही रसना से ग्रहण किया जावे वही रसत्व है, इसी प्रकार स्पर्श और गन्ध आदि भी नाक और त्वचा से ही जाने जाते हैं?

उत्तर—यदि ऐसा माना जावे तो केवल ज्ञान इन्द्रिय के नष्ट हो जाने से ही यह रूप है इस ज्ञान की उत्पत्ति का न होना ही सिद्ध होगा। इसलिये चक्षुमात्र बाह्य अनुभव से ग्रहण के योग्य होता है जिसकी जाति है वह रूप है और जो रूपत्व है वह इन्द्रियों से ग्रहण नहीं हो सकता।

प्रश्न—क्या कोई रूप ही नहीं जो इन्द्रियों से ग्रहण न हो ?

उत्तर क्योंकि केवल आँख ही से जो बाह्य अनुभव है उस से ज्ञात होने के योग्य जाति हो वह रूपत्व है। इसी प्रकार की जाति नीलत्व आदि है।

प्रश्न—नीला, पीला आदि एक-एक ही नित्य हैं, उनमें नीलत्व आदि जाति है ही नहीं क्योंकि वे व्यक्ति में रहने वाले गुण हैं।

उत्तर—यह थोड़ा नीला है, यह अधिक नीला है इस प्रकार के भेद की उत्पत्ति नहीं होगी यदि नील को नित्य माना जावे।

प्रश्न—जो नील आदि में यह कम नीला है, यह अधिक नीला है, ऐसा विचार किया जाता है वह श्वेतपन के भेद से उत्पन्न होते हैं ?

उत्तर—यह नहीं क्योंकि नील की न्यूनाधिकता में श्वेतपन के भेद का कोई प्रमाण नहीं, क्योंकि यह ज्ञात होता है कि काला रंग नष्ट हो गया और श्वेत रंग उत्पन्न हो गया इसमें नील जो एक है वह अनित्य है। यदि कहो कि वह समवाय की उत्पत्ति और नाश से होता है तो यह ठीक नहीं क्योंकि नित्य वस्तु का समवाय होता ही नहीं क्योंकि पीछे से उत्पन्न होता है। यदि ऐसा ही माना जावे तो घट आदि अनित्य वस्तु भी अविनाशी माननी पड़ेगी, जो प्रत्यक्ष के विरुद्ध है।

प्रश्न--नीला, पीलापन आदि जो गुण हैं ये द्रव्य से भिन्न नहीं हैं क्योंकि धर्म और धर्मी एक ही होते हैं, न कभी धर्म से धर्मी पृथक् होता है न धर्मी से धर्म पृथक् होता है ?

उत्तर--यह बात ठीक नहीं, क्योंकि रूप घड़ा है, स्पर्श घड़ा है ऐसा प्रयोग नहीं होता, जिससे जाना जाता है धर्म से धर्मी पृथक् है।

उत्तर--इसमें कुछ हानि नहीं क्योंकि प्रायः प्रयोग किया जाता है कि श्वेत वस्त्र है, नीला वस्त्र है, यह बात ज्ञात भी होती है।

उत्तर--यह कथन तो उपचार से होता है, वास्तव में यहाँ सर्वनाम का लोप होगया है। श्वेत वस्त्र कहने से आशय यही है कि कपड़े में श्वेतपन है। भेद के जान लेने पर ये सारे माने हुये विचार हैं ऐसा जान लिया जाता है. क्योंकि यह चन्दन का गन्ध है और यह चन्दन का रंग है, इस प्रकार के कथन से भी भेद सिद्ध होता है। यदि कपड़े और रंग का भेद न माना जावे तो जिस प्रकार छूने से कपड़े का ज्ञान होता है वैसे ही कपड़े के रंग का ज्ञान हो जाना चाहिये जो नहीं होता। दूसरे ऐसा कहने पर कि वस्त्र लाओ तो किसी रूप को ले आवे, रंग लाओ, ऐसा कहने पर किसी द्रव्य को ले आवे।

प्रश्न--ऐसा ही मान लो कि भेद भी और भेद नहीं भी, क्योंकि सारा भेद होने में कोई पूरी युक्ति नहीं ?

उत्तर--यह ठीक नहीं क्योंकि पृथक् करने वाले भेद के बिना दो विरुद्ध गुणों अर्थात् भेद और अभेद का एक स्थान पर रहना असम्भव है। जिस प्रकार प्रकाश और अन्धकार एक स्थान में नहीं रह सकते क्योंकि दोनों में अन्योन्याभाव के होने से एक दूसरे में रहना अत्यन्ताभाव के समान सिद्ध है जिसको प्रत्येक बुद्धिमान समझ सकता है कि भेद अभेद नहीं रह सकता और न इस प्रकार का प्रमाण

किसी वस्तु से मिल सकता है, और यह रूप पृथिवी में बहुत प्रकार का है। पानी और अग्नि में केवल श्वेत ही रहता है।

प्रश्न--जितने रंग माने गये हैं प्रायः कपड़े में रंग-विरंग का रूप देखते हैं वह इनके पृथक् हैं।

उत्तर---वह रूप से पृथक् नहीं क्योंकि चक्षु इन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है। यदि रूप न होता तो आँख से न देखा जाता और उसके कारण में भिन्न-भिन्न प्रकार के रूप सम्मलित हैं उससे वस्त्र रंग-विरंग का दृष्टिगत होता है, क्योंकि जो गुण अवयवों में होगें वही अवयवी में पाये जायेगें। जहाँ भिन्न-भिन्न वस्तुओं के परमाणुओं में भिन्न-भिन्न प्रकार का रूप है वही रूप क्रम से द्वयणुक आदि में होता हुआ वस्त्र में विद्यमान है। आशय यह है कि गुण जब कारण से होते हैं तब ही कार्य में आते हैं और जो कर्म से संयोग से उत्पन्न होते हैं वे पाकज कहाते हैं। यद्यपि स्वभाविक गुणों का प्रत्यक्ष कभी संयुक्त होने की अवस्था में होता है, परन्तु वे अपने उपादान कारण में भी होते हैं कार्य में केवल प्रत्यक्ष होता है। पाकज गुण संयोग से उत्पन्न होते हैं, वे संयोग से पूर्व एक पदार्थ में विद्यमान नहीं होते। जैसे संयोग किसी परमाणु में जब दो परमाणुओं को किसी विशेष प्रकार की क्रिया मिलती है तब उससे संयोग उत्पन्न होता है। इसी प्रकार और गुणों के विषय में भी जान लेना चाहिये।

प्रश्न---पृथ्वी आदि में जो रूप आदि गुण हैं उसका कारण क्या है ? क्या वह द्रव्यों का गुण है ?

उत्तर--**एकद्रव्यत्वात्** ॥७॥

अर्थ---स्वाभाविक गुणों को छोड़ कर नैमित्तिक गुण भी हैं, उनके अतिरिक्त जो संयोग से उत्पन्न होते हैं, ये सब किसी न किसी द्रव्य

में रहने वाले हैं। जैसा पृथ्वी में गन्ध स्वाभाविक गुण है, रूप, रस स्पर्श, अग्नि, जल और वायु के गुण हैं, और सूक्ष्म वस्तु स्थूल के भीतर रहती हुई भी दूसरे आकाश को नहीं घेरती। इसलिये प्रत्येक सूक्ष्म द्रव्य के गुण प्रत्येक स्थूल द्रव्य में रह सकते हैं इसलिये स्थूल वस्तु में यद्यपि अपने और सूक्ष्म वस्तु के गुण सर्वदा पाये जाते हैं परन्तु तो भी वे पाकज कहलावेंगे। वास्तव में एक द्रव्य में गुण रहता है।

अब परिमाण की परीक्षा करते हैं। यद्यपि गुणों की व्याख्या में संख्या का परिमाण से पूर्व ही परिगणन है, परन्तु यह विचार कि संख्या में बहुत अक्षेप है परिमाण प्रत्येक स्थूल पर सिद्ध है, इसलिये परिमाण की ही पहले परीक्षा करते हैं।

अणोर्महतश्चोपलब्ध्यनुपलब्धी नित्ये व्याख्याते ॥८॥

अर्थ---प्रत्येक वस्तु के भीतर छोटा, बड़ा और माध्यम होना पाया जाता है। जिस वस्तु को देखते हैं जब ही उसके रूप का ज्ञान होता है तब ही परिमाण का भी ज्ञान होता है इसलिये अणु और महत् आदि परिमाण नित्य रहने वाले गुण कहे गये हैं। जैसे यह ज्ञान होता है कि घड़ा पतला है, साथ ही यह ज्ञान भी होता है कि बड़ा छोटा है या बड़ा है। इसी प्रमाण से परमाणु तक के परिमाण का अनुमान किया जाता हैं, क्योंकि द्रव्य रूप आदि गुण रहते हैं. वैसेही परिमाण भी रहता है और परिमाण द्रव्य के प्रतीत होने का कारण भी है, क्योंकि कोई द्रव्त जोकि महत् हो तब उसका प्रत्यक्ष होता है परमाणु का प्रत्यक्ष नहीं होता इसलिये द्रव्य के प्रत्यक्ष होने का कारण होने और द्रव्य के साथ परिमाण का प्रत्यक्ष होने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि परिमाण गुण है।

प्रश्न--यदि परिमाण को घड़ा आदि के रूप से भिन्न कोई

गुण न मानकर यह माना जावे कि घट आदि का रूप भी परिमाण है तो क्या हानि है ?

उत्तर--यदि ऐसा माना जावे तो (घड़ा लाओ) इस कहने से प्रत्येक घड़े को ले आवें, परन्तु प्रतिदिन इसके विरुद्ध देखा जाता है, इसलिये ऐसा मानना ठीक नहीं अतः परिमाण के व्यवहार का सामान्य कारण, और द्रव्य के प्रत्यक्ष होने के विषय में रहने वाला सामान्य गुरुत्व जिसमें पाया जावे वह परिमाण है।

प्रश्न— वह परिमाण कितने प्रकार है ?

उत्तर – परिमाण चार प्रकार का है ? छोटा, बड़ा, सूक्ष्म और स्थूल।

प्रश्न – सबसे बड़ा होने से विभु कहलाता है इसलिये बड़ा कहने से उसका ज्ञान होता है।

प्रश्न—परमाणु भी तो एक परिमाण है, जिस परिमाणवाली वस्तु को परमाणु कहते हैं।

उत्तर- -परमाणु सबसे छोटा कहने में सम्मिलित हैं इसलिये सारी वस्तुओं के परिमाण इन्हीं चार के अन्तर्गत हो जाते हैं। उनमें से एक परमाणु से लेकर द्वयणुक त्रसरेणु तक छोटे और उससे आगे बड़े अन्तर्गत आ जाते हैं। कतिपय मनुष्यों के मन में बिल्व (बेल) के बराबर बड़े ओर आंबले के बराबर छोटे परिमाण होते हैं। सबसे छोटा होना ओर सबसे बड़ा होना ये नित्य पदार्थों में रहते हैं परन्तु जो सावयव और मध्यम परिमाण वाले हैं वे सब अनित्य हैं।

प्रश्न—जब अणू में परिमाण अर्थात् छोटापन तो है और बड़ापन नहीं है तो परमाणु से बने हुये कार्य में बड़ाई अर्थात महत् परिमाण वाला होना कहां से आता है ?

उत्तर---कारणबहुत्वाच्च ॥९॥

अर्थ---कारण के महत् होने से उनके संयोग से महत् गुण उत्पन्न होता है। यद्यपि एक परमाणु में अणु के रहने वाला छोटापन है, परन्तु परमाणुओं के समूह में परमाणुओं की संख्या की अधिकता है उसी के संयोग से बड़ापन अर्थात् महत्व नाम हो जाता है। यदि कोई एक परमाणु में बड़ापन मानता तो यह प्रश्न उत्पन्न होना सम्भव था, परन्तु यह गुण तो परमाणुओं के समूह से उत्पन्न होता है। जैसे जब दो परमाणु मिलते हैं उनमें जहाँ एक-एक में स्वाभाविक धर्म अर्थात् छोटे होने का गुण है वहां दोनों में एक दूसरे के गुण एक से एक मिल कर दो होना भी सम्मिलित हैं जिससे परमाणु द्व्यणुक होता है ऐसे ही द्व्यणुक के मेल त्र्यणुक उत्पन्न होता है। वह मोटाई जो त्र्यणुक में विद्यमान है मानो छः परमाणुओं के मिलने से उनकी संख्या का रूपान्तर है। इसी प्रकार बड़ी से बड़ी वस्तु बन जाती है। जैसे सूत्र के एक तार में लम्बाई तो है चौड़ाई कम है, जब उसके साथ दूसरे तार मिले तो चौड़ाई कुछ बढ़ जाती है। इसी प्रकार बढ़ते-बढ़ते एक चौड़ा कपड़ा बन जाता है। अब उस चौड़ाई का कारण एक तो तारों का संयोग है दूसरी तारों की अधिकता है। यदि तार अधिक न होते तो संयोग किस प्रकार होता ? क्योंकि संयोग एक से अधिक नहीं होता है, यदि तारों में संयोग नहीं होता तो बहुत से तारों के होने पर भी उनके संयोग के विना कपड़े का बनना सम्भव नहीं था, इस लिये ऋषि ने बतलाया कि मध्यम परिमाणवाली वस्तुओं में जो महत् उत्पन्न होता है वह बहुत कारणों के संयोग से उत्पन्न होता है।

प्रश्न---अणु परिमाण किस प्रकार का होता है ?

उत्तर---अतो विपरीतमणु ॥१०॥

अर्थ—इस प्रत्यक्ष से मानने योग्य महत् परिमाण से जो विरुद्ध हैं सो वह अणु है। आशय यह है कि जिस प्रकार बड़ाई दीख पड़ती है इसी प्रकार छोटी वस्तु के दृष्टिगत न होने से छोटाई नहीं दीख पड़ती। छोटाई-बड़ाई यहाँ बुद्धि से जानी जाती है। जिस प्रकार महत् कारणों से बनता है ऐसे ही अणु एक और कारण संयोग से रहित है। जितने अधिक परमाणुओं का संयोग होगा उतना ही बड़ा कहायेगा जिसके विरुद्ध जितना कम परमाणुओं का संयोग होगा उतना ही छोटा कहावेगा, सब से बड़ा वह हो सकता है जिसमें सारे परमाणु आ जावें। सबसे छोटा वह है जिसमें परमाणुओं का संयोग न हो अर्थात् सबसे छोटा अवयव है।

प्रश्न—जब संयोग से रहित अणु है तब महत् के विरुद्ध बतलाया गया तो आंवले आदि को छोटा क्यों कहा ?

उत्तर—अणु महदिति तस्मिन् विशेषभावात् विशेषाभावाच्च ॥११॥

अर्थ—पहले बतला चुके हैं कि व्यवहार में छोटा और बड़ा अपेक्षाकृत है जैसे घड़े की अपेक्षा लोटा छोटा है परन्तु आंवले की अपेक्षा बड़ा है इसलिये प्रत्येक सावयव पदार्थ में बड़े का होना तो स्वाभाविक है. परन्तु जहां छोटा कहा जावे वहाँ अपेक्षाकृत होगा। जिसमें एक से अधिक परमाणुओं का संयोग है वह परमाणु की अपेक्षा तो बड़ा है परन्तु जिसमें कम परमाणुओं का संयोग है उसकी अपेक्षा छोटा भी है, इसलिये परमाणु को छोड़कर और में छोटेपन का जो व्यवहार है वह अपेक्षाकृत है, इसी प्रकार जो बड़े का शब्द बोला जाता है वह सबसे बड़े को छोड़कर और सब में अपेक्षाकृत है जैसे द्व्यणुक को छोटा कहा गया है वह कार्य और अपेक्षाकृत है इसलिये वह छोटापन

अनित्य है, परन्तु परमाणुओं में जो छोटापन है वह कारण और नित्य है। घड़े आदि में उस कारण रूप छोटाई का भी अभाव हैं क्योंकि उसमें किसी की अपेक्षा बहुत परमाणुओं के संयोग का अभाव है, और किसी की अपेक्षा अधिक परमाणुओं का संयोग विद्यमान है, इसलिये उनको अपेक्षाकृत ही कहना चाहिये।

प्रश्न इनमें छोटे शब्द का जो प्रयोग किया जाता है वह अपेक्षाकृत है इसमें क्या प्रमाण है ?

उत्तर—एककालत्वात् ॥१२॥

अर्थ—छोटा और बड़ा होना दोनों एक काल में विदित होते हैं, यथा एक स्थान पर आँवला, एक आम और एक घड़ा रक्खा हुआ है तो तत्काल ही देखने से, आम आंवले से बड़ा और घड़े से छोटा दीख पड़ता है, परन्तु बड़ाई और छोटाई जो एक दूसरे से विरुद्ध गुण में, उनका एक वस्तु में रहना सम्भव ही नहीं। इसलिये बड़ाई की सामग्री के विद्यमान होने अर्थात् बहुत-से परमाणुओं के संयोग होने से और छोटाई के कारण परमाणुओं में संयोग के अभाव के न होने से वे बड़े हैं, उनमें जो छोटेपन का व्यवहार किया जाता है वह अपेक्षाकृत है।

प्रश्न - बड़ापन ज्ञान करने में सबसे बड़ी युक्ति कौन-सी है ?

उत्तर—दृष्टान्ताच्च ॥१३॥

अर्थ—यह तो दृष्टान्त के देखने से ही विदित होता है कि वास्तव में आवला, आम और घड़े में बहुत परमाणुओं के संयोग होने से बड़ा, बहुत बड़ा और बहुत ही बड़ा कहना चाहिये था। जैसे श्वेत वस्तु में रूप को देखकर श्वेत, बहुत श्वेत और बहुत ही श्वेत इसके शब्दों का प्रयोग होना चाहिये। जो छोटापन आदि बतलाये वे वास्तव में अपेक्षाकृत ही हैं।

वास्तव में प्रत्येक संयुक्त पदार्थ में बड़ाई विद्यमान है जो परमाणुओं की अधिकता और संयोग से प्रतीत होती है।

प्रश्न—छोटे और बड़े परिमाण में व्यावहार के बल से जो छोटाई बड़ाई बताई जाती है यह किस प्रकार सम्भव हो सकती है क्योंकि परिमाण अर्थात् छोटा और बड़ा दोनों गुण हैं, और गुण में गुण हो नहीं सकता ?

उत्तर—अणुत्वमहत्त्वयोरणुत्वमहत्त्वाभावः कर्मगुणै-र्व्याख्यातः ॥१४॥

अर्थ—जैसे गुण और कर्म में छोटाई-बड़ाई नहीं है, ऐसे ही छोटे और बड़े परिमाण में छोटाई-बड़ाई किन्तु छोटी-बड़ी वस्तु की छोटाई और बड़ाई की अपेक्षा से व उपचार से प्रयोग होता है।

प्रश्न—गुणों में गुण है, यदि न होता तो किस प्रकार कहते कि 'बड़ा शब्द है' एक शब्द है' 'चौबीस गुण' हैं। इस प्रकार के व्यावहार से परिमाण आदि गुण गुणों में भी पाये जाते हैं कर्मों में भी गुण पाये जाते है, यदि न होता तो कैसे कहा जाता कि शीघ्र चलता है, इसलिये अणु और महत्व में गुण समझना चाहिये।

उत्तर—कर्मभिः कर्माणि गुणैश्चागुणाः व्या-ख्याताः ॥१५॥

अर्थ—न तो कर्म, कर्म वाले हैं, अर्थात् कर्म में कर्म नहीं होता किन्तु सक्रिय वस्तु में क्रिया होती है इसी प्रकार गुण में गुण नहीं होता किन्तु द्रव्य में गुण रहता है। जहां कहीं ऐसा प्रयोग किया जाता है वहां अपेक्षा वा उपचार से कहा जाता है।

प्रश्न—बड़ी क्रिया है, छोटी क्रिया है, बड़ा गुण है, छोटा गुण है

इस प्रकार के शब्दों के प्रयोग से कर्म में परिमाण गुण पाया जाता है, ऐसे गुण में भी गुण कर्म दोनों पाये जाते है।

उत्तर अणुत्वमहत्त्वाभ्यां कर्मगुणाश्च व्याख्याताः॥१६॥

अर्थ—जैसे छोटे-बड़े में दूसरी छोटाई-बड़ाई नहीं हैं ऐसे ही कर्म और गुणों में गुण नहीं। जहाँ कोई प्रयोग ऐसे शब्दों का करता है जिससे ऐसा पाया जाता है उसका व्यवहार या तो उपचार से होता है या अपेक्षा से होता है।

प्रश्न—क्या जिस प्रकार छोटे-बड़े हैं, छोटाई-बड़ाई गुण नहीं इसी प्रकार स्थूल और सूक्ष्म में भी नहीं ?

उत्तर—एतेन दीर्घत्सूक्ष्मत्वे व्याख्यायते ॥१७॥

अर्थ—सूक्ष्म और स्थूल में भी सूक्ष्मत्व और स्थूलत्व के अतिरिक्त उनके भीतर कोई गुण नहीं रहता। आशय यह है कि सूक्ष्म द्रव्य में सूक्ष्मता रहती है, परन्तु उस सूक्ष्मता में कोई गुण नहीं। ऐसे ही स्थूल द्रव्य में स्थूलत्व रहता है परन्तु स्थूलत्व में कोई गुण नहीं। जिसमें महत्व है, उनमें संयुक्त होने से स्थूलत्व अवश्य होगा, छोटे और एक द्रव्य में सूक्ष्मता अवश्य होगी जहां छोटापन नित्य है वैसे ही सूक्ष्मत्व भी नित्य है। अब इन परिमाणों के अनित्य वा नित्य होने का विचार करते हैं, और उनके नाश का कारण बताते हैं—

अनित्येऽनित्यम् ॥१८॥

अर्थ—ये चारों प्रकार के परिमाण नाश होने वाले द्रव्य में अपने आश्रय द्रव्य के नाश होने से नष्ट हो जाते हैं किसी विरुद्ध गुण के कारण इनका नाश नहीं होता।

प्रश्न—आश्रय के विद्यमान रहने पर भी परिमाण का नाश

हो जाता है जैसे घट के रहने पर उसका गला टूट जाने से यह ज्ञान होता है कि यह वही घड़ा है ?

उत्तर--यह ठीक नहीं है, क्योंकि जिस घड़े का वह परिमाण विद्यमान था उसके आश्रय के नाश के लिए घड़े का नाश होना अवश्य था, परन्तु घड़ा बना हुआ है, अतः किसी वस्तु के किसी अवयव के नाश हो जाने पर वह वस्तु कोई दूसरा पदार्थ नहीं हो जाती क्योंकि परमाणुओं में जो व्यूह रचना है उसके नाश होने से त्रसरेणु के होते हुए सारी वस्तु का नाश नहीं होता। जब ऐसा सामान्तया देखा जाता है, तो उस ज्ञान में यह वही है कैसे दोष आ सकता है। जिस प्रकार यद्यपि दीपक की शिखा बदलती जाती है, तो भी सारे अवयवों के नाश न होने से वही दीपक कहाता है, परन्तु दीपक और घड़ा दोनों नाशवान् होने से उनके भीतर जो परिमाण है वह भी नाश होने वाला है जिसकी सिद्धि उसके अवयवों की न्यूनाधिकता से होती है, परन्तु परिमाण का नाश उसके आश्रय के नाश से होता है।

प्रश्न--क्या जिस प्रकार पृथ्वी के परमाणुओं में जो छोटापन है, जो आकाशादि में महत्व है, उसका भी नाश हो जाता है ?

उत्तर—नित्ये नित्यम् ॥१९॥

अर्थ--नित्य जो आकाश और परमाणु आदि हैं उनमें जो परिमाण है वह नित्य है क्योंकि उसका नाश आश्रय के नाश से होता है, और नित्य पदार्थ का नाश नहीं, इसलिए उसमें रहने वाले परिमाण का भी नाश नहीं होता, क्योंकि आश्रय का नाश जो परिमाण का नाश करने वाला है, विद्यमान नहीं। आशय यह है कि नित्य पदार्थ का परिमाण भी नित्य ही है इसको अगले सूत्र से और पुष्ट करते हैं—

नित्यं परिमण्डलम् ॥२०॥

अर्थ—परिमण्डल अर्थात् गोल परमाणु जिससे यह सारा जगत् बनता है, अथवा जो चारों ओर घेरे हुए हैं, वे निन्य हैं। इस जगह स्पष्टतया बतला दिया गया कि परमाणु गोल है, और जहाँ गोल वस्तु मिलती है उसमें आकाश अवश्य रहता है इस लिए सावयव पदार्थ में आकाश अवश्य होगा और जिसमें आकाश होगा उसका विभाग हो सकता है, जिसके भीतर आकाश नहीं उसका विभाग भी नहीं हो सकता इसलिए वह नित्य है।

प्रश्न—यदि आँवला, बेल और गन्ना आदि में जो छोटे होने का व्यवहार किया जाता है वह वास्तव में सत्य नहीं है, तो इनके वास्तव में सत्य होने का क्या प्रमाण है ?

उत्तर—अविद्या च विद्यालिङ्गम् ॥२३॥

अर्थ—अविद्या विद्या का लिंग होता है क्योंकि अविद्या से विदित होता है कि वास्तव में विद्या कोई वस्तु है जिसकी विरोधिनी होने से यह अविद्या कहाती है। इसी प्रकार आँवले आदि में जो छोटे होने का ज्ञान है वह मिथ्या ज्ञान है, परन्तु उससे यह सिद्ध होता है कि छोटी कोई और वस्तु है जिसके विरुद्ध होने से इस ज्ञान को असत् ज्ञान कह सकते हैं, इसलिए मिथ्या ज्ञान कहने से सत्य ज्ञान का विश्वास हो जाता है, अत: आंवला आदि छोटे नहीं। इससे स्पष्ट है कि कोई और वस्तु छोटी है। अब आकाश और आत्मा का परिमाण बतलाते हैं।

विभुत्वान् महानाकाशस्तथा चात्मा ॥२२॥

अर्थ—प्रत्येक सावयव पदार्थ के साथ सम्बन्ध होने से आकाश विभु है, और उसका विभु होना सबसे बड़े होने के अतिरिक्त हो

नहीं सकता, इसलिए आकाश को सबसे बड़ा कहना चाहिए, क्योंकि आकाश का गुण जो शब्द हैं वह भी सब जगह पाया जाता है अर्थात् जिस प्रकार पाताल में शब्द विद्यमान है उसी प्रकार काशी में विद्यमान हैं, इससे स्पष्ट है कि आकाश दोनों स्थानों पर है, इसी प्रकार और स्थानों पर भी होने से आकाश का सर्वत्र होना पाया जाता है अतः आकाश का विभु होना सिद्ध है और वह महान् है। यदि बहुत से आकाश माने जावें तो उनमें विशेषता उत्पन्न करने वाला कोई गुण नहीं, इसलिए ऐसा मानना व्यर्थ होगा ऐसे हो आत्मा भी प्रत्येक शरीर के साथ सम्बन्ध रखने से सबसे बड़ा सिद्ध होता है।

प्रश्न---यदि आकाश और आत्मा दोनों एक ही से हैं तो उसमें व्याप्य व्यापक सम्बन्ध कैसे सिद्ध करोगे, क्योंकि एक बराबर की दो वस्तु एक हो स्थान में रह नहीं सकती और आकाश और आत्मा में अन्तर क्या है ?

उत्तर---आकाश तो विभु है आत्मा व्यापक है। तात्पर्य यह है कि आकाश और आत्मा दोनों का एक स्थान पर होना पाया जाता है परन्तु अन्तर इतना है कि आकाश सावयव पदार्थ के भीतर और निरवयव के बाहर रहता है, और आत्मा आकाश से भी सूक्ष्म होने से सावयव और निरवयव दोनों पदार्थों के भीतर और बाहर रहता है।

प्रश्न---आत्मा को तो नाना अर्थात् बहुत बता चुके हैं, वह व्यापक किस प्रकार हो सकता है ?

उत्तर--आत्मा दो प्रकार का है एक जीवात्मा दूसरा परमात्मा। जीव तो जाति के कारण विभु है और परमात्मा सर्वव्यापक है और स्वरूप से एक है। बहुत तो जीवात्मा हैं और प्रत्येक शरीर में व्यापक है और परमात्मा सारे संसार में व्यापक है।

प्रश्न--क्या प्रमाण है कि परमात्मा सर्वत्र व्यापक है ?

उत्तर--इसलिए कि परमाणुओं में नियमपूर्वक क्रिया नहीं, और प्रत्येक देश में नियमानुकूल क्रिया पाई जाती है जिससे स्पष्ट है कि उनको नियमपूर्वक चलाने वाला आत्मा वहाँ पर विद्यमान है जिसकी शक्ति से सारे ब्रह्माण्ड क्रिया कर रहे हैं ।

प्रश्न--क्या मन नित्य नहीं है क्योंकि उसका सदैव स्पर्श से रहित द्रव्य होना सिद्ध है ? आकाश के समान उसको विभु मानना चाहिए और ज्ञान आदि का सम्वायि कारण है संयोग का आधार होने से आत्मा के समान । इसलिए आकाश और आत्मा की समानता से मन विभु क्यों न कहा जावे ?

उत्तर—तदभावादणु मनः ॥२३॥

अर्थ--यदि मन विभु होता तो उसका एक ही समय में सारी इन्द्रियों से सम्बन्ध होने से एक ही समय में दो इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान होना सम्भव होता, जब कि ऐसा ज्ञान नहीं होता इसलिए व्यापक नहीं । जब कि मन विभु नहीं तो अणु ही मानना चाहिए ।

प्रश्न--केवल विभु न होने से अणु होना सिद्ध नहीं होता क्योंकि घट आदि सावयव पदार्थ न तो विभु हैं और न अणु हैं ।

उत्तर--जब मन विभु नहीं तो एक शरीर में भी विभु नहीं, क्योंकि एक शरीर में विभु मानने से भी वही अक्षेप होता है अर्थात् एक ही समय में दो इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान सिद्ध हो जाता है । यदि शरीर के किसी भाग में माना जावे तो उनके स्पर्श से रहित होने से यह सिद्ध हो जाता है कि वह अणु अर्थात् छोटा है ।

प्रश्न---दिशा को सर्वत्र रहने वाला होने से बहुत ही बड़ा सिद्ध करने में क्या प्रमाण है ?

उत्तर—गुणैर्दिग्व्याख्याता ।।२४।।

अर्थ--प्रत्येक देश में मनुष्य को सामान्तया आगे पीछे का ज्ञान होने से प्रत्येक सावयब पदार्थ में इस बात के ज्ञात करने से कि यह उससे वरे है अर्थात् समीप है, और वह परे अर्थात् दूर है, इससे दिशा का भी व्यापक अर्थात् विभु होना सिद्ध होता है परत्व और अपरत्व अर्थात् वरे और परे अर्थात् सावयव वस्तुओं के सम्बन्ध से बुद्धिपूर्वक मानी जाती हैं अर्थात् अपेक्षा से हैं। जिस प्रकार देहली काशी से परे है और अलीगढ़ उसकी अपेक्षा वरे है, परन्तु कलकत्ते की अपेक्षा काशी वरे है और कलकत्ता परे है। दिशा एक है उसका विभाग उपाधी से होता है, यह पूर्व ही सिद्ध कर चुके हैं कि जो दस दिशा कहलाती हैं वे सब उपाधि के कारण हैं। अब काल को सब जगह रहने वाला और व्यापक सिद्ध करते हैं।

कारणेन कालः ।।२५।।

अर्थ--पहले, पीछे, एक साथ आगे, पीछे, जल्दी और सुस्ती से आदि का ज्ञान का कारण और गुणों के होने से द्रव्य भी है वह काल है। यह ज्ञान किसी विशेष देश वा स्थान पर नहीं होता किन्तु प्रत्येक स्थान पर विद्यमान है, इसलिए इसको सबसे बड़ा कहना चाहिए, और इस विचार से भी, जैसा कि कहते हैं कि इस समय 'यहाँ उत्पन्न हुआ' ऐसा सम्बन्ध प्रत्येक उत्पन्न होने वाली वस्तु के साथ रहता है, जिससें प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति का काल भी एक कारण है, जिसका होना विना सर्वव्यापक के सम्भव ही नहीं, या व्यातीत हो गया, व्यतीत हो रहा है और व्यतीत होगा, यह काल के सम्बन्ध में शब्दों का व्यवहार प्रत्येक

देश में होता है। कोई देश इससे खाली नहीं, जिससे स्पष्ट होता है कि काल सब जगह विद्यमान है। इससे अतिरिक्त घण्टा, मिनिट, सेकेण्ड, रात, दिन, सप्ताह, मांस और वर्ष आदि भी काल के कारण से प्रत्येक स्थान पर होते ही हैं, इससे भी काल का सर्वस्थानों पर होना सिद्ध होता है यह पूर्व ही सिद्ध कर चुके हैं कि काल को बहुत से बतलाना व्यर्थ है, वास्तव में वह एक है, और उपाधि के कारण उसके बहुत से भेद प्रतीत होते हैं।

सातवें अध्याय का पहला आह्निक समाप्त ॥

वैशेषिक दर्शन भाषानुवाद

७ अध्याह, २ आहिन्क

↔

इस दूसरे आहिन्क में यह विषय होंगे :-

१. यह गुण एक में रहते हैं अथवा अनेक में।

२. केवल अनेक में रहने वाले गुणों की जांच, जैसे गिनती आदि।

३. ऐसे ही शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की जांच।

४. विशेष गुणों से प्रत्येक स्थान में स्थित संयोग के असमवायि कारण एक में रहने वाले गुण की जाँच।

५. समवायि की जाँच।

अब संख्या और पृथक्त्व की जाँच करते हैं।

रूपरसगन्धस्पर्शव्यतिरेकादर्थान्तरमेकत्वम् ॥१॥

अर्थ—रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से पृथक संख्या है जिसका प्रमाण व्यतिरेक से निकलता है क्योंकि वह संख्या एक ही वस्तु में न रहकर दूसरों में भी पाई जाती है जैसे कहते हैं। घड़ा एक है, यह संख्या घड़े से उत्पन्न नहीं होती। इस संख्या के उत्पन्न होने का कारण घड़े की विशेषता नहीं, क्योंकि तादाद कपड़े में भी मौजूद है।

प्रश्न---क्या एक में जो एकत्व है वह सत्ता की तरह प्रवृत्त नहीं ?

उत्तर---एकत्व सत्ता की तरह प्रवृत्त नहीं क्योंकि किसी में एकत्व और किसी में बहुत्व देखा जाता है। जिस प्रकार सत्ता में न्यूनाधिकता नहीं और न कोई वस्तु सत्ता में रिक्त हैं, किन्तु एकत्व से उत्पन्न हुई चीजें बहुत सी खाली हैं, अत एव एकत्व से लेकर बहुत्व तक संख्या सत्ता से पृथक् वस्तु है।

प्रश्न--पृथक्त्व का जो प्रमाण है वह रूपादि से पृथक् है या इन्हीं में सम्मिलित हैं।

उत्तर—तथा पृथक्त्वम् ॥२॥

अर्थ---जिस प्रकार रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि से एकत्व भिन्न वस्तु है, इसी प्रकार पृथक्त्व भी उनसे भिन्न है। जिस प्रकार 'एक घड़ा है' ऐसा कहने से घड़े से भिन्न एकत्व का बोध हो जाता है। इसी प्रकार घड़ा कपड़े से पृथक वस्तु है, ऐसा कहने से घड़े और कपड़े में जो पृथक्त्व अर्थात् भेदधर्म जो दो बस्तुओं में भेद बतलाता है उसको भी कहते हैं। प्रत्येक मनुष्य जानता है कि घोड़ा और गौ भिन्न-भिन्न पशु हैं। घोड़ा, गौ और गौ, घोड़ा नहीं हो सकती है, जिन दो वस्तुओं में अन्योन्याभाव है उनसे साफ पता लगता है कि यह दो भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं और उनमें भेद उनके रूपादि गुणों से भिन्न वस्तु हैं जो उन दोंनो के एक प्रकार का होने से रोकता है।

प्रश्न---क्या अन्योन्याभाव पृथक्त्व है ?

उत्तर---नहीं, यद्यपि जिन दो वस्तुओं में अन्योन्याभाव है उन्हीं में पृथक्त्व भी सिद्ध होता है। किन्तु पृथक्त्व इस प्रकार के अन्योन्या-भाव से पृथक् है।

प्रश्न---जिस प्रकार रूपादि से एकत्व और पृथक्त्व भिन्न हैं। क्या उनकी असलियत उनसे भी भिन्न वस्तु है

उत्तर—एकत्वैकपृथक्त्वयोरेकत्वैकपृथक्त्वाभावोऽणुत्व-महत्त्वाभ्यां व्याख्यातः ॥३॥

अर्थ- जिस प्रकार अणु और महत् में उनसे पृथक् कोई दूसरी नई उत्पत्ति नहीं है क्योंकि पीछे प्रमाणित कर चुके हैं कि गुण में गुण नहीं रहता, इसी प्रकार एकत्व और पृथक्त्व में कोई दूसरा गुण नहीं रह सकता क्योंकि उसमें व्यवहार अर्थात् शब्दार्थ सम्बन्ध दृष्टिगत होता है वह या तो उपचारक है अथवा सम्बन्धी है। किसी प्रकार भी गुण में गुण न होने से एकत्व और पृथक्त्व में कोई विशेष गुण नहीं।

प्रश्न—यदि कहो कि गुणों और कर्मों में एकत्व का व्यवहार पाया जाता है। इसमें क्या प्रमाण है कि द्रव्यों में एकत्व है और कर्म में गुण नहीं ?

उत्तर—निःसंख्यत्वात् कर्मगुणानां सदेकत्वं न विद्यते ॥४॥

अर्थ—कर्म और गुणों में एकत्व नहीं रहता, यह पक्ष है। इसका प्रमाण यह है कि संख्या से भिन्न होने से, क्योंकि संख्या गुण है जो द्रव्य में रहता है और गुण में गुण किसी प्रकार नहीं रह सकता और एकत्व गुण है और न कर्म में गुण रह सकता है, क्योंकि इस बात को पहले प्रमाणित कर चुके हैं कि गुण केवल द्रव्य में रह सकता है। वह संख्या के गुण होने से उसका गुण और कर्मों में रहना असम्भव है। इसलिए एकत्व को संख्या में गणना करने से उसका गुण और कर्मों में रहना असम्भव है।

प्रश्न—यदि एकत्व का गुण और कर्म में रहना असम्भव है, तो ऐसा क्यों कहते हैं कि एक रूप है, एक रस है इत्यादि ?

● देखो ७।१।१४॥

उत्तर—भ्रान्तं तत् ॥५॥

अर्थ--गुण और कर्म जो एकत्व का ज्ञान है उनको एक समझा जाता है। यह ज्ञान भ्रम से है, ठीक नहीं।

प्रश्न—सूत्र में तो ज्ञान का शब्द भी नहीं, तुम कहां से कहने लगे कि ऐसा ज्ञान भ्रम से है ?

उत्तर—सूत्रकार के तात्पर्य से जो प्रश्न के उत्तर में कहा है यह साफ प्रतीत है कि तत् शब्द से ज्ञान ही का अर्थ लेते हैं। तात्पर्य यह है कि यह कथन भाक्त हैं।

प्रश्न--भाक्त किसे कहते है ?

उत्तर—जिसमें भक्ति हो वह भाक्त है।

प्रश्न—भक्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर—यहां स्वरूप से पृथक् न होनेवाली भक्ति कहलाती है तात्पर्य यह है कि जो किसी वस्तु के वस्तुत्व से बाहर हो।

प्रश्न—हम कहते हैं कि द्रव्यों में भी एकत्व नहीं है उनमें भी भ्रम से होता है ?

उत्तर—एकत्वाभावाद्भक्तिस्तु न विद्यते ॥६॥

अर्थ---यदि द्रव्यों में एकत्व न रहा तो किसी में भी न होने से उसकी कुछ सत्ता ही न होगी और जब कुछ सत्ता ही नहीं तो भक्ति से है यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि जब कोई वस्तु होती है तो उसका भ्रम कैसा ? जैसे रस्सी में हो सकता है और जब कोई वस्तु ही नहीं हो तो उसका भ्रम कैसा ? जैसे रस्सी में साँप का भ्रम होता है। वह संसार में असली साँप को कहीं देखने से होता है किन्तु यदि कहीं देखा नहीं तो रस्सी में सांप का भ्रम हो ही नहीं सकता अतएव जब एकत्व द्रव्य में रहता है तब ही गुण कर्म में उसका भ्रम होता है। यदि द्रव्य भी भ्रम से कार्य माना जावे

तो उसकी सत्ता नष्ट हो जाने से उसका कार्य में परिणाम होना असम्भव है। इस वास्ते द्रव्यों में ही एकत्व है और गुण द्रव्यों में रहते हैं। इसलिए कोई आक्षेप ही नहीं।

प्रश्न---कार्य और कारण एक ही है क्योंकि उनमें पृथक्त्व और एकत्व नहीं पाया जाता। कोई वस्तु अपने आप पृथक् नहीं हो सकती क्योंकि यदि कपड़े के तारों को पृथक् २ कर दिया जावे तो उससे पृथक् कोई कपड़ा प्रतीत नहीं होता किन्तु वह तारे ही कपड़ा मालूम होती हैं। यदि तारों से पृथक् कोई कपड़ा होता तो अवश्य दृष्टिगत होता, ऐसे ही घड़ा जिन दो कपालों से बना है, उनके पृथक् २ होने से घड़ा भी नजर नहीं आता। इस वास्ते वस्तु के भागों से पृथक् कोई वस्तु नहीं, अतएव कार्य और कारण को एक ही समझना चाहिए।

उत्तर—कार्यकारणयोरेकत्वैकपृथक्त्वाभावादेकत्वैक-पृथक्त्वं न विद्यते ॥७॥

अर्थ---कार्य और कारण एक नहीं होते क्योंकि उनमें एकत्व का अभाव और भेद भी पाया जाता है क्योंकि जो कारण है वही कार्य है, ऐसा मानने से यह स्वीकार करना पड़ेगा जो तन्तु है वही कपड़ा है, यद्यपि बहुत तन्तु मिलने से कपड़ा पैदा होता है, किंतु एक तन्तु को कोई भी कपड़ा नहीं कहता जिससे मालूम होता है कि तार कपड़े से पृथक् वस्तु है क्योंकि कपड़ा तारों का संगठन है और तार एक है और एक और बहुत को एकसा बतलाना बड़ी भारी भूल है।

प्रश्न—यद्यपि यह बात प्रसिद्ध है कि तन्तुओं से कपड़ा और कपालों से घड़ा बनता है, तो इससे प्रतीत होता है कि तन्तु और कपड़े का बनने से प्रथम भी सम्बन्ध था। क्योंकि यदि कार्य

कारण की उत्पत्ति से प्रथम सम्बन्ध न होता तो तारों से घड़ा और कपालों से कपड़ा बन जाता, किन्तु ऐसा नहीं होता जिससे साफ यह प्रतीत होता है कि कारण में कार्य छिपा रहता है।

उत्तर—जो जिसमें रहता है वह उससे पृथक् वस्तु होती है। इससे भी कार्य से कारण पृथक् प्रतीत होता है। उपादान कारण से कार्य के बनने की शक्ति होती है। न कि कार्य होना है यदि यह विचारा जावे कि एक २ तार के अन्दर कपड़ा छिपा हुआ है तो ठीक नहीं, क्योंकि उस अवस्था में एक ही तार से कपड़ा निकल सकता है किन्तु निकलता नहीं। इससे साफ प्रतीत होता है कि तारों के संयोग से कर्ता (जुलाहा) कपड़े को उत्पन्न करता है, न कि कपड़ा एक तार में मौजूद था, किन्तु संयोग से पैदा हुआ है। इसलिए कारण कार्य का भेद मानना चाहिए। यह आशय है कि उपादान कारण और कर्ता में उस संयोग को ग्रहण करने की शक्ति है। किसी काम की कर्तृत्व शक्ति वस्तु है और कार्य वस्तु है, इस वास्ते कार्य कारण का एक होना ठीक नहीं हो सकता, परन्तु कारण से कार्य किस समय उत्पन्न हुआ है, जिससे पूर्वकर्तृत्व शक्तियाँ तो उपस्थित थीं किन्तु कार्य न था।

प्रश्न—इसमें क्या प्रमाण है कि कार्य से कारण पृथक् है ?

उत्तर—घड़े और कपालों का भिन्न-भिन्न होना ही उनके पृथक्त्व का प्रमाण है। जिस समय तक दोनों कपाल मिल न जावें तब तक उन्हें कोई भी घड़ा नहीं कहता और संयोग होने के पश्चात् कोई भी कपाल नहीं कहता। इससे साफ प्रतीत होता है, कि कपाल और चीज है, और घड़ा दूसरी वस्तु है।

एतदनित्यद्योर्व्याख्यातम् ॥८॥

अर्थ—अनित्य गुण अर्थात् संख्या और पृथक्त्व आदि को

कारण के गुण के अनुसार होना जो बतलाया है, और केवल अनित्य गुणों के लिये ही विचार करना नित्य गुणों के वास्ते नहीं तात्पर्य यह है, कि कारण के गुणों के अनुसार होना केवल कार्य में ही पाया जाता है। शेष संख्या और पृथक्त्व की अपेक्षा बुद्धि होने से। यथा अनित्य तेज में जो रूप और स्पर्श है यह कारण की विशेषता के अनुसार ही कार्य में प्रकाशित होता है। ऐसे ही संख्या और पृथक्त्व को विचार लेना चाहिये अर्थात् एक से ज्यादा द्रव्य अर्थात् दो में लेकर सौ तक जो संख्या है उसकी उत्पत्ति और नाश का प्रसंग निम्नलिखितानुसार प्रतीत होता है और इस के अतिरिक्त पृथक्त्व, का भी। सम और असम द्रव्यों में चक्षु का सम्बन्ध होने से उनमें स्थित एकत्व और पृथक्त्व जो बराबर हैं और फर्क बिना किसी फर्ज करने के मालूम होता है उससे विशेषण कि विशेषता का ज्ञान होता है। उसी का नाम अपेक्षा बुद्धि है उससे उन द्रव्यों में द्वैतभाव उत्पन्न होता है अर्थात् दो होने का गुण प्रकाशित है। फिर उस द्वैत भाव से दो का आलोचन अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। उस प्रत्यक्ष ज्ञान से अपेक्षा बुद्धि का नाश हो जाता है और उस द्वैत की विशेषता से सम्बन्ध रखने वाला एक बार उत्पन्न हो जाता है। उससे अगले क्षण में द्वैत की अपेक्षा बुद्धि के नाश से नाश हो जाता है। और यह दो वस्तुएं हैं ऐसा ज्ञान हो जाता है उससे संस्कार उत्पन्न होता है। यह द्वैत के सहारे स्थित होने वाला इन्द्रियों का सम्बन्ध है। उससे एकत्व गुण का सामान्य ज्ञान होता है और उससे एकत्व में रहने वाली नवोत्पत्ति का सामान्य और विशिष्ट एकत्व और विशेषणों के संग्रह को अनुभव करने वाली अपेक्षा बुद्धि है और उसमें द्वैत भाव की उत्पत्ति और उसी में रहने वाले सामान्य का ज्ञान उससे सामान्य और विशिष्ट द्वैत ज्ञान और द्वैत भाव से द्रव्य का ज्ञान और उससे संस्कार इस प्रकार इन्द्रियों के सम्बन्ध होने से संस्कार तक आठ क्षण होते हैं। और उनके

नाश का क्रम यह है कि वस्तु के सामान्य ज्ञान की अपेक्षा बुद्धि से नाश हो जाता है और द्वैत में रहने वाले द्वैत भाव का सामान्य ज्ञान से नाश हो जाता है और द्वैत भाव के ज्ञान का द्रव्य ज्ञान मे नाश हो जाता है। और द्वैत भाव से द्रव्य के ज्ञान संस्कार का नाश हो जाता है अथवा किसी दूसरे विषय के ज्ञान से नाश हो जाता है।

प्रश्न--गुण के ज्ञान से द्रव्य का ज्ञान क्यों नहीं उत्पन्न होता, उसकी उत्पत्ति का सामान होने से ?

उत्तर---गुण के ज्ञान के पश्चात द्रव्य के ज्ञान में देरी नहीं होती जैसे कहा है। उस अपेक्षा बुद्धि के नाश से उसके नाश के अगले क्षण में द्वैत का नाश हो जाता है ये दो वस्तुएं हैं इस विशिष्ट ज्ञान से प्रथम क्षण में ही द्वैत का नाश होने से अगर द्वैत से द्रव्य के ज्ञान की उत्पत्ति को न माना जावे तो यह ठीक नहीं क्योंकि द्वैत आदि की उत्पत्ति का सामान नियमानुसार अपेक्षा बुद्धि में द्रव्य से ज्ञान की उत्पत्ति करने का ज्ञान होने से। जो कि परिमाण और बुद्धि द्वारा विचारने से साफ प्रतीत हो जाता है।

प्रश्न--अपने से उत्पन्न हुए संस्कार से अपेक्षा बुद्धि के नाश होने से फिर वही दोष वैसा ही बना है अर्थात् द्वैत से ज्ञान के प्रथम क्षण में द्वैत का नाश सम्भव होने से ?

उत्तर---यह ठीक नहीं। क्योंकि केवल गुणों का ज्ञान ही संस्कार की उत्पत्ति कारण है और न केवल अकेले गुण का विना किसी द्रव्य के स्मृति होती है। सर्वदा द्रव्य के साथ मिला गुण स्मरण होने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि अकेले गुण से संस्कार उत्पन्न नहीं होता किन्तु द्रव्य और गुण से।

प्रश्न---यदि ऐसा भी मान लिया जावे कि गुणों के ज्ञान से संस्कार नहीं उत्पन्न होता तो भी विशिष्ट ज्ञान के समय द्वैत के नाश से और विशेष प्रकार की अवस्था के उत्पन्न न होने से

वही अवस्था है क्योंकि वर्तमान दशा में प्रकाशित होने वाली विशेष वृत्ति विशेषकर कर्त्ता के नाश अवस्था में सम्भव ही नहीं ? यदि हम ऐसा ही न मालूम होने के कारण से ही स्वीकार करें तो क्या हानि है ?

उत्तर---विशेष्य का ज्ञान विशिष्ट से, इन्द्रिय के सम्बन्ध से उन दोनों का ग्रहण न होने से खास ज्ञान के कारण की वर्तमान अवस्था भी सम्भव होने से यदि विशेषता से इन्द्रिय सम्बन्ध का ही विचार किया जावे तो भी प्रथम क्षण में उसके भी होने से प्रथम क्षण में काम करने वाली इन्द्रिय के सम्बन्धी कारण को मालूम करने से विशेष्य का विशिष्ट ज्ञान से प्रतीत होनेवाला भी सम्भव होता है, क्योंकि विशिष्ट ज्ञान और ज्ञान का उत्पन्न करने वाला केवल विशेष ही गणना में आता है, किन्तु विशिष्ट ज्ञान की सत्ता विषय है वह गणना में नहीं आता।

प्रश्न—क्या अब तटस्थ लक्षण को भी विशेष्य कह सकते हैं ?

उत्तर---नहीं, क्योंकि विशेष्य उसको विशेषण द्वारा सामान्य से पृथक् कर देता है और विशेष्य और विशिष्ट दोनों एकस्थान पर रहते हैं किन्तु तटस्थ लक्षण उस स्थान से पृथक् स्थान को घेरता है। जब देवदत्त के मकान पर कौवा बैठा हो उस समय वह इस मकान का विशेष्य होगा और जब उस मकान पर चक्कर लगा रहा हो उस समय वह उपलक्षण व तटस्थ लक्षण होगा।

प्रश्न---इस प्रकार से मानने में रूप वाली वस्तु में रस ही रूपादि में भी विशेष्य रूपी होगा।

उत्तर---ऐसा नहीं, क्योंकि यह हमारे मतलब को ही प्रमाणित करता है।

प्रश्न--तो उसमें भी रस होगा अर्थात् रूप वाले तेज में रस मानना पड़ेगा ?

उत्तर--यह हानि नहीं क्योंकि विशिष्ट की वृत्ति विशेष्य की आवश्यकता न होने से क्योंकि विशेष्य और विशिष्ट एक ही तत्त्व नहीं है, द्वैत नाश के समय में विशेष्य का सम्बन्ध नहीं है. पुनः विशिष्टज्ञान किससे होगा ? यदि ऐसा मान लिया जावे तो भी ठीक नहीं क्योंकि दूसरों से पृथक् हुई विशिष्ट वस्तु है उसका भाव वही उपस्थित है इसमें कुछ भी अशुद्धि नहीं। इस प्रकार द्वैत की उत्पत्ति और नाश को प्रमाणित किया। तीन में रहने वाली संख्या का भी बिचार कर लेना चाहिए जो अपेक्षा बुद्धि से नाश होता है वह द्वैत ही उत्पत्ति के स्थान के नाश करने वाले दूसरे विपक्षी गुण के न होने से गुण की सत्ता से नाश होना ही सम्भव है। सूक्ष्म ज्ञान का नाश करने वाला अप्रत्यक्ष होता है और कभी उत्पत्ति स्थान के नाश से भी नाश हो जाता है। जहाँ द्वैत का सहारा भागों की हरकत और उस काल एकत्व का सामान्य ज्ञान जब के भागों की हरकत के सामान्य ज्ञात होने में विभाग के साथ सम्बन्धी रखने वाली बुद्धि अर्थात् मेल को नाश करने वाले गुण की उत्पत्ति और द्रव्य से नाश होने वाले सामान्य द्वैत के ज्ञान में वहाँ द्रव्य के होने से द्वैत का नाश होगा और सामान्य ज्ञान से केवल अपेक्षा बुद्धि का नाश होगा क्योंकि अपेक्षा बुद्धि और द्वैत का नाश एक ही समय में होता हैं। यदि कार्यकारण के एक-सा न होने से जिस समय द्वैत का सहारा हिस्सों की हरकत का सम्बन्धी ज्ञान है यह दोनों एक साथ होते हैं दोनों का नाश आश्रय के नाश से और अपेक्षा बुद्धि से द्वैत का नाश हो जायगा जैसे हिस्सों की हरकत के सम्बन्धी ज्ञान से शेष की उत्पत्ति होती हैं वही द्वैत की उत्पत्ति है। संयोग और द्वैत के सामान्य ज्ञान में द्रव्य के नाश से

अपेक्षा बुद्धि का नाश होता है। उनसे द्वैत का नाश हो जाता है प्रत्येक में सामर्थ्य मालूम करने की यही रीति है और ज्ञानी में रोकने वाला और नाश करने वाला बहुत्व का नियम प्रामाणिक है अर्थात् जब दूसरा ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रथम ज्ञान को नाश कर देता है और जिस समय एक ज्ञान उत्पन्न होता है उस दूसरे ज्ञान को उत्पन्न नहीं होने देता।

प्रश्न---दो और तीन की संख्या में कारण तो एक से हैं, कार्य भिन्न-भिन्न किस प्रकार होते हैं क्योंकि दो अकेली वस्तुओं से दो और तीन से तीन उत्पन्न होते हैं अर्थात् दो और तीन का सम न एकत्व ही है।

उत्तर---एकत्व में द्वित्व और बहुत्व नहीं है इस वास्ते दोनों की उत्पत्ति का कारण पृथक है अर्थात् दो व तीन समवायि कारण अर्थात् मिलाप से द्वित्व और बहुत्व संयोग में हैं एकत्व में नहीं। वहाँ कारण पर ध्यान देने से उससे यह फल निकलता है कि सम्बन्धी ज्ञान तो एकत्व में रहता है और इस प्रकार विशिष्ट के न पाये जाने से यदि कहो वह रुका हुआ है उसको फल के कारण अनुमान करते हैं अथवा द्वित्वादि भी वही हैं तो क्या द्वित्वादि से वह कोई विशेष छिपा हुआ है तो ऐसा मानने से सम्भव है कि द्वित्व के उत्पन्न करने वाले कारण तीन व चार पैदा हो जावें और इससे तमाम अनियमता फैल जावे।

प्रश्न---विशिष्ट प्रागभाव से विशेषता उत्पन्न होकर जैसे एक से कारण उत्पत्ति वाले रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का पृथक-पृथक होना ही सामान्यतया है इसी प्रकार द्वित्व आदि में समझना चाहिये ?

उत्तर---अपने-अपने कार्य के प्रागभावका सम्बन्ध ही कारण के धारण से पता लगता है। चाहे शुद्ध सम्बन्धी ज्ञान से द्वित्व दो के

मिलने से और उसमें एक और मिलाने से तीन होता है। यह मत कहो, क्योंकि प्रायः कहते हैं कि 'मैंने सौ च्योंटी को मार डाला' ऐसे समय पर समवायि कारण के न होने से द्वित्व तब तक पैदा ही नहीं हो सकता, तात्पर्य यह है कि दो एक अर्थात् (१ + १) के मिलने से दो और तीन एक (१ + १ + १) के मिलने से तीन होता है बिना एक (१) के मेल के नहीं अतः एक संख्या को काम में लाना गौण है और सेना और जंगल के वृक्षों नें नियमित सम्बन्धी ज्ञान के न होने से केवल बहुत में ऐसा ज्ञान होता है, परन्तु शत, सहस्रादि संख्या का वर्णन नहीं होता ऐसा कोई आचार्य मानते हैं. इसी प्रकार लक्ष और कोटि सब मेल से उत्पन्न होंगे और जहाँ सम्बन्धी ज्ञान न होगा वहां बहुत ज्यादा, बहुत ही ज्यादा सेना है ऐसा नहीं यह उदयनाचार्य कहते हैं इस जगह समझना चाहिये कि तीन से लेकर सं.य तक संख्या ही बहुत के नाम से कही जाती है। उससे पृथक कोई दूसरी वस्तु संख्या नहीं है। इसमें से प्रथम अक्षेप अर्थात् ज्यादती ही संख्या नहीं है, ठीक नहीं, क्योंकि फौज के सिपाहियों की सैकड़ों और सहस्रों में संख्या मालूम होने से ऐसे ही जगल के वृक्षों की संख्या से और दूसरा प..्, कि केवल संख्या ही होती है बहुत्व नहीं। यह भी ठीक नहीं क्योंकि तीन आदि कारण से पृथक बहुत के अनुभव करने पर मालूम न होने से इसलिये नियमित रीति से एकत्व का ज्ञान न होकर सम्बन्धी ज्ञानवाली ज्यादती ही सौ आदि की संख्या है उसमें सौ आदि की कोई पृथक अवस्था नहीं होती। इस प्रकार के पृथक करने वाले गुण के न होने से हमारा केवल यही तात्पर्य है कि जिस अधिकरण में तीन आदि संख्या रहती हैं उसी में स्थित दूसरी संख्या ही बहुत्व है अथवा तीन आदि के उत्पन्न करने वाले सम्बन्ध ज्ञान से उत्पन्न हुये २ प्राग्भाव से सत्ता के घटाने से संख्या होती है उसके विरुद्ध नहीं। बहुत्व तब तक होता है जब तक सौ अथवा सहस्र है। इस संख्या को हम विशेषतया नहीं जानते जैसे एक वस्तु में स्थूल

होना, और सूक्ष्म होना रह सकता है ऐसे अधिकरण में तीन आदि बहुत्व हैं।

प्रश्न--निश्चय यह शत है, अथवा सहस्र में चार फल ले आऊं यहाँ केवल संख्या है बहुत्व नहीं ?

उत्तर--इसका तात्पर्य यह है कि दो से ज्यादा अर्थात् बहुत ही है और बहुत ही फल लाते हैं उसमें कोई विशेष मालूम करने वाली बात नहीं। इस प्रकार दो के साथ सम्बन्धी ज्ञान मिलने से चार। ऐसे ही आगे ज्यादा से ख्याल करो। बहुत्व के उत्पन्न होने में संख्या और सम्बन्धी ज्ञान के मिलने का नियम नहीं। इस प्रकार सेना और वन के वृक्षों में बहुत्व उत्पन्न होता है कोई दूसरी वस्तु उत्पन्न करने वाली नहीं होती सन्देह तो प्रत्येक अवस्था में हो सकता है जिस प्रकार एक ही अधिकरण में एकत्व और पृथक्त्व रहते हैं इसी प्रकार एक ही अधिकरण में द्वा कि संख्या और द्वित्व रहता है। जैसे द्वित्व है उसी प्रकार उसकी पृथक्ता है।

प्रश्न---दो और तीन आदि एक ही अधिकरण में हैं। एकत्व और पृथक्त्वादि के व्यावहार का होना सम्भव होने से क्या द्वित्व पृथक्त्वादि एक नहीं हैं ?

उत्तर--जिस प्रकार घड़ा, ढेला, सरावा पृथक है इसी प्रकार दो और पृथक्त्व में एक दूसरे को पृथक करने वाला स्थान मालूम नहीं होता। प्रत्येक भिन्न-भिन्न वस्तु में पृथक्त्व बराबर नहीं है किन्तु भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तु का प्रकाशित होना है, इस प्रकार नहीं मालूम होते। द्वित्व का सहाधिकरण वाला जो परत्व अर्थात् वरे या परे है उससे उसका ज्ञान हो जाता है जिस प्रकार पृथक्त्व में एक दूसरे से घिरे हुए होने के कारण फर्क होता है। इस प्रकार फर्क परत्व में नहीं, जिस प्रकार यह दोनों नीले हैं, इस बात को जानने से (नीलेपन) और (दो) में हठ नहीं मालूम होता। दोनों सहाधिकरण

हैं ! इसी प्रकार द्वित्व और परत्व भी सहाधिकरण और हठ से भिन्न है एक में स्थिर और आवस में मेल और एकता न होने पर भी दिशा और शरीर जैसा समवायिकरण में उनके भेद हैं और प्रकार कार्य की उत्पत्ति सम्भव होने से जो एकता एकत्व और द्वित्व मिले हुए हैं जैसे असमवायि कारण से मिले हुए एक और पृथकत्व द्वित्व और पृथकत्व का असमवायि कारण भी होना सम्भव है।द्रव्य से पृथक् एक कार्य के वास्ते अनेक पदार्थों के मेल से कार्यानुसारी समवायि ज्ञान के न होने पर भी उत्पन्न करने वाले के दर्शन न होने से सम्भव नहीं, कारणों का एक साथ ज्ञान होने से बहुत से तन्तुओं, कार्यानुसारी शस्त्रों का मेल एक कपड़े और शस्त्र के मेल को उत्पन्न करता है। यही केवल नमूना है। द्वित्वादि के नाश की तरह द्वित्व और पृथक्त्व का नाश भी विचार लेना चाहिए।

इसके आगे दूसरे विषय को आरम्भ करते हैं।

अन्यतरकर्मजः उभयकर्मजः संयोगश्च संयोगः ॥६॥

अर्थ---मिलाप में जो मिले हुए का मालूम होना है प्रमाणों से नहीं कटता और सब कार्य भागों के संयोग में द्रव्य होते हैं अर्थात् द्रव्य में अग्नि के मिलने से रूपादि पाकज गुणों के मालूम होने में विशेषता से 'भेरी' आदि वाद्य और आकाश के संयोग से शब्दादि पैदा होते हैं. यह स्वयं बिचार करना चाहिये। ऐसा ही और पाकज गुण के सम्बन्ध में सोच लेना चाहिए। संयोग के अर्थ प्राय: ऐसा विचार किया जाता है कि 'जिसमें बिल्कुल अन्तर नहीं' वह सयोगी है' किन्तु एक क्षण में नाशवान् वस्तु में यह बात सम्भव नहीं। अतएव जिसके पहले प्राप्त न हो उसका प्राप्त हो जाना ही संयोग है यह कर्म से उत्पन्न होता है जैसे चंचल बाज (एक पक्षी का नाम है) एक स्थायी बृक्ष पर जा बैठता है। अब पहले उस बृक्ष को वह बाज प्राप्त न था अर्थात् उससे पृथक् था अब उस कर्म के कारण जो उस बाज की आत्मा से आरम्भ होकर शरीर में पहुंचा है, बाज का और वृक्ष का संयोग हो गया। इसी प्रकार अन्य स्थानों पर हरकत से एक अप्राप्त वस्तु दूसरी वस्तु में मिल जावे इस मिलने का नाम संयोग है। प्राय: परम्परा संयोग जैसे एक वृक्ष के साथ अंगुली लगाने से वृक्ष और हाथ का संयोग कहलाता है। इसी प्रकार तागों के साथ कच मिलने से कपड़े के साथ कच का मेल होता है। कहीं दो के साथ मेल होने से संयोग होता है। जैसे दो तारें आकाश से मिली हुई हैं, और दो तारों का बना हुआ कपड़ा आकाश से संयोग रखता है। कहीं बहुत से संयोगों से एक संयोग पैदा होता है जैसे बीस तारों के साथ जो आकाश का

मेल है। उससे बीस तारों से बने हुए एक कपड़े से आकाश का संयोग उत्पन्न होता है। किन्तु पुनः एक असमवायि कारण संयोग से भी दो संयोग उत्पन्न हो जाते हैं जैसे मिट्टी और जल के परमाणु का दूसरे जल परमाणु से दों-दो तक उत्पन्न करने वाले दो संयोगों से उत्पन्न होते हैं और उन स्वर्ण संयोग से एक साथ दो-दो तक उत्पन्न होते हैं। इस जगह जो मिट्टी और जल के परमाणुओं में न पैदा करने वाला संयोग उत्पन्न हो उस एक ही मिट्टी के परमाणुओं से जल की दो तक से भी एक ही संयोग और पानी के परमाणु और मिट्टी के दो तक से दूसरा संयोग इस प्रकार और दोनों के संयोग की उत्पत्ति एक ही समय में होती है । कारण और अकारण उनके संयोग द्वारा कार्य और अकार्य के संयोगों को आवश्यक तौर पर उत्पन्न करने से मूर्तिमान् वस्तु और विभु से सम्बन्ध रखने वाली वस्तु का संयोग कर्म से होना आवश्यक नहीं, क्योंकि कारण के न होने से वहाँ हरकत ही नहीं और न कारण ही है अतएव कारण और अकारण के संयोग के अकार्य और कार्य का संयोग भी नहीं है। विभु और मूर्तिमान् द्रव्य का संयोग नित्य ही है । प्रथम न मिले हुए का मिलना जो संयोग का लक्षण किया था उससे संयोग उत्पन्न होना प्रमाणित होता है और विभु का संयोग नित्य कहते हैं। यह उसका विपक्षी है। दूसरा विभाग भी नित्य हो जावेगा और यदि कहो विभाग का नित्य होना भी हमें लाभदायक ही है किन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि संयोग व विभाग जो एक दूसरे के विपक्षी हैं यदि दोनों अविनाशी हों एक ही स्थान में उनका पाया जाना असम्भव है इस वास्ते दोनों अनित्य हैं। इस वास्ते आवश्यक, दो वस्तुओं का होना है किन्तु दो विभु वस्तु नहीं हो सकती। जो मूर्तिमान् भी हो जिनमें संयोग सम्भव हो विभु वस्तु तो

दोनों मिलने से और दोनों पृथक् और उनसे बिल्कुल पृथक् रहने वाला संयोग का आश्रय जो द्रव्य में विभु उनका भी आश्रय है। और संयोग का नाश प्रथम तो साधिकरण विभाग से होता है अथवा आश्रय अर्थात् अधिकरण के नाश से होता है। जैसे किसी स्थान पर दो तारों के मिलने के बाद एक तार के किसी भाग में कर्म उत्पन्न हो और उस कर्म से दूसरे काम से वह वस्तु पृथक् हो जावे और विभाग से उत्पन्न करने वाले संयोग का नाश और उससे तार का नाश और तार के नाश से संयोग का नाश। जहाँ दो तारें बहुत समय से मिली हों और उसमें कर्म उत्पन्न होने से नाश हो जाता है। कुछ ऐसा कहते हैं तार के भाग के कर्म से तार के उत्पन्न करने वाले संयोग का नाश हो जाता है तब दूसरे तार में कर्म विचार करने से अधिकरण का नाश और विभाग से जो दोनों एक साथ उत्पन्न होते हैं संयोग का नाश हो जाता है, किन्तु यह कहना ठीक नहीं क्योंकि समवायि कारण के नाश होने वाले क्षण में विभाग उत्पन्न नहीं हो सकता क्योंकि समवायिकारण कार्य के रहने तक बराबर रहता है यह नियम है, अतएव यह संयोग द्रव्य के उत्पन्न करने में किसी प्रकार की सहायता की आवश्यकता नहीं रखता है परन्तु गुण को कर्म के पैदा करने में दूसरी वस्तुओं की आवश्यकता है। अपना सहाधिकरण मालूम होने से बड़े पीपल के वृक्ष पर बैठा हुआ जो बन्दर है, यद्यपि वह पीपल की एक शाखा पर बैठा है तो भी यही अनुभव होता है कि पीपल के वृक्ष से बन्दर का संयोग है। केवल अभाव के कारण अनित्य सिद्ध होने से परमाणु में रहने वाला प्रमाणित होता है, किन्तु ऐसा प्रतीत नहीं होता। इसलिये विभु का भी उपाधि-भेद के कारण एक भाग होता है और भाग से होने वाला संयोग भी एक देश में ही होता है। अतएव परमाणु स्थित संयोग का

भी दिशा आदि के साथ पृथक् करने वाला विचार करना चाहिये ।

प्रश्न--विभाग में संयोग की उत्पत्ति किस प्रकार हो सकती है ?

उत्तर—एतेन विभागो व्याख्यातः ॥१०॥

अर्थ—संयोग की तरह विभाग से और दोनों प्रकार के कर्म से पैदा होता है अथवा विभाग से और दोनों प्रकार के कर्म का विभाग उत्पन्न होता है । जैसे कि बाज के कर्म से जो बाज और वृक्ष में विभाग हो गया वह कर्म से हुआ । ऐसे ही दो मल्ल जो मल्ल युद्ध छोड़कर पृथक् २ हो गये उनमें जो विभाग हुआ उन दोनों के कर्म से हुआ । यह विभाग केवल कर्म के पैदा करने वाले क्षण में हुए हैं, क्योंकि इसमें किसी दूसरी वस्तु की आवश्यकता नहीं मालूम हुई । इस वास्ते कहा है कि संयोग और विभाग का कर्म कारण है । विभाग पैदा करने के वास्ते तो अधिकरण का नाश और संयोग उत्पन्न करने के लिये प्रथम संयोग के नाश का विचार करना चाहिए । ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि अपनी उत्पत्ति के सम्बन्धी कर्म के अनावश्यक होने से और विभाग से उत्पन्न होने वाला विभाग दो प्रकार है । एक केवल कारण के विभाग से उत्पन्न होने वाला, दूसरा कारण और अकारण के विभाग से उत्पन्न होने वाला अथवा कारण और अकारण के विभाग से उत्पन्न होने वाला कार्य और अकार्य उनके विभाग से उत्पन्न होते हैं । उनमें केवल कारण के विभाग से, कारण और अकारण के विभाग से । जैसे दोनों कपालों के पृथक् होने से कपाल और आकाश में विभाग होता है और कारण और अकारण के विभाग से कार्य और अकार्य के विभाग । जैसे अंगुली के वृक्ष से पृथक् होने से हाथ वृक्ष से पृथक् हो जाता है उससे शरीर और वृक्ष में विभाग हो जाता है ।

प्रश्न विभाग के होने में प्रमाण नहीं, केवल संयोग के अभाव में विभाग का शब्द काम आने से ?

उत्तर--यह ठीक नहीं, क्योंकि संयोग का अत्यन्ताभाव नहीं होता, द्रव्यों में रहने वाला संयोग का अत्यन्ताभाव विभाग होने के ज्ञान का कारण है यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि भाग और सम्पूर्ण में भी ऐसा ही व्यवहार करना पड़ेगा।

प्रश्न--जो द्रव्य कार्य नहीं कारण है यदि उनमें विभाग मान लिया जावे तो क्या हानि है ?

उत्तर--यदि ऐसा मान लिया जावे तो विन्ध्याचल और हिमालय में भी विभाग मानना पड़ेगा, जो नहीं है। यदि कोई कहे कि ऐसा होने में क्या हानि है तो विचार करना चाहिये कि नियम-विरुद्ध करने में गुण और कर्म करने में भी विभाग मानना पड़ा क्योंकि व्यवहार का विचार कहने मे।

प्रश्न यदि संयोग के नाश का नाम विभाग रखा जावे तो क्या हानि है ?

उत्तर-एक ही संयोग के नाश से संयोग के नाश होने पर विभाग कहना पड़ेगा, किन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि दोनों संयोगों के उपस्थित होते हुए भी एक संयोग के नाश होने के पश्चात् पुनः मिलने पर सरावे या आंवले में मिली हुई अवस्था में भी विभाग होने का ज्ञान होने से।

प्रश्न--जितना अथवा जिस समय तक संयोग का नाश है वही विभाग है ?

उत्तर--यह भी ठीक नहीं, क्योंकि एक संयोग के नाश होने में उसका अभाव कहने से, क्योंकि एक संयोग के नाश होने से संयोग का अभाव नहीं होत. और कुल अर्थों अर्थात् वस्तुओं के अभाव से। इस वास्ते संयोग के अभाव से पृथक व विभाग एक गुण है. और

दूसरे विपक्षी गुण से नाश होने वाला है, क्योंकि बिना सहाधिकरण विपक्षी गुण के उसका नाश होना सम्भव न होने से, क्योंकि आश्रय उपस्थित हो तो विपक्षी के गुण के बिना नाश नहीं हो सकता।

प्रश्न--कर्म भी संयोग से नाश होता है और विभाग को भी संयोग से नाश होने वाला मान लिया जावे तो लक्षण अति व्याप्त हो गया ?

उत्तर--गुणों का विपक्षी गुण आने से नाश होता है, क्योंकि जिस समय अंगुली, हाथ और शरीर का अपने-अपने कर्म से वृक्ष के साथ मिलाप हुआ, उस अवसर पर केवल अंगुली में उत्पन्न हुए कर्म से अंगुली और वृक्ष के संयोग का नाश असम्भव होने से हाथ और वृक्ष, भुजा और वृक्ष, शरीर और वृक्ष के संयोग का नाश स्वीकार करना पड़ेगा और हाथ आदि उस स्थान पर कर्म से खाली हैं और अंगुली में जो कर्म है उसका अधिकरण हाथ से पृथक् है। दूसर अधिकरण में होने वाले कर्म से भी संयोग का नाश मानने में किसी स्थान पर कर्म होने से संसार के संयोग का नाश होगा।

प्रश्न--तुम्हारे विचार में उस अवसर पर क्या होगा ?

उत्तर--अंगुली और वृक्ष के पृथक् होने से हाथ और वृक्ष का विभाग उत्पन्न होकर हाथ और वृक्ष के संयोग का नाश करता है। यह ज्ञान होने से दूसरे अधिकरण अर्थात् अंगुली के कर्म से हाथ के संयोग का नाश हो जावे। इससे अतिप्रसंग होना सम्भव नहीं, क्योंकि जो एक दूसरे से मिले हुए हैं उन्हीं में एक वस्तु के कर्म से दूसरे के संयोग के नाश होने को देखने से यह भी ठीक नहीं, क्योंकि साधिकरण विरुद्ध गुणों को प्रत्येक स्थान पर नाश करने वाला मालूम करने से। दूसरे हठ के अतिरिक्त उसका आश्रय छोड़ना सम्भव नहीं। शब्द में जो

विभाग है वह विभाग से उत्पन्न होता है । इस अवसर पर विभाग के असमवायि कारण होने का विचार करते हैं : किसी एक सेना में कहे हुए शब्दों की दूसरी सेना में जो आवाज होती है, उस स्थान पर सेना और आकाश का समवायि कारण नहीं देखते और आग से जलते हुए बाँसों में जो आवाज हो रही है उस स्थान पर भी विभाग के अतिरिक्त कोई दूसरा समवायि कारण दृष्टिगत नहीं होता । इसलिये कारण और अकारण के विभाग से ही कार्य और अकार्य के विभाग का उत्पन्न होना हम अनुमान करते हैं । यदि ऐसा हो तो किस प्रकार अपने-अपने कर्म से उत्पन्न हुए अंगुली और वृक्ष का संयोग, भुजा और वृक्ष का संयोग, शरीर और वृक्ष के संयोगों का केवल अंगुली में उत्पन्न हुए कर्म से अंगुली और वृक्ष में विभाग होने से अंगुली और वृक्ष का संयोग नाश होने पर भी हाथ आदि के संयोग का नाश हो सकता है । उस स्थान पर विभाग से उत्पन्न हुए विभाग के प्रसंग से संयोग का नाश हो जाता है । यह कह चुके हैं दो कारणों के विभाग के द्वारा कारण और अकारण का विभाग होना साफ प्रतीत होता है । जो बांस के दल अर्थात् गुद्दे में कर्म उत्पन्न हुआ है, उसका दूसरे दल से विभाग की तरह आकाशादि से भी विभाग होना सम्भव होने से । जब तक वह बांस का दल अर्थात् गुद्दा मिला हुआ था तब तक उस कर्म से उसका विभाग देखने से प्रकाशित ही है और वही अंगुली में उत्पन्न कर्म से दूसरी अंगुलियों से विभाग की तरह आकाशादि से विभाग पैदा होता है । द्रव्य में संयोग का विरुद्ध विभाग उत्पन्न करने वाले सौ विभाग एक कर्म से उत्पन्न हो जाते हैं । जो कर्म द्रव्य के उत्पन्न करने वाले संयोग के विरुद्ध विभाग को उत्पन्न करता । वह द्रव्य के उत्पन्न करने वाले संयोग के अनुसार उत्पन्न नहीं करता । जो द्रव्य के उत्पन्न करने वाला कर्म है वहीं संयोग के विरुद्ध विभाग

को उत्पन्न करने वाला है। तात्पर्य यह है कि कर्म ही संयोग उत्पन्न होकर द्रव्य बनता है और कर्म ही से विभाग उत्पन्न होकर द्रव्य का नाश होता है।

प्रश्न -यह ठीक नहीं, क्योंकि संयोग और विभाग दो भिन्न प्रकार के कार्यों के लिये भिन्न प्रकार के कारण चाहिये। एक प्रकार के कारण से भिन्न प्रकार के कार्यों का उत्पन्न होना सम्भव नहीं। अतएव एक ही कर्म द्रव्य के उत्पन्न करने वाले संयोग को उत्पन्न करे और उसके नाश करने वाले विभाग को भी। जैसा खिला हुआ फूल उसके बन्द करने को भी उत्पन्न करना सम्भव नहीं ?

उत्तर---द्रव्य के उत्पन्न करने वाले संयोग के विरुद्ध नहीं, इन दोनों का उत्पन्न करने वाला कर्म है। ऐसा मत कहो, क्योंकि कारण के भिन्न प्रकार के होने के विचार की बुनियाद है न कि विरुद्ध है। एक द्रव्य के उत्पन्न करन वाले संयोग का इठ होने से। इस वास्ते भिन्न प्रकार का विचार करना उचित ही है। इस वास्ते यह जो बाँस के दल में कर्म उपस्थित है दोनों की तरफ विभाग को उत्पन्न करता है। और वह विभाग आकाशादि स्थानों से विभाग को उत्पन्न करता है उसके विना दूसरे की सहायता के विभाग उत्पन्न करने वाले को विभाग का कारण होने में कर्म ही मानना पड़ेगा, क्योंकि वह नाश से पृथक समय की आवश्यकता रखता है नहीं उस समय भी उसे कर्म ही उत्पन्न करता है। भूतकाल होने से कर्त्ता का अपनी उत्पत्ति के विना ही विभाग का उत्पन्न करना सम्भव है।

प्रश्न---कहीं इस प्रकार दूसरे विभाग को उत्पन्न करता हुआ कहीं दूसरे देश अर्थात् स्थान में संयोग को भी उत्पन्न न करदे ?

उत्तर---कही संयोग की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कर्म अतीत

काल में नहीं, यदि विरुद्ध इसके माना जावे तो कर्म का नाश हीं न हो। इस प्रकार योग से नाश होने वाला होने से इस वास्ते यह विभाग, आने वाले संयोग से नाश होने वाला तीन क्षण तक रहता है। कहीं तो आश्रय के नाश से होता है जबकि तारों के भागों में उत्पन्न हुए-हुए कर्म से आगे चल कर दो भागों का विभाग उत्पन्न होता है और उससे दूसरे तार में कर्म उत्पन्न होता है। उन दो तारों के विभाग तार के उत्पन्न करने वाले संयोग का नाश और तार के कर्म से विभाग। उससे वस्तु के उत्पन्न करने वाले संयोग का, उसके नाश से तार का नाश हो जाता है।

प्रश्न--इस प्रकार दूसरे तार में उत्पन्न हुये कर्म का नाश नहीं होगा क्योंकि उसका कोई नाश करने वाला नहीं क्योंकि आगे होने वाले संयोग ही से उसका नाश होना सम्भव है परन्तु विभाग के नाश होने पर आगे को संयोग नहीं होगा ?

उत्तर--तार में जो कर्म उत्पन्न होता है उससे जिस प्रकार उप-स्थित तार में विभाग पैदा हुआ है उसी तरह उसका भाग भी विभाग को उत्पन्न करेगा वह भी उत्पन्न करने वाले संयोग का विपक्षी ही होगा। उससे उत्तर को संयोग और उससे कर्म का नाश हो जायेगा अथवा ऐसे विचारना चाहिये, जिस समय जिस स्थान में तार में कर्म होगा उसी समय उसके भाग में भी होगा और वह कर्म मौजूदा नाश होने वाली तार और उसके भागके आकाशादि से विभाग को एक साथ ही उत्पन्न करता है। सम्पूर्ण विभाग के उत्पन्न करने वाले संयोग का विपक्षी होने से उदाहरणतः भागों और आकाशादि अकारण उसके विभाग होने से कार्य तार का अकार्य आकाशादि से जो विभाग उत्पन्न हुआ है, उससे पश्चात् उत्पन्न होने वाले संयोग से तार में मिला हुआ जो कर्म है उससे कर्म का नाश होगा। और कहीं पर दो से, (जैसे

तारों और वैरन जिससे जुलाहा बुनता है) के संयोग होने से तार के हिस्से के परमाणुओं में कर्म होता है और उसी समय वैरन में भी कर्म होता है तार के भाग के कर्म से दूसरे भाग के साथ विभाग उत्पन्न होता है। उससे तार उत्पन्न करने वाले संयोग का भी नाश हो जाता है और वैरन में विभाग उत्पन्न होता है। और उस तार और वैरन में जो संयोग था उसका नाश हो जाता है। और तार पैदा करने वाले संयोग का भी नाश हो जाता है। तार और वैरन के संयोग के नाश के पश्चात् वैरन में दो प्रदेश से संयोग उत्पन्न होता है। उस संयोग और आश्रय के नाश विभाग का भी नाश हो जाता है।

प्रश्न - क्या संयोग में संयोग और विभाग में विभाग होता है ?

उत्तर—संयोगविभागयोः संयोग विभागाभावोऽणुत्व-महत्वाभ्यां व्याख्यातः ॥११॥

अर्थ—जिस प्रकार अणु और महत् अर्थात् छोटे और बड़े में विशेषता पाई जाती है उसमें परिमाण के गुण होने से दूसरा परिमाण नहीं रहता और न कोई गुण रह सकता है। ऐसे ही संयोग और विभागादि नहीं रहते।

कर्मभिः कर्माणि गुणैर्गुणा अणुत्वमहत्वाभ्या मिति ॥१२॥

अर्थ—कर्म सदैव किसी कार्मिक (हरकत करने वाली) वस्तु में तो रहता है परन्तु कर्म में कर्म नहीं रहता और गुण द्रव्य में तो रहते हैं किन्तु गुणों में गुण नहीं रहते। जिस प्रकार छोटे अथवा बड़े परिमाण में कोई गुण नहीं होता। तात्पर्य यह है कि गुण में गुण और कर्म में कर्म रहना असम्भव है।

प्रश्न - अवयव और अवयवी में संयोग किस प्रकार नहीं ?

उत्तर—युतसिद्ध्यभावात् कार्यकारणयोः संयोग विभागौ न विद्यते ॥१३॥

अर्थ---विना सम्बन्ध एक से ज्यादा वस्तु की उपस्थिति का नाम युतसिद्ध है, अथवा दो पृथक-पृथक आश्रयों मे रहने वाली वस्तु को भी युतसिद्ध कहते हैं परन्तु अवयव और अवयवी मे युतसिद्धि नहीं पाई जाती क्योंकि इन दोनों में सम्बन्ध है। यह विना सम्बन्ध के उपस्थित नहीं रहते। दूसरे इन दोनों का आश्रय भी एक ही होना है अर्थात् जिस स्थान पर मनुष्य खड़ा हो उसी जगह पर मनुष्य के शरीर के अवयव भी हैं, शरीर के अवयवों ने कोई अन्य स्थान नहीं घेरा। अतः कार्य और कारण में संयोग विभाग नहीं है, क्योंकि एक आश्रय में सम्बन्ध और भिन्नता दोनों में नहीं हो सकती जहां ये पाये जायेंगे वहाँ साधिकरण नहीं कहलायेंगे।

प्रश्न---क्या शब्द और अर्थ में संयोग सम्बन्ध है ? या और किसी प्रकार का सम्बन्ध है ?

उत्तर---गुणत्वात् ॥१४॥

अर्थ--- संयोग के गुण होने से शब्द के साथ जो गुण हैं किस प्रकार सम्बन्ध हो सकता है और शब्द गुण का घट आदि द्रव्य के साथ भी सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि संयोग द्रव्य से द्रव्य का हो सकता है परन्तु शब्द गुण है इसलिये शब्द का अर्थ के साथ संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता।

प्रश्न---क्या गुण का गुण के साथ संयोग नहीं हो सकता ? अर्थात् शब्द का अर्थ जहां गुण हो वहाँ तो संयोग होगा ?

उत्तर—गुणोपि विभाव्यते ॥१५॥

अर्थ--गुण भी शब्द का विषय है अर्थात् शब्द के द्वारा गुणों को भी कहा जाता है। अर्थात् कहते हैं कि काला रूप, खट्टा रसादि. किन्तु उस रस और रूपादि के साथ शब्द का संयोग-सम्बन्ध नहीं होता। तात्पर्य है कि जिस प्रकार शब्द गुण का द्रव्यों के साथ संयोग नहीं होता ऐसे ही गुणों के साथ भी सयोग सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि संयोग कर्म से उत्पन्न होता है, किन्तु आकाशादि द्रव्य से न तो एक वस्तु कर्म करके मिला सकती है और न ही दोनों के कर्म से सयोग होता है।

प्रश्न--कर्म के कारण संयोग के न होने का क्या कारण है ?

उत्तर—निष्क्रियत्वात् ॥१६॥

अर्थ---न तो शब्द ही कर्म करने वाले हैं और न ही जिस आकाश का गुण शब्द है उसमें कर्म हैं और न शब्द का अर्थ कर्म करके शब्द की तरफ जाता प्रतीत होता है। इन कारणों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि शब्द का अर्थ के साथ संयोग नहीं होता। इसके लिये और युक्ति देते हैं :—

असति नास्तीति च प्रयोगात् ॥१७॥

अर्थ---यदि शब्द का अर्थ के साथ संयोग होता तो जहां शब्द जाता वहीं अर्थ का होना अवश्यक होता किन्तु हम इसके विरुद्ध देखते हैं अर्थात् घट जब नहीं होता तो कहते हैं कि घड़ा नहीं हैं। यह कहना उस अवस्था में सम्भव है जबकि घड़े का शब्द घड़े के साथ संयोग नहीं वरन जहाँ शब्द घड़ा होगा वहीं घड़ा होगा। इसी प्रकार और वस्तुओं के अस्तित्व से जो इनकार किया जाता है उनके आगे बनने का वर्णन किया जाता है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि शब्द और अर्थ का संयोग नहीं वरन किसी वस्तु कि हस्ती से इन्कार करना ही सम्भव नहीं इस वास्ते अर्थ के साथ शब्द का न संयोग सम्बन्ध है न ही समवाय

सम्बन्ध है, क्योंकि यह दोनों सम्बन्ध जिन वस्तुओं में होंगे उनका एक साथ होना भी आवश्यक होगा ।

शब्दार्थावसम्बन्धौ ॥१८॥

अर्थ---यदि शब्द और अर्थ में संयोग ही नहीं है और न ही समवाय सम्बन्ध है तो इससे स्पष्ट है कि शब्द और अर्थ में किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं ।

प्रश्न---संयोग और समवाय सम्बन्ध के अतिरिक्त और प्रकार का सम्बन्ध न होगा ?

उत्तर—संयोगिनो दण्डात् समवायिनो विशेषाच्च ॥१९॥

अर्थ---दण्डी पुरुष, इस ज्ञान में दण्ड और पुरुष का संयोग सम्बन्ध है अर्थात् पुरुष के साथ दण्ड मिला हुआ होने से दण्डी पुरुष कहलाता है । और हाथी कुंजर इस ज्ञान में समवाय सम्बन्ध अर्थात् जिन अवयवों के संगठन का नाम हाथी है उन सम्पूर्ण अवयवों के मिले होने की अवस्था में ही हाथी का ज्ञान हो सकता है दूसरी अवस्था में नहीं । इस वास्ते यह विशेषतया मिले होने से ही वह विशेष शकल उत्पन्न होकर अपने प्रकाश का कारण होती है । जिस प्रकार तारों के संगठन और कपड़े का ज्ञान एक साथ होता है जो कि समवाय सम्बन्ध को बतलाता है ऐसा ही शब्द और उसके अर्थ का ज्ञान नहीं होता । इस वास्ते शब्द और अर्थ में न संयोग सम्बन्ध है और न समवाय सम्बन्ध है ।

प्रश्न---यदि शब्द और अर्थ में संयोग और समवाय सम्बन्ध नहीं, तो किस सम्बन्ध से शब्द नियमित अर्थों को प्रकाशित करता है ?

सामवायिकः शब्दादर्थप्रत्ययः ॥२०॥

अर्थ---शब्द और अर्थ में जो सम्बन्ध है वह संकेत के स्थायी नियम दूसरी सोसायटी के स्थायी नियम से होता है तात्पर्य यह है कि शब्द दो प्रकार के हैं एक लौकिक दूसरे वैदिक। वेद के शब्दों का अर्थ के साथ सम्बन्ध संकेत के स्थायी नियम से है अर्थात् इस शब्द से यह अर्थ लेना चाहिये ऐसा नियम जो ईश्वर ने प्रमाणित कर दिया है। इससे वैदिक शब्दों के अर्थ का ज्ञान होता है और लौकिक शब्दों के अर्थों के लगाव जो सोसाइटी ने नियम प्रमाणित कर दिये हैं। जिनके भरोसे हर कोषादि तैयार किये जाते हैं उसके द्वारा ज्ञान हो जाता है, इन वास्ते शब्द और अर्थ में संकेत का सम्बन्ध है।

प्रश्न---वैदिक और लौकिक शब्दों के अर्थों का भेद किस प्रकार मालूम हो सकता है और किस प्रकार इस बात का ज्ञान होता है कि यह शब्द लौकिक है और यह वैदिक है क्योंकि दोनों एक से मालूम होते हैं।

उत्तर---वेद में सब शब्द यौगिक हैं रूढ़ि नहीं और लोक में रूढ़ि और योग रूढ़ि शब्दों को देखकर मालूम हो जाता है कि यह शब्द वैदिक है और यह लौकिक है और उसी के अनुसार अर्थ भी लिया जाता है।

प्रश्न---यौगिक शब्द किसे कहते हैं ?

उत्तर---जो वस्तु के गुण को बताने वाला गुणी है जैसे प्रत्येक धनी पुरुष को धनी कहना यह उसके गुण के विरुद्ध नहीं है, यद्यपि वेद का संसार के आदि में परमात्मा की ओर से उपदेश होता है इसलिये उसमें सम्पूर्ण गुण विशिष्ट नाम होते हैं। जो किसी विशेष पुरुष पर दलालत नहीं करते, किन्तु गुणों को बतलाते हैं।

प्रश्न---रूढ़ि शब्द किसे कहते हैं ?

उत्तर---जहाँ शास्त्र के नियमित किये हुए अवयवों से अर्थ का ज्ञान न हो, किन्तु एक श्रेणी ने उसको मान लिया हो। लोक में किसी निर्धन पुरुष का नाम धनपति रख देते हैं। इस प्रकार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध संकेत से होता है। वैदिक शब्दों का अर्थ ईश्वर के संकेत से लिया जाता है और लौकिक शब्दों का अर्थ सोसाइटी अथवा समूह के संकेत से ग्रहण किया जाता है। ईश्वर के एक ही शब्द के दो नियमित अर्थ नहीं हो सकते, किन्तु सोसाइटी के अनुकूल यह नियम नहीं है। जगत् की सम्पूर्ण भाषाएं सोसाइटी के बनाये हुये नियम पर स्थित हुई हैं। संस्कृत भाषा के लौकिक ग्रन्थों में विशेषतया सोसाइटी के नियमित नियमों से अर्थ लिया जाता है, किन्तु वैदिक भाषा का सोसाइटी से कोई सम्बन्ध नहीं। वेदों में रूढ़ि शब्द नहीं हैं इस लिये उनमें कोई अर्थाभास भी नहीं। जो मनुष्य यह बात नहीं जानते कि वेदों में केवल यौगिक शब्द हैं वह वेदों में भी अपनी अल्पज्ञता से इतिहास बतलाते हैं, किन्तु जानने वाले यास्काचार्यादि ऋषि इ.के विरुद्ध हैं। इन दो प्रकार के शब्दों के अतिरिक्त योगरूढ़ि शब्द भी होते हैं। जहां पर रूढ़ि नाम में गुण भी वैसे ही पाये जायें जैसे कि विशेष धनी का नाम धनपति रखा गया। यद्यपि धनपति उसका नाम रूढ़ि है किन्तु उस में गुण भी पाये जाते हैं। परमात्मा का संकेत जाति में रहने वाला होता है और सोसाइटी का संकेत जाति और व्यक्ति दोनों में पाया जाता है, इस वास्ते उसके दो भेद वैदिक और लौकिक किये जाते हैं। प्रभाकर आचार्य के विचार में वस्तु और व्यक्ति को बताने वाली शक्ति का नाम ही संकेत है और पुराने आचार्यों के विचार में वस्तु व्यक्ति और शकल इन पदार्थों का ज्ञान जिस शक्ति से होता है वही संकेत है तात्पर्य यह है कि शब्द और अर्थ का स्थायी नियम के अनुसार सम्बन्ध है। वैदिक शब्दों का ईश्वर के नियम से और लौकिक

शब्दों का सोसाइटी के नियम से। अब देश के प्रसंग से परत्व और अपरत्व में जांच होगी।

एकदिक्कालाभ्यामेककालाभ्यां सन्निकृष्टविप्रकृष्टाभ्यां परम-परञ्च ॥२१॥

अर्थ--परत्व और अपरत्व दो प्रकार से उत्पन्न होते हैं। एक देश सम्बन्ध से दूसरे काल सम्बन्ध से।

प्रश्न--दिशा एक है। ऐसा बतला चुके हैं, और काल भी एक है यह बतला चुके हैं अतएव एक ही काल और दिशा से दूरी और नजदीकी दो प्रकार की मुतजाद (राय) किस प्रकार उत्पन्न हो सकती है ?

उत्तर--यद्यपि एक ही काल और दिशा से परत्व और अपरत्व उत्पन्न नहीं होता किन्तु बीच में दूरी की न्यूनता विशेषता से यह कहा जाता है। यथार्थ में परत्व और अपरत्व की उत्पत्ति नहीं मानी जाती। जिस प्रकार उपचारक शब्दों को दूसरे स्थान में देखते हैं। जैसे कोई कहते हैं आगरा आ गया। यद्यपि आना, शब्द आगरे में कहा गया है, किन्तु कहने वाले का स्पष्ट तात्पर्य यही है कि हम आगरे आ गये हैं। इस प्रकार बीच के फासले को परत्व और अपरत्व कहा जाता है।

प्रश्न--यदि परत्व और अपरत्व की उत्पत्ति मानी जाये तो उसका समवायि और असमवायि कारण क्या होगा ?

उत्तर--उस दशा में दिशा और काल तो असमवायि कारण होंगे अन्य स्थान में और वस्तु का जो मिलाप है वह असमवायि कारण कहलायेगा। जैसे कि पूरबी आदमी का पूरब की वस्तु के साथ निकट का सम्बन्ध ज्यादा है और दूसरी वस्तु के साथ थोड़ा सम्बन्ध, इसी अपेक्षा से पूरबी वस्तु का अपरत्व और

दूसरी ओर की वस्तु का परत्व सम्बन्ध होगा। एक ओर की वस्तु में भी फासले से परत्व और अपरत्व का खयाल होगा जब कि परत्व और अपरत्व की उत्पत्ति को मान लिया जाये और इन्द्रियों का संयोग और उनको संयोग न होना दोनों के कारण बतला दिये। इस प्रकार विषय के प्राप्त करने वाले ज्ञान का उपलक्षण बतला दिया। ऐसे ही सम्बन्धी ज्ञान को निमित्त कारण कहा। हम बतला चुके हैं कि एक ही तरफ वाली दो वस्तुओं में भी परत्व और अपरत्व पाया जाता हैं। जब सबका कारण केवल देखने वाले का अपेक्षा ज्ञान ही है तो वह प्रत्येक अवसर पर उत्पन्न होना चाहिये. किन्तु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि अपेक्षा बुद्धि के नियम होने से प्रत्येक स्थान में परत्व और अपरत्व की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है। यह प्रत्यक्ष मे प्रमाणित है। कारण-कार्य का एक दूसरे के आश्रय होना ठीक नहीं किन्तु कार्य सदैव कारण की सत्ता पर निर्भर है वरन् कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती क्योंकि कारण की सत्ता के लिये कार्य पहले चाहिये और कार्य के वास्ते कारण की आवश्यतका है क्योंकि परत्व और अपरत्व का भान होता है। और भान होना विना उत्पत्ति के सम्भव नहीं। एक काल में उत्पत्ति बतलाने से संसार में भान होने वाले अपरत्व का वर्णन किया एक काल से दो वस्तुओं के उत्पत्ति समय में परत्व और अपरत्व का विचार उत्पन्न होता है जिसकी उत्पत्ति से उस समय थोड़ा फासला है वह निकट है और जिसकी उत्पत्ति से विशेष फासला है वह दूर रहता है इस स्थान पर भी गुण और गुणी का नमूना दिखलाया है। उससे दो स्थानों पर विभाजित वस्तु जो समवायि कारण और काल और वस्तु का संयोग असमवायि कारण है। उनमें जिस सीमा तक बुद्धि को जाने में विशेष काल लगाना पड़ता है यह दूर है। जहां कम फासला है वह निकट है।

यह परत्व और अपरत्व का ज्ञान नियमित स्थान वाली वस्तु में भी उत्पन्न होता है। जो मकान सम्बन्धी परत्व-अपरत्व होता है, उसका सात प्रकार से नाश होता है और उत्पत्ति दोनों की एक साथ होती हैं वरन् अन्योऽन्याश्रय हो जाता है। सम्बन्धी ज्ञान के नाश होने से असमवायि कारण संयोग का नाश होता है संयोग के नाश से वस्तु का नाश होता है जो कि असमवायि कारण है। और निमित्त असमवायि कारणों के नाश से, निमित्त समवायि कारण के नाश से निमित्त का नाश होता है। अपेक्षा ज्ञान के नाश से, तब तक दूर की उत्पत्ति होती है जब तक दूर ही का सामान्य ज्ञान होता है उस से अपेक्षा ज्ञान के नाश से अपरत्व वस्तु के ज्ञान के अवसर पर अपरत्व का नाश होता है। जिस प्रकार प्रथम संख्या का विचार करते हुये अपरत्व के सम्बन्ध में बताया गया है, ऐसा ही इस अवसर पर भी विचार लेना चाहिये। असमवायि कारण के नाश से भी वह जैसे कि अपेक्षा बुद्धि है ऐसे ही दूसरे के आश्रय रहने वाले शरीर में कर्म है उससे जिस समय में दूरी की उत्पत्ति होती है उसी समय दिशा और शरीर में विभाग होता है। उससे जब ही परत्व का सामान्य ज्ञान होता है तब ही स्थान और शरीर के संयोग का नाश होता है। उस सामान्य ज्ञान से अपेक्षा बुद्धि का नाश हो जाता है वही स्थान और शरीर संयोग के नाश होने से परत्व अपरत्व का नाश होता है, क्योंकि अपेक्षा बुद्धि और परत्व का एक ही समय में नाश होता है। इस वास्ते अपेक्षा बुद्धि परत्व की नाश करने वाली नहीं।

प्रश्न—नहीं, समवायि कारण के नाश से भी, गुण का नाश होकर आत्मा और मन के संयोग के नाश से भी संस्कार और अवशिष्ट फल के नाश से आत्मा बहुत व्याकुल होती है।

उत्तर—ऐसा नहीं, क्योंकि दूरी दो प्रकृष्ट होने से घिर रही है इस दूरी का जो आधार है, उसके दूसरे स्थान जाने में प्रयत्न में

विशेषता का अभाव है। अपरत्व का पृथक् होंना आवश्यक है तब दूसरा नाश करनेवाला उस विरुद्ध युक्ति से संयोग का नाश ही नाश करने वाला अनुमान कर लेना चाहिये। संस्कार और अवशिष्ट आदि कार्यों का स्मृति के मुख से बहुत देर पश्चात् भी प्रतीत होने से उसके नाश होने को मानना ही ठीक नहीं। जो कुछ ऊपर दिखलाया गया है वह केवल नमूना ही है वरन् इस अवसर पर और भी विशेष विचार हो सकता है।

प्रश्न— काल के सम्बन्ध से जो परत्व होता है उसमें क्या विशेषता है।

उत्तर कारणपरत्वात् कारणापरत्वाच्च ॥२२॥

अर्थ – परत्व और अपरत्व के समय का कारण जो समय है उसके परत्व और अपरत्व का समवायि कारण जमाने का संयोग अर्थात् परत्व का समवायि कारण काल का संयोग और अपरत्व का समवायि कारण जो कि संयोग में कहा गया है परत्व और अपरत्व उत्पन्न नहीं होता इस वास्ते परत्व और अपरत्व का कारण काल में है इस गुण को विचारना चाहिये ?

प्रश्न - परत्व में अपरत्व में परत्व और अपरत्व क्यों नहीं ?

उत्तर—परत्वापरत्वयोः परत्वापरत्वाभावोऽणुत्वमहत्वाभ्यां व्याख्यातः ॥२३॥

अर्थ परत्व और अपरत्व में दूसरा पहला आदि नहीं रहता। जिस प्रकार अणुत्व और महत्वादि का न होना प्रथम प्रमाणित कर चुके हैं ऐसा ही परत्व और अपरत्व में विचार लेना चाहिये। जिस प्रकार वहाँ पर युक्ति में दो सूत्र दिये थे वही अब बतलाते हैं।

कर्मभिः कर्माणि ॥२४॥

अर्थ--कर्म में कर्म नहीं होता इसका वर्णन भी प्रथम हो चुका है इसलिये दुबारा ज्यादा नहीं लिखा जाता।

गुणैर्गुणाः ॥२५॥

अर्थ---गुणों में गुण नहीं। इसका वर्णन भी पहले कर चुके हैं।

प्रश्न--परत्व और अपरत्व तो सम्पूर्ण वस्तु में समवेत है अर्थात् उसका समवायि कारण सम्पूर्ण वस्तु है वे ज्ञानादि का समवायि कारण आत्मा है, अब बतलाइये कि वह समवाय क्या वस्तु है।

उत्तर—इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समवायः ॥२६॥

अर्थ—यहाँ पर कार्य कारण केवल नमूने के लिये वर्णन किया गया है। आकार्य और कारण में भी समवाय होता है जब दो वस्तु अन्योऽन्याश्रय की रीति पर आधार और आधेय पाये जावें, और उनमें से एक विना दूसरे के न हो सके तो उनका जो सम्बन्ध इस स्थान पर है। इस ज्ञान को प्रकाशित करता है, वही समवाय सम्बन्ध है। जो विना सम्बन्ध दो वस्तुओं में न रहे और सम्बन्ध वालों में रहे। उसे युत सिद्ध कहते हैं। जैसे कहते हैं इस स्थान में कुण्डीं में दही बेर आदि है, इन तारों में कपड़ा है, ऐसे द्रव्य में द्रव्य गुण और कर्म जिस प्रकार गौ में गौपना है इसी प्रकार आत्मा में ज्ञान है, और आकाश में शब्द है। इस प्रकार के ज्ञान की उत्पत्ति विना सम्बन्ध के नहीं हो सकती। इससे अनुमान किया जाता है कि कोई सम्बन्ध है यही संयोग सम्बन्ध तो है नहीं, क्योंकि उसकी उत्पत्ति के कारण कर्मादि का यहाँ पर नास्तित्व है दूसरे विभाग का भी अवसर नहीं है, क्योंकि सम्बन्ध वाली वस्तु को अन्योन्याश्रय होने से और नियमित प्रमाण के न होने से अप्रत्यक्ष और नित्य होने से।

प्रश्न---यदि समवाय एक ही है तो द्रव्यादि में रहने वाले द्रव्यत्व से गड़बड़ होगा, क्योंकि कर्म में रहने वाले कर्मत्व के समवाय का भी द्रव्य होना सम्भव होने से ?

उत्तर---ऐसा मत कहो, क्योंकि आधार और आधेय के नियम होने से गड़बड़ नहीं। यद्यपि द्रव्य के द्रव्यत्व का समवाय है वही गुण और कर्म क गुण और कर्म पाने का समवाय है किन्तु उनका आधार द्रव्य नहीं क्योंकि कर्म और गुण का कर्मत्व गुणत्व द्रव्य में पाया जाता है। द्रव्य में रहने वाला द्रव्यत्व द्रव्य में ही प्रतीत होता है। और गुण में रहने वाला गुणत्व गुण में प्रतीत होता है। और कर्म में रहने वाला कर्मत्व कर्म में पाया जाता है। उनके अतिरिक्त और कहीं नहीं पाया जाता। इस वास्ते अन्वय और व्यतिरेक से यह नियम स्पष्ट हैं जैसे दही और कुण्डी के विशेष संयोग होने पर भी कुण्डी ही आधार है, दही नहीं। यह आधार आधेय का नियम है। ऐसे ही वर्णन किया हुआ और वर्णन करने वाली शक्ति के भेद से यहां भी स्थायी नियम है। जिस प्रकार द्रव्य का द्रव्यत्व द्रव्य को प्रकाशित करता है उस प्रकार कर्मत्व द्रव्यको प्रकाशित नहीं करता, आधार के आधारत्व के विरुद्ध सही ज्ञान नहीं हो सकता और द्रव्य कर्म नहीं होता और कपड़े में तारें नहीं होती। इससे वायु के रूप का आधार होने पर भी हवा का रूप नहीं दिखाई देता, क्योंकि रूप वायु का स्वभाव नहीं है। इसलिये स्वभाव शक्ति ही प्रत्येक स्थान पर नियम स्थायी करने वाली है और नित्य है, क्योंकि उसका कोई कारण नहीं और उत्पन्न हुई वस्तु का समवायि कारण से उत्पन्न होने का नियम है अर्थात् कोई उत्पन्न हुई वस्तु विन समवायि कारण के उत्पन्न नहीं हुई और उसके कारण से निमित्त और असमवायि कारण भी होते हैं। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि समवाय को नित्य माना जाये तो उसका

समवायि कारण कोई अन्य समवाय होगा अथवा यही समवाय ही अपना समवायि कारण होगा यदि दूसरा समवाय स्वीकार करें तो अनुस्मिता दोष होगा। यदि उस समवाय को समवाय का कारण कहें आत्माश्रय (अर्थात् अपनी पीठ पर आप चढ़ना) दोष होगा जो कि असम्भव है।

प्रश्न—तारों में कपड़ा समवाय है और कपड़े में रूप समवाय है यह वर्णन विना एक से ज्यादा माने कैसे होगा ?

उत्तर—वह स्वरूप सम्बन्ध से होता है दूसरा समबाय मानने मे अनवस्था दोष होता है।

प्रश्न—तो यह कपड़े का रूप है यह भी स्वरूप सम्बन्ध मे होगा या समवाय सम्बन्ध से ?

उत्तर—समवाय सम्बन्ध से। क्योंकि यहाँ कोई रुकावट नहीं है।

प्रश्न—भूतल पर घड़ा नहीं है। इस स्थान पर समवाय सम्बन्ध होगा वा स्वरूप सम्बन्ध ?

उत्तर—यहाँ समवाय सम्बन्ध नहीं किन्तु स्वरूप सम्बन्ध से ही सम्भव है वरन् घड़े का अभाव और घड़े का कपड़े में अभाव और कपड़े का घड़े में, जो अनेक में रहने बाला नित्य है बरावर हो जायेगा, और कुछ भेद भी न रहेगा। और प्राग्भाव के समवाय से पैदा न होने से उसका नाश न हो सकेगा। ऐसे अवसर पर सत्ता के विवादास्पद न होने से प्रमाणित न हो सकेगा। भट्टाचार्य विशिष्ट नामी एक पृथक् सम्बन्ध मानते हैं किन्तु यदि सम्पूर्ण नास्तित्व है, केवल एक विशिष्ट सम्बन्ध ही सम्बन्ध हैं तो घड़े की उपस्थिति से घड़े का अस्तित्व ज्ञान सम्भव हो जायेगा क्योंकि घड़े के अभाव के विशिष्ट से ही घड़े के अभाव के विशिष्ट न हो होने से वहाँ घड़ा ही घड़े के अभाव को रोकने बाला है यदि ऐसा हो तो विशिष्ट के सम्बन्ध से ही

रोकने वाले के अभाव का भी न होना मानते। न तो आश्रय और आश्रित वस्तु ही इस प्रकार की है और न ही घड़े के अभाव का वर्णन हो सकता है। घड़े के उठा ले जाने के पश्चात् उसी स्थान पर घड़े का अभाव मालूम होने से वहाँ भी रूप के नाश के पश्चात् क्यों न रूपवान् का ज्ञान समवाय के नित्य और एक होने से होता, यदि ऐसा कहो तो रूप के नाश से ही उसका वर्णन नहीं होता। अगले सूत्र में द्रव्यादि पाँच पदार्थों से पृथक् समवाय को प्रमाणित करते हैं।

द्रव्यत्वगुणत्वप्रतिषेधो भावेन व्याख्यातः ॥२७॥

अर्थ जिस प्रकार द्रव्य गुणादि पदार्थों से सत्ता एक पृथक् वस्तु है वह केवल ज्ञान द्वारा ही मालूम होती है ऐसे द्रव्य में गुण कर्मादि से पृथक् असमवाय है। वह न द्रव्य में रहता है न गुण में न कर्म में किन्तु अस्तित्व से पृथक् है। अब उसका एक होना प्रमाणित करते हैं।

उत्तर—तत्त्वम्भावेन ॥२८॥

अर्थ—जिस प्रकार सत्ता संसार के सम्पूर्ण पदार्थों में रहने पर भी एक है। इसी प्रकार समवाय भी एक है। जिस प्रकार सत्ता से इस तरह का ज्ञान होता है इसी प्रकार एकही समवाय प्रत्येक स्थान पर एक समय रह कर बहुत है। इस प्रकार के ज्ञान की उत्पत्ति का कारण ही अपने निशान में विशेषता होने से द्रव्यादि से पृथक् है और किसी प्रकार के भेद ज्ञान करने वाली विशेषता के न होने से वह एक ही है। तात्पर्य यह है कि समवाय का कोई ऐसा निशान नहीं है जिससे समवाय का एक से ज्यादा होना प्रमाणित हो सके इस वास्ते देश और काल के भेद से मिलने के कारण वह अतीत्य है अनित्य होने के योग्य न होने से।

प्रश्न---यदि समवाय सम्बन्ध ही है तो तार और कपड़े और रूप से पृथक् हो सकता है ?

उत्तर---आधार आधेय होने में उनका पृथक्त्व नहीं हो सकता क्योंकि रूप, गुण और रूपवाले द्रव्य अथवा सम्पूर्ण और विभाग में जहाँ सम्बन्ध नहीं, समवाय उपस्थित नहीं जिसमे पृथक्त्व हो।

प्रश्न---आधार व आधेय ही भिन्न हों ?

उत्तर– ऐसा होना असम्भव है, क्योंकि यह अनुभव के बिल्कुल विरुद्ध होने से।

प्रश्न---प्रभाकर आचार्य समवाय को एक से ज्यादा और अनित्य मानते हैं ?

उत्तर—यह ठीक नहीं, क्योंकि रूपनाश हुआ यह ज्ञान होता है। किन्तु रूप का समवाय नाश हुआ है यह ज्ञान नहीं होता।

प्रश्न—बहुत से मनुष्य समवाय को प्रत्यक्ष मानते हैं ?

उत्तर--यह भी ठीक नहीं क्योंकि समवाय इन्द्रियों से अनुभव नहीं होता, किन्तु इन्द्रियों की शक्ति से कालादि की तरह बाहर है।

सातवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

वैशेषिक दर्शन भाषानुवाद

अध्याय ८. आह्निक १

↔

अब इस आठवें अध्याय में बुद्धि अर्थात् ज्ञान की जांच करते हैं क्योंकि आत्मा के साधन के समय बुद्धि का वर्णन हुआ है, अब उसकी जाँच करते हैं।

द्रव्येषु ज्ञानं व्याख्यातम् ॥१॥

अर्थ---द्रव्यों में ज्ञान बतलाया गया है अर्थात् जो विषयों को ग्रहण करने वाली बुद्धि है उसका वर्णन तृतीय अध्याय में आ चुका है और ज्ञात रहे कि बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान ये पर्यायवाचक शब्द हैं।

प्रश्न---महात्मा मनु ने लिखा है कि बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है। जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि बुद्धि ज्ञान का नाम नहीं क्योंकि ज्ञान गुण है और साँख्य दर्शन में भी बुद्धि को प्रकृति का प्रथम कार्य अर्थात् द्रव्य माना है ?

उत्तर---महात्मा मनु ने ज्ञान शब्द का अर्थ वेद लिया है, जिसका तात्पर्य यह है कि जीव की बुद्धि अर्थात् ज्ञान परमात्मा के ज्ञान अर्थात् वेद से शुद्ध होता है। जीवात्मा ी बुद्धि और ज्ञान एक ही है। सांख्य दर्शन में बुद्धि गुण है महत् नाम मन का था। जिसका अशुद्ध अर्थ बुद्धि करके भेद कर दिया देखो--साँख्य दर्शन अ० १। सू० ७१।

प्रश्न--कोई बुद्धि को नित्य मानते हैं, कोई अनित्य, उसका क्या कारण है ?

उत्तर---बुद्धि अर्थात् ज्ञान दो प्रकार का है । १--स्वाभाविक २--नैमित्तिक । स्वाभाविक तो जीवात्मा का धर्म और नित्य है और नैमित्तिक अन्तःकरण अर्थात् मन की वृत्ति और अनित्य है । जिस शास्त्र में बुद्धि को अनित्य बतलाया वहाँ समझ लेना चाहिये कि शास्त्रकार नैमित्तिक ज्ञान का वर्णन कर रहे हैं । और जहाँ नित्य बतलाया हो वहाँ स्वाभाविक का वर्णन, ऐसा विचार कर लेना चाहिये । अब इसके आगे बुद्धि के भेद कहते हैं ।

तत्रात्मा मनश्चाप्रत्यक्षम् ॥२॥

अर्थ---बुद्धि तीन प्रकार की है । १---सद्विद्या २---विद्या ३---अविद्या ।

प्रश्न---सद् विद्या किसे कहते हैं ?

उत्तर---जो ज्ञान तीन काल में एक-सा रहनेवाला है अथवा तीन काल में रहने वाले पदार्थों का जो ज्ञान है वह सद्विद्या है । तात्पर्य यह है कि जिससे परमात्मा, जीवात्मा और परमाणुओं से सत्ता का ठीक ज्ञान होता है वह ज्ञान बदलने वाला न होने से सत् विद्या कहलाती है ।

प्रश्न--विद्या किसे कहते हैं ?

उत्तर---जिससे जैसा पदार्थ हो, वैसा ज्ञान हो जावे उसे विद्या कहते हैं । विद्या चार प्रकार की है । पहली प्रत्यक्ष, अर्थात् इन्द्रियार्थ के सम्बन्ध से जो ज्ञान उत्पन्न होता है । दूसरी लिंग ज्ञान जो अनुमान द्वारा होता है । तीसरी स्मृति--जो पहले देखने सुनने के स्मरण होने से ज्ञान उत्पन्न होता है । चौथी आर्ष जो आप्त उपदेश से ज्ञान प्राप्त होता है ।

प्रश्न--अविद्या किसे कहते हैं ?

उत्तर—जब वस्तु के वस्तुत्व को न समझकर भ्रम से और को और समझता है तब उसे अविद्या कहते हैं ? वह भी चार प्रकार की है। १–संशयज्ञान, २–विरुद्धज्ञान, ३–स्वप्नज्ञान, ४–जिसका आत्मा में विश्वास हो न हो। उनमें जो पदार्थ इन्द्रियों से अनुभव नहीं होते उनका ज्ञान अनुमान से होता है। इस सूत्र में आत्म शब्द से जीवात्मा और परमात्मा दोनों का तात्पर्य है। 'मन' और शब्द 'च' से काल, दिशा, आकाशादि उनका ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं होता, किन्तु अनुमानादि से होता है यह सूत्रकार तात्पर्य है। और प्रत्यक्ष ज्ञान भी दो प्रकार का है। १—योगियों का २—दूसरे अन्यों का। योगियों का ज्ञान पदार्थों की ठीक ठीक योग्यता का बतलाने वाला होता है और अन्यों के प्रत्यक्ष में भी अशुद्धि होना सम्भव है।

प्रश्न---औरों का प्रत्यक्ष अशुद्ध होना किस प्रकार सम्भव है ?

उत्तर---औरों के प्रत्यक्ष के वास्ते इन्द्रियों के अतिरिक्त सहायकों की आवश्यकता है। यदि सहायकों में कमी है या वह ठीक नहीं तो ज्ञान में अशुद्धि हो जाती है। जैसे थोड़ी रोशनी और अंधेरे में रस्सी को सांप जानते हैं। तो आंख के सहायक रोशनी की कमी के कारण से यह भ्रम हुआ है, किन्तु योगियों को सहायक की आवश्यता नहीं होती। इस वास्ते उनका ज्ञान ठीक पूरा कहाता है।

प्रश्न--पुरुष सर्वज्ञ हो सकता है या नहीं ?

उत्तर---पुरुष से तात्पर्य जीवात्मा परमात्मा दोनों हैं। परमात्मा सर्वज्ञ है। जीवात्मा किसी अवस्था में एक देशी होने के कारण सर्वज्ञ नहीं हो सकता। योगी तत्वज्ञ होता है और सांसारिक जनों में विरुद्ध ज्ञान भी हो सकता है और इतरजनों का प्रत्यक्ष भी दो प्रकार का है एक संशययुक्त दूसरा संशय-

रहित जो संशययुक्त है वह तो प्रमाण ही नहीं जैसे रस्सी में सर्प आदि।

ज्ञाननिर्देशे ज्ञाननिष्पत्तिविधिरुक्तः ॥३॥

अर्थ---ज्ञान जिस कारण से जिस प्रकार उत्पन्न होता है उसी प्रकार का ज्ञान कहलाता है। अर्थात् जिस विषय का ज्ञान और जिस प्रकार का ज्ञान हो और जिस धर्म वाला ज्ञान हो उसके वर्णन करने में उसकी उत्पत्ति के कारण को साथ लेकर वर्णन होता है जैसे चक्षु द्वारा जो प्रत्यक्ष होता है उसका नाम चाक्षुष प्रत्यक्ष है इसी प्रकार और भेदों में भी विचार लेना चाहिये।

प्रश्न---उत्पत्ति की विधि किस प्रकार की हैं ?

उत्तर---गुणकर्मसु सन्निकृष्टेषु ज्ञाननिष्पत्तेर्द्रव्यं कारणम् ॥४॥

अर्थ रूपादि गुण, और उत्क्षेपणादि कर्मों में जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसमें द्रव्य कारण है। गुण और कर्म द्रव्य में उत्पन्न ही अनुभव होते हैं। विना द्रव्य के अकेले गुण कर्म का ज्ञान कहीं नहीं होता। द्रव्य का अनुभव योग्य होना भी कारण है। यदि द्रव्य अनुभव योग्य न हो तो उसके गुण और कर्म अनुभव नहीं कर सकते। उनका द्रव्य में ही इन्द्रियों से सम्बन्ध होता है। यद्यपि कर्पूर और चन्दनादि के छोटे छोटे परमाणुओं से भी सुगन्ध अनुभव करते हैं, किन्तु तो भी उसमें इतना द्रव्य अवश्य है कि उसको अनुभव कर सकें यद्यपि शब्द के मालूम करने में द्रव्य अनुभव योग्य नहीं है तो भी द्रव्य में रहता हुआ ही शब्द मालूम होता है। आकाश से पृथक् शब्द का ज्ञान नहीं हो सकता।

प्रश्न---जो सम्बन्ध प्रत्यक्ष नही, उसको कल्पना क्यों करते है ?

उत्तर-- ज्ञान की उत्पत्ति में कार्य से ही कारण का मानना आवश्यक है, क्योंकि विना कारण के कार्य होता ही नहीं, ज्ञान के उत्पन्न होने की और विधि बतलाते हैं।

सामान्य विशेषेषु सामान्य विशेषाभावात्तत एव ज्ञानम् ॥५॥

अर्थ---सामान्य और विशेष्य द्रव्य गुण और द्रव्य कर्म में स्थित अस्तित्व जो उनकी सत्ता को (स्थापित) करता है, चुनता है। फिर उन द्रव्य गुण कर्म में भूमि, जल आदि में रहने वाला अस्तित्व जो सामान्य द्रव्यों से चुनता है। इस अवसर पर द्रव्य में स्थित समान्यता और आधार की विशेषता से और उसके सम्बन्ध से समवाय सम्बन्ध से सम्पूर्ण इन्द्रियों के गुण के ज्ञान होने से संकेत समवाय सम्बन्ध से ज्ञान की उत्पत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि सामान्य और विशेष में सामान्य विशेष के न होने से ज्ञान की उत्पत्ति होती है। जो द्रव्य अपने द्रव्यत्व से सामान्य है वही सत्ता की अपेक्षा विशेष है। इस वास्ते सत्ता के अतिरिक्त और कोई वस्तु सामान्य नहीं। सामान्य और विशेष अपेक्षा से होता है यह अपेक्षा ज्ञान से सम्बन्ध रखती है। इस वास्ते बतलाया कि ज्ञान इस प्रकार भी उत्पन्न होता है।

प्रश्न---क्या जिस प्रकार सामान्य और विशेष में सामान्य और विशेष के न होने से विना दूसरे की आवश्यकता से ज्ञान होता है, ऐसे ही द्रव्य गुण कर्म में भी विना आवश्यकता के ज्ञान होता है ?

सामान्यविशेषापेक्षं द्रव्यगुणकर्मसु ॥६॥

अर्थ--द्रव्य गुण कर्म में जो द्रव्य, गुण, कर्म का अस्तित्व से चुनी हुई बुद्धि अर्थात् विशिष्ट ज्ञान के साथ इन्द्रिय और वस्तु के सम्बन्ध

उत्पन्न होता है। उसमें सामान्यता और विशेषता की आवश्यकता अवश्य होती है। वह विना आवश्यकता उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि यह द्रव्य है यह गुण है, यह कर्म हैं यह विशिष्ट ज्ञान अपनी उत्पत्ति के वास्ते जरूरत रखता है। विना जरूरत उत्पन्न नहीं होता यह तात्पर्य है।

प्रश्न--क्या द्रव्य में भी सामान्य और विशिष्ट की आवश्यकता ही से ज्ञान होता है।

उत्तर—द्रव्ये द्रव्यगुणकर्मापेक्षम् ॥७॥

अर्थ---द्रव्य में द्रव्य गुण और कर्म की अपेक्षा से ज्ञान उत्पन्न होता है। जैसे किसी ने कहा कि घन्टे वाली सफेद गाय जाती है, इसमें गाय द्रव्य है, घण्टा उसमें विशेषता उत्पन्न करनेवाला है और सफेद गुण है और जाना कर्म है इस वास्ते विशेष को जाने विना विशिष्ट का ज्ञान नहीं हो सकता और न सम्वन्ध के विना विशेष्य हो सकता है। तात्पर्य यह है कि द्रव्य ज्ञान में द्रव्य गुण और कर्म की जरूरत रहती है विना उनके द्रव्य का ज्ञान नहीं होता।

प्रश्न---क्या गुण कर्म के ज्ञान में भी गुण कर्म की आवश्यकता है या नहीं ?

उत्तर—गुणकर्मसु गुणकर्माभावात् गुणकर्मापेक्षं न विद्यते ॥८॥

अर्थ---गुण, कर्म में गुण कर्म के न होने से उनके ज्ञान में गुण कर्म की आवश्यकता नहीं, क्योंकि गुण में विशेश गुण के न होने से और कर्म में किसी विशिष्ट कर्म का ज्ञान नहीं होता। इसी से स्पष्ट प्रतीत है कि गुण कर्म के ज्ञान में किसी गुण कर्म की जरूरत नहीं।

प्रश्न---गुण कर्म के अनुभव होने से गुण ज्ञान और कर्म होकर उन गुण कर्म की आवश्यकता नहीं ?

उत्तर—समवायिनः श्वैत्याच्छ्वैत्यबुद्धेश्च श्वेते बुद्धिः, ते एते कार्यकारणभूते ॥९॥

अर्थ—समवाय सम्बन्ध के न होने से गुण कर्म के ज्ञान में गुण कर्म की आवश्यकता नहीं। जिस प्रकार द्रव्य में द्रव्य गुण कर्म समवाय सम्बन्ध से रहते हैं ऐसे ही गुण कर्म में गुण कर्म समवाय सम्बन्ध से नहीं होता। इस वास्ते उनके ज्ञान में गुण कर्म की जरूरत नहीं। जैसे "शंख" सफेद है इस अवसर पर शंख जो द्रव्य है, उसमें यह विशेष्य समवाय सम्बन्ध स रहते हैं। इस वास्ते शंख के ज्ञान में उसकी आवश्यकता है, किन्तु गुण कर्म में कोई विशेषता नहीं रहती, क्योंकि विशेष्य के साथ विशिष्ट वस्तु का ज्ञान ही विधि ज्ञान का कारण है। इस वास्ते स्पष्ट प्रतीत है कि गुण कर्म में गुण कर्म के समवाय सम्बन्ध क न रहने से उसकी आवश्यकता नहीं।

प्रश्न---गौ घण्टे वाली है। इस स्थान में द्रव्य के ज्ञान में द्रव्य की आवश्यकता है। इसी प्रकार खम्भा है और यह घड़ा है। इस अवसर पर द्रव्य की विशेषता जानने में द्रव्य का जानना कारण है। जिस स्थान पर प्रथम द्रव्य का ज्ञान न हो तो वहां किस प्रकार द्रव्य का ज्ञान होगा?

उत्तर—द्रव्येष्वनितरेतर कारणाः ॥१०॥

अर्थ--द्रव्यों के ज्ञान में एक दूसरे द्रव्यों को कारण नहीं कह सकते यद्यपि खम्भे के ज्ञान के बाद भी घड़े का ज्ञान हो तो भी खम्भे का ज्ञान घड़े के ज्ञान का कारण नहीं।

प्रश्न--घड़े और कपड़े आदि का प्रसंग प्रतीत होता है और प्रसंग कारण कार्य में हो सकता है।

उत्तर—कारणायौगपद्यात्कारणक्रमाच्च घटपटादि-बुद्धीनाम् क्रमो, न हेतुफलभावात् ॥११॥

अर्थ—घड़े, कपड़े आदि के ज्ञान के प्रसंग को जो कार्य और कारण के अधिकार में दिया है यह युक्ति ठीक नही। तात्पर्य यह कि ज्ञान के प्रसंग के कारण कार्य का प्रसंग के कारण से नहीं, किन्तु मन का गुण है कि वह एक समय में दो ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। इस वास्ते न तो ज्ञान के कारण एक साथ उत्पन्न हो सक्ते हैं और न एक साथ दो ज्ञान उत्पन्न हो सकते हैं। मन के विना ज्ञान होना असम्भव है और मन एक समय में एक ही ज्ञान प्राप्त करता है। इसलिये ज्ञान का प्रसंगानुरूप होना उनके कारण कार्य का प्रसंग प्रमाणित नहीं कर सकता। इसके लिये प्रसंग की युक्ति हेतु नहीं, किन्तु हेत्वाभास है।

आठवें अध्याय का पहला आह्निक समाप्त

वैशेषिक दर्शन भाषानुवाद

अध्याय ८, आह्निक २

↔

पिछले आह्निक में स्वकल्प अर्थात् शवय और सन्देह से मिले हुए प्रत्यक्ष की जांच करके अब विशिष्ट और विशेष्य प्रत्यक्ष की जाँच करते हैं।

अयमेष त्वया कृतं भोजयैनमिति बुध्यपेक्षम् ॥१॥

अर्थ जिस वस्तु के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होता है उस में यह ही ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है। और जिस वस्तु के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध नहीं उसकी अपेक्षा, वह ही, ऐसा ज्ञान पैदा होता है। यह करने में स्वतन्त्र है। यह ज्ञान में रखकर तूने किया है। इस प्रकार का ज्ञान होता है। कठिन काम के ज्ञान के काम की अपेक्षा से हो गया। किया है कर्म यह ज्ञान उत्पन्न होता है। खाने के कर्म को ख्याल में रखकर उसके कर्ता को कहते हैं कि खाता है। इस प्रकार के सब सम्बन्ध ज्ञान की अपेक्षा से होते हैं जिस प्रकार का ज्ञान होता है वैसे ही सम्बन्ध का शब्द से वर्णन किया जाता है। ऐसा प्रत्येक स्थान में विचार लेना।

दृष्टेषु भावाददृष्टेष्वभावात् ॥२॥

अर्थ—जब बुद्धि के समीप विषय होता है तो 'यह' जब लुप्त विषय होता है तो 'वह' बुद्धि में स्थिर स्वीकार किया जाता है। तू है, इस ज्ञान में उपस्थित करने वाला क्या है इस ज्ञान में कर्म कहलाता

है। इस ज्ञान में जिसमें लगाता है और लगाने वाला विषय नहीं। यह दोनों, इस ज्ञान में वह दोनों का विषय है। जब उपस्थित होता है तब ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है। और लुप्त विषयों में इस प्रकार के ज्ञान उत्पन्न नही होते। यह केवल अन्वय और व्यतिरेक से मालूम होता हैं। अब दूसरे प्रकरण अर्थात् विषयों को आरम्भ करते हैं।

अर्थ इति द्रव्यगुणकर्मसु ॥३॥

अर्थ---जिस अवसर पर अर्थ किया जाय तो वहां वैशेषिक शास्त्र के अनुसार द्रव्य, गुण और कर्म ही को समझना चाहिये, क्योंकि यह वैशेषिक शास्त्र का प्रचलित शब्द है। अर्थ शब्द से तीनों का वर्णन होने से परिशिष्ट पादाचार्य ने भी लिखा है—अर्थ शब्द से तीनों का वर्णन होता है।

दूसरा विषय---

द्रव्येषु पञ्चात्मकत्वं प्रतिषिद्धम् ॥४॥

अर्थ—द्रव्य में जो शरीर इन्द्रिय आदि कार्य द्रव्य हैं वह पांच भूतों से बनीं हुई हैं उसकी (तरदीद) विरुद्धता करते हैं। जैसे एक शरीर के बहुत से उपादान कारण नहीं इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जो इन्द्रिय जिस भूत की बनी हुई है उसी के नियमित विषय को ग्रहण करती है दूसरे भूत की इन्द्रिय दूसरे भूत के विषय। एक-एक भूत के नियमित विषय हैं। इस वास्ते उनकी ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ भी एक भूत से उत्पन्न हुई स्वीकार करनी चाहिए। जिस मतलब से यह सूत्र कहा गया है, आगे उस मतलब को बताते हैं।

भूयस्त्वात् गंधवत्त्वाच्च पृथिवी गंधज्ञाने प्रकृतिः ॥५॥

अर्थ—गन्ध जिस इन्द्रिय से जानी जाती है उसकी प्रकृति अर्थात् उपादान कारण पृथ्वी है। क्यों उपादान कारण जमीन है ? इस प्रश्न

के उत्तर में कहते हैं, गन्धवती होने से क्योंकि बिना गन्ध के गन्धवती नही हो सकती। गन्धवती होने से घ्राणेन्द्रिय द्वारा स्पष्ट अनुभव होता है। इस नियम से स्पष्ट प्रमाणित है कि पृथ्वी गन्धवती है।

प्रश्न---शरीर के अन्य अवयव गन्ध को ग्रहण नहीं करते केवल नासिका ही ग्रहण करती है इसका क्या कारण है।

उत्तर---यद्यपि और जगह शरीर के अवयवों में अन्य इन्द्रियों को दबाने की शक्ति नहीं, किन्तु नासिका में पृथ्वी के परमाणुओं द्वारा यह शक्ति है अर्थात् अन्य इन्द्रियों के दबाने योग्य गौणिक अवयवों से बने होने के कारण नासिका में गन्ध ग्रहण करने की शक्ति है।

तथापस्तेजो वायुश्च रसरूपस्पर्शाविशेषात् ॥६॥

अर्थ---इसी प्रकार रसना इन्द्रिय की प्रकृति अर्थात् उपादान कारण जल, और चक्षु का उपादान कारण तेज अर्थात् अग्नि, और स्पर्श त्वचा का उपादान कारण वायु हुआ, क्योंकि उसी भूत के विषय को नियमित तौर पर अनुभव करने वाली हैं।

प्रश्न---यह किस प्रकार नियम हो सकता है कि सम्पूर्ण शरीर में अग्नि उपस्थित हो, परन्तु रूप का देखना केवल चक्षु द्वारा ही सम्भव हो अन्य अवयवों से न हो ?

उत्तर---यहां भी वही दवाने योग्य अवयवों से उत्पन्न होने की अपेक्षा ही से नियम है। जैसा कि पिछले सूत्र में नासिका सम्बन्धी बतलाया गया है। इसी प्रकार आकाश की इन्द्रिय कान को भी समझ लेना चाहिये।

आठवें अध्याय का दूसरा आह्निक समाप्त ॥

वैशेषिक दर्शन भाषानुवाद

अध्याय ६, आह्निक १

क्रियागुणव्यपदेशाऽभावात् प्रागसत् ॥१॥

अर्थ---कार्य अपनी उत्पत्ति से प्रथम नहीं होता, क्योंकि उस समय में अपने उत्पन्न करने वाले के अभाव का होना उसमें युक्ति है कि क्रिया और गुण के न होने से यदि उस समय भी कार्य होता अर्थात् घड़ा, कपड़ा आदि कार्य अपनी उत्पत्ति से प्रथम उपस्थित होते तो जिस प्रकार उत्पन्न होने के पश्चात् घड़ा पड़ा हुआ, घड़ा चलता है, यह घड़ा खूबसूरत है। इस प्रकार का व्यापार होता है। उत्पन्न होने से पहले होता किन्तु उत्पत्ति से प्रथम ऐसा दृष्टिगत नहीं होता, जिससे स्पष्ट प्रतीत है कि घड़ा उस समय मौजूद नहीं। कुम्भकार को चाक पर घड़ा बनाते हुए देखकर और जुलाहे को तारों से ताना बाना बनाते हुए देखकर इस जगह घड़ा बनेगा यह सब मनुष्य प्रत्यक्ष से अनुभव करके कहते हैं और वह हमारी आँखों के सामने पैदा होते नजर आता है।

प्रश्न---उत्पत्ति से प्रथम भी घड़ा उपस्थित था, कारण की क्रियाओं से मालूम हो गया। जैसे किसी मकान के अन्दर कोई वस्तु हो और वह दृष्टिगत न होती हो उसको कोई मकान खोलकर निकाल लावे तो निकालने से प्रथम उसका अभाव नहीं होगा ?

उत्तर---यदि प्रथम ही मौजूद होता तो कपाल आदि के

प्रसंग से नहीं बनता। जिस प्रकार अन्दर से निकाल लाते हैं, उसी प्रकार पूरा निकल आता परन्तु सदैव इसके विरुद्ध दृष्टिगत होता है। प्रथम कार्य के अवयव बनते हैं फिर उनके संयोग से कार्य बनता है।

प्रश्न—यदि कारण में कार्य उत्पत्ति से प्रथम न होता तो उपादान कारण का नियम न होता, अर्थात् मिट्टी से घड़ा बन जाये, कपड़ा न बने, तारों से कपड़ा बने, घड़ा न बने यह नियम नहीं ?

उत्तर—उपादान कारण में बनने की शक्ति और कर्त्ता में बनाने की शक्ति होती है, किन्तु कार्य मौजूद नहीं। कार्य इन दोनों शक्तियों के ज्ञान के अनुसार संयोग से उत्पन्न होता है।

प्रश्न यदि उपादान कारण में बनने की शक्ति के स्थान में तिरोभाव माना जावे और कारण की क्रियाओं से उनका जाहिर होना माना जावे तो क्या हानि है ?

उत्तर—इस प्रकार कार्य कारण में सांसारिक व्यवधान के स्थान में स्थानिक व्यवधान स्वीकार करना पड़ा अर्थात् कार्य यहां और कारण किसी अन्य स्थान पर, जो कि सिद्धान्त के विरुद्ध है। इस वास्ते कार्य उत्पत्ति से प्रथम उपस्थित नहीं ऐसा ही मानना ठीक है। कार्य के नाश के पश्चात् भी उनके अभाव को प्रमाणित करके उसका उत्पत्ति से प्रथम अभाव साबित करते हैं।

सदसत् ॥२॥

अर्थ—जिस प्रकार कार्य अर्थात् उपादान कारण और कर्त्ता के बनने से प्रथम प्रत्यक्ष और अनुमान से कार्य का अभाव साबित होता है। ऐसे ही नाश के कारण के सम्बन्ध और क्रियाओं के पश्चात् भी उस घड़े आदि कार्यका अभाव सिद्ध होता है। उत्पत्ति के प्रथम के अभाव का

नाम प्रागभाव और नाश होने के पश्चात् के अभाव का नाम विध्वंसाभाव है।

प्रश्न—घड़ा ही विशेषावस्था में टूटने के व्यापार अर्थात् क्रिया को स्वीकार करता है न कि घड़े के अतिरिक्त उसका विध्वंस अर्थात् नाश होता है ?

असतः क्रियागुणव्यपदेशाभावादर्थान्तरम् ॥३॥

अर्थ—सत्ता से अभाव किस प्रकार हो जाता है। उसके उत्तर में लिखते हैं कि जिस प्रकार घड़े के नाश के पहले घड़ा पड़ा हुआ, चलता हुआ नजर आता, और उसके रूप और आकार का भी ज्ञान होता या नाश के पश्चात् ऐसा नहीं होता। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि घड़े का अभाव हो गया, क्योंकि जो वस्तु उपस्थित है उसके गुण का ज्ञान होता है और उस समय यह कहते हुए भी नहीं सुनते कि इस घड़े को ले चलो, यह घड़ा बडा खूबसूरत है। जिससे उसका अभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। प्रागभाव और विध्वंसाभाव को बतलाकर अब अन्योऽन्याभाव भी अर्थात् एक का अभाव दूसरी वस्तु में है, इसको साबित करते हैं।

सच्चासत् ॥४॥

अर्थ—जहां घोड़े की उपस्थिति में उसके अभाव का वर्णन किया जाता है, जैसे कहते हैं कि गौ ऊंट नहीं और ऊंट गो नहीं। इससे गौ और ऊंट का अभाव तो साबित नहीं होता इससे "नहीं" शब्द से जाहिर है कि उनमें तादात्म्याभाव अर्थात् उसमें उसका अभाव है और उसमें उसका अभाव है। यह अभाव दो प्रकार के अभाव से पृथक् तीसरे प्रकार का अभाव है। क्योंकि वस्तु की उपस्थिति में उसका अभाव है। वस्तु की उत्पत्ति से प्रथम नहीं और न उसके नाश के पश्चात् उसका नाम अन्योऽन्याभाव अर्थात् एक में दूसरे का अभाव है।

और यह अभाव हमेशा रहने वाला है क्योंकि घड़े का कपड़ा और कपड़े का घड़ा होना हर प्रकार असम्भव हैं वह सर्वदा पृथक्-पृथक् ही रहेगें। इस वास्ते जिस प्रकार पहली और दूसरी तरह का अभाव अनित्य है उसके विरुद्ध यह अभाव अनित्य है ?

यच्चान्यदसदतस्तदसत् ।।५।।

अर्थ--उन तीन प्रकार के अभावों के अतिरिक्त जो अभाव है वह अत्यन्ताभाव है, क्योंकि प्रागभाव के पश्चात् नाश हो जाता है। अर्थात् वस्तु को उत्पत्ति से उसका अभाव नहीं रहता। और विध्वसाभाव का नाश होने से प्रथम आभाव है। अर्थात् जब तक किसी वस्तु का नाश नहीं हुआ तब तक उसका विध्वसाभाव उपस्थित ही नहीं। और अन्योऽन्याभाव विपक्षी में रहता है और अपनी सत्ता में नहीं रहता। परन्तु अत्यन्ताभाव इन तीनों का विपक्षी अभाव है।

अब दूसरे बिषय को आरम्भ करते हैं।

असदिति भूतप्रत्यक्षाभावात् भूतस्मृतेर्विरोधिप्रत्यक्षवत् ।।६।।

अर्थ---नहीं है, यह कारण में प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। उसमें घड़ा नहीं है, घड़ा नाश हो गया, अब टूट गया इस प्रकार का प्रत्यक्ष का ज्ञान होता है। इससे विरुद्ध उदाहरण प्रत्यक्ष की तरह मालूम होता है। ऐसे ही उनके टूटने का भी प्रत्यक्ष से ज्ञान होता है। उसका कारण बतलाते हैं। गुजरे हुए के प्रत्यक्ष न होने से पृथ्वी पर उत्पन्न हुए और नाश हुए घड़े आदि में प्रत्यक्ष न होने से घड़े का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। उसमें यह तर्क उत्पन्न होता है कि यदि यहाँ घड़ा हो तो जिस प्रकार पृथ्वी दीखती है, उसी प्रकार घड़ा भी दीखता, यद्यपि दिखाई नहीं

देता इस वास्ते नहीं है। इसके अभाव का प्रमाण भूत का स्मरण होना भी घड़े आदि न रहने पर उसकी स्मृति अर्थात् याद आना उसके उपस्थित अभाव का प्रमाण है।

तथाऽभावे भावप्रत्यक्षत्वाच्च ।।७।।

अर्थ---यद्यपि यह अभाव का शब्द सामान्य हैं किन्तु विषय के कारण प्रागभाव है। जैसे होते समय प्रत्यक्ष ज्ञान होता है ऐसा ही प्रागभाव में ज्ञान होता है सत्ता के प्रत्यक्ष होने से मौजूदा तार आदि के संग्रह को प्रत्यक्ष देखने से अर्थात् इन्द्रियों द्वारा भास करने से, अथवा भाव का विरुद्ध जो अभाव है उसका प्रत्यक्ष होने से यद्यपि प्रागभाव अनादि है, किन्तु उसका अन्त है और विध्वंसाभाव जो वस्तु के नाश होने के पश्चात् होता है। यद्यपि उसका आदि है परन्तु अन्त नहीं। इस वास्ते यह दोनों अभाव की अवस्था विचार लेनी चाहिए वरन् आदि वाली वस्तु का ही अन्त होता है। दूसरी का नहीं।

अब 'अन्योऽन्याभाव' अर्थात् 'एक का अभाव दूसरे' में को प्रत्यक्ष बतलाते हैं।

एतेनाऽघटोऽगौरधर्मश्च व्याख्यातः ।।८।।

अर्थ—उपर्युक्त बातों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि गौ के जो गुण हैं वह प्रत्यक्ष से घड़े में नहीं पाये जाते और जो घड़े के गुण हैं वह गौ में नहीं पाये जाते। इससे घड़े का गौ न होना और गौ का घड़ा न होना प्रत्यक्ष प्रमाण से साबित है इस वास्ते अन्योऽन्याभाव अर्थात् एक का अभाव दूसरे में प्रत्यक्ष होता है। अन्योऽन्याभाव के मालूम करने में विपक्षी की योग्यता की आवश्यकता नहीं, परन्तु जिस

अधार में वह गुण रहते हैं उसकी योग्यता जरूरी है, गौ में घड़े के आकारादि का गुण मोजूद नहीं, इस वास्ते गौ घड़ा नहीं हो सकती ऐसे ही और वस्तुओं में विचार लेना चाहिए।

प्रश्न—दो विरुद्ध वस्तुओं के मालूम होने पर ही 'अन्योऽन्याभाव' अर्थात् एक का दूसरे में अभाव का ज्ञान हो सकता है ?

उत्तर--नहीं, अवयवी कारण अर्थात् आश्रय में रहने वाला जाना हुआ धर्म ही उसको पृथक् करने वाला है न कोई दूसरी वस्तु उसको पृथक् अर्थात् उसका उससे उसमें अभाव साबित करने वाली है। अब अत्यन्ताभाव की बाबत बयान करते हैं।

अभूतं नास्तीत्यनर्थान्तरम् ॥६॥

अर्थ--'गुजर गया' 'अब नहीं है' यह ज्ञान विध्वंसाभाव को जाहिर करता है। और 'गुजर गया' न कहकर केवल यह कहना. कि नहीं है। इस अभाव से अत्यन्ताभाव का ही प्रत्यक्ष होता है। तात्पर्य यह है कि जहाँ उत्पत्ति व नाश को न बतला कर केवल अभाव का वर्णन किया जाता है वह अत्यन्ताभाव ही होता है। और 'अनर्थान्तरम्' कहने से अन्योऽन्याभाव को भी पृथक् कर दिया है। तात्पर्य यह है, कि जो वस्तु न कभी हुई हो और न होने की आशा हो, उस वस्तु का उस अवसर पर अत्यन्ताभाव मानना चाहिये। भूतकाल और भविष्यत् कहने से तो प्रागभाव और विध्वंसाभाव से पृथक् किया और उस आश्रय में नहीं यह ज्ञान का कारण बतलाया। इस वास्ते यह तीन काल में रहने वाला अभाव अर्थात् अत्यन्ताभाव है, स्पष्ट प्रतीत होता है।

प्रश्न--घर में जो घड़े का अभाव है, वह अत्यन्ताभाव नहीं और इस अवसर पर दूसरे स्थान पर घड़ा होने से प्रागभाव भी नहीं है। और घड़े के नाश का प्रमाण न होने से विध्वंसाभाव

भी नहीं है। क्योंकि वह समवायि कारण में रहने वाले हैं। और जिसकी उत्पत्ति और नाश हो वह अत्यन्ताभाव नहीं, और क्योंकि उत्पत्ति और नाश वाले का अत्यन्ताभाव का हठ है। और नहीं चौथा अर्थात् अन्योऽन्याभाव है।

नास्ति घटो गेहे इति, सतो घटस्य गेहसंसर्गप्रतिषेधः ॥१०॥

अर्थ- घर में घड़े का जो संसर्ग अर्थात् संयोग है, उसका होना आदि क्या है ? यदि कभी भी घड़ा नहीं तो अत्यन्ताभाव है यदि कहा होगा तो प्रागभाव है, यदि कहा था वह नाश हो गया तो विध्वंसाभाव है तो भी घर से घड़े का संयोग नहीं है। कहने से होना चाहिये। तो यहाँ कहने से होना चाहिये इसके क्या अर्थ होंगे। यदि उसके सम्बन्ध में जो कहना है उससे होना चाहिये। इस उपादान कारण से बतलाओ तो ठीक है। तो उसकी शक्ल का घर में उपस्थित होना संयोग कहला सकता है तो इस शरीर का जो अभाव है तो धर्म सम्बन्ध का आकार होने से क्या वह घड़ा ही है उसका क्या अर्थ है! वहाँ समवाय सम्बन्ध से रहता है या संयोग सम्बन्ध से। समवाय सम्बन्ध से तो रहना ही नहीं क्योंकि घड़े के समवाय का वहाँ अभाव होने से और नहीं दूसरा है क्योंकि संयोग के इंकार करने से।

प्रश्न--इस प्रकार से तो घड़ा आदि समस्त वस्तु केवलान्वयी हो जायेंगे। किन्तु अन्वय और व्यतिरेक से जाने जाने का नियम शास्त्रों में पूरा मिलता है, क्योंकि सयोग और समवाय के बिना और सब सम्बन्ध के विरुद्ध होने से ?

उत्तर---उन दोनों सम्बन्धों का रद्द करना ही घड़े की सत्ता के विरुद्ध है। क्या केवल घड़े का संयोग ही एक तत्त्व है ? जिससे उनकी सत्ता के वर्णन से ही घड़े की सत्ता की तरदीद हो जावे।

अथवा क्या घड़े का संयोग और समवाय ही एक तत्त्व है जिससे उनकी सत्ता के कथन से घड़े की सत्ता साबित हो जावे। जहां इन दोनों की विरुद्धता होती है वहां घड़े का अन्वय नहीं जिससे घड़े की सत्ता केवलान्वयी कहला सके। इसलिये कहा है कि जो जिसकी विधि है उसकी विरुद्धता ही उसका रोकना है अथवा घड़े के समवाय सम्बन्ध से घर में बिल्कुल न होना वही घर में घड़ा नहीं है इस वर्णन का विषय है अथवा कपालों का संयोग है (इस बर्णन का विषय है) इस प्रकार होने से केवलान्वयी के अत्यन्ताभाव के विरुद्ध होने से घड़ा नहीं है और वह होगा कि ऐसा हो। यदि संयोगत्व और समवायत्व सबका एक स्थान पर अभाव हो इस प्रकार अभाव और सत्ता की अपेक्षा सांसारिक प्रत्यक्ष को बतलाकर योगी लोगों के प्रत्यक्ष को बतलाने के वास्ते यह दूसरा प्रकरण आरम्भ करते हैं।

आत्मन्यात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मप्रत्यक्षम् ॥ १ ॥

अर्थ---आत्मा में, आत्मा और मन के विशेष प्रकार के संयोग से प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। योगी दो प्रकार के होते हैं एक वह जिसका मन एकाग्र हो गया है, दूसरे जिसका अन्तःकरण अभी एकाग्र नहीं हुआ है। उनमें पहले जिस वस्तु का प्रत्यक्ष करना हो उसमें मन को स्थित करके निदिध्यासन करके उनकी आत्मा में परमात्मा का ज्ञान उत्पन्न होता है। आत्मा के प्रत्यक्ष का तात्पर्य यह है कि जिस समय ज्ञान आत्मा को साफ-साफ हो जावे। यद्यपि हम लोगों को भी आत्मा का कुछ-कुछ ज्ञान है, किन्तु वह अविद्या से ढका हुआ है। जिससे सत् ही असत् है। इस प्रकार का ज्ञान सन्देह जनक है। योगियों के आत्मा और मन से विशेष प्रकार का संयोग होने से उनसे आत्म-ज्ञान ठीक होता है।

प्रश्न---क्या योगियों को केवल आत्मा का ही ज्ञान होता है ? हम तो सुनते हैं कि उनको प्रत्येक वस्तु का तत्वज्ञान हो जाता है ?

उत्तर---तथाँ द्रव्यान्तरेषु प्रत्यक्षम् ॥१२॥

अर्थ---योग की उत्पन्न हुई धर्म की सहायता से मन में द्रव्यों के परमाणु आदि का भी ज्ञान हो जाता है और काल दिशा और आकाशादि के तत्व से भी जानकार हो जाता है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक पदार्थ की योग्यता को योगी जान सकता है।

प्रश्न---यदि योगी सर्वज्ञ हो गया तो योगी और सर्वज्ञ ईश्वर में क्या भेद है ?

उत्तर --ईश्वर एक समय में प्रत्येक वस्तु की योग्यता को जानता है योगी को इन्द्रिय शक्ति है कि जिस वस्तु के जानने में मन लगावे उसको जान सके। वह एक काल में समस्त पदार्थों का ज्ञान नहीं रखता। उसको केवल प्रत्येक पदार्थ के जानने की शक्ति है। एक प्रकार के योगियों का वर्णन करके अब दूसरी प्रकार के योगियों का वर्णन करते हैं।

असमाहितान्तःकरणा उपसंहृतसमाधयस्तेषां च ॥१३॥

अर्थ---जिसका अन्त: करण एकाग्र नहीं, जिन्होंने समाधि को दूर कर दिया है अर्थात् जिन्होंने निदिध्यासन करना छोड़ दिया हैं। समाधि के प्रभाव से आत्मादि शुद्ध है। जिसके द्वारा सूक्ष्म वस्तु देखने की शक्ति हो जाती है। और दूसरे श्रवण शक्ति प्राप्त करके समाधि में भी ज्ञान को अभाव अनुभव करता है। जब तक मोक्ष नहीं हो जाती तब तक उसका शरीर रहता है। पूर्व जन्म के कर्मों के फल भोग के स्वतन्त्र होकर उस-उस देश में जहाँ का जल वायु भोगना है। और उस-उस जन्म में हाथि घोड़ा गौ अदि होता है। जब तक कर्मफल शेष है तब

तक प्रत्यक्ष करता है। तात्पर्य यह है कि यदि योग भ्रष्ट हो जावे तो संसार चक्र में कर्मों का फल भोगता हुआ बिचरता है।

प्रश्न-- -उनमें बाहर स्वतन्त्र होने से मानसिक प्रत्यक्ष नहीं है और न बाह्य शक्तियों से उत्पन्न होने वाला ज्ञान है। उनके सम्बन्ध से उपस्थित अर्थ को ग्रहण करने वाला होने से यथा समय सूर्यादि की अपेक्षा से उलूकादि को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है ?

उत्तर— तत्समवायात्कर्मगुणेषु ॥१४॥

अर्थ—उसके समवाय से कर्म और गुणों का प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। यदि भौतिक सम्बन्ध की आवश्यकता है तो परमाणु आकाश दिशा और काल में रहने वाले सामान्य गुणों का अपने मन के संयोग समवाय से ज्ञान होता और दूसरे द्रव्यों में जो उपयोग के वास्ते शरीर सग्रह होता है अर्थात् सूक्ष्म कारण और स्थूल शरीर उनके साथ मन के संयोग से और उसी मेल हुई के सम्बन्ध से ज्ञान उत्पन्न होता है विना मन के सम्बन्ध के बाह्य शक्तियों से किसी अवस्था में ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। और योगी को शक्तियों का ठीक-ठीक ज्ञान होने से समस्त अयुक्त सन्देह दूर हो जाते हैं।

आत्मसमवायादात्मगुणेषु ॥१५॥

अर्थ---क्या अपनी ही बुद्धि आदि में मन के दूसरे द्रव्यों के संयोग सम्बन्ध से प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है, हम लोगो की तरह ? तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार हम लोगों को ज्ञान उत्पन्न होना कहा, योगियों को उसी प्रकार ज्ञान होता है या अन्य प्रकार से ? इसका उत्तर यह है कि इन्द्रिय और अर्थ से जब सम्बन्ध होता है अर्थात् आत्मा मन से और मन इन्द्रिय से और इन्द्रिय अर्थ से मिलती है, तब जो नहीं बदलने

वाला ज्ञान होता है वह लौकिक प्रत्यक्ष है और जो अर्थ से या योगी की समाधि की अवस्था में जिन पदार्थों का ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष है और जो अर्थ से या योगी की समाधि की अवस्था में जिन पदार्थों का ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष है अर्थात एक तो इन बाह्य इन्द्रियों से जो ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष है। दूसरे योगियों को जो मन के अन्दर प्रत्येक पदार्थ की योग्यता का ज्ञान होता है वह मानसिक प्रत्यक्ष है। बस ! यह लौकिक और अलौकिक योगियों को समाधि अवस्था में होने वाला दो प्रकार का प्रत्यक्ष है।

नवें अध्याय का पहला आह्निक समाप्त

वैशेषिक दर्शन भाषानुवाद

अध्याय ६, आह्निक १

प्रथमाह्निक में एक तो योगियों का मानसिक प्रत्यक्ष, दुसरे लौकिक का इन्द्रियार्थ सम्बन्धन्ध से उत्पन्न होने वाले प्रत्यक्ष स्वरूप और लक्षण द्वारा बतलाया, और दो प्रकार के परमाणुओं मेंसे प्रत्यक्ष को तो बतला ही दिया। अब अनुमान को जो लिंग द्वारा होता है, वर्णन करते हैं।

अस्येदं कार्य, कारणं, संयोगि, विरोधि, समवायि चेति लैंगिकम् ॥१॥

अर्थ--जो लिंग को देखकर ज्ञान उत्पन्न होता है उसे अनुमान कहते हैं, सदैव व्याप्ति से होता है। जब तक किसी वस्तु का किसी दूसरी वस्तु के साथ नियमित सम्बन्ध साबित न हो जावे तब तक व्याप्ति नहीं कहला सकती प्रथम तो व्याप्ति के वास्ते कार्य और कारण का सम्बन्ध है। उसकी आवश्यकता है जिन पदार्थों में कार्य कारण का सम्बन्ध होगा तो उनमें से एक कों देखकर दूसरे के होने का अनुमान होना सम्भव है। जैसे पिता पूत्र में कारण कार्य सम्बन्ध है। तो पूत्र को देखकर उसके पिता के होने का अनुमान हो सकता है, क्योंकि विना पिता के कहीं पुत्र उत्पन्न नहीं हो सकता। दूसरे नदो में बढ़े हुये मैले पानी को देखकर पर्वत पर वर्षा होने का अनुमान हो सकता है। इसी प्रकार अन्य अवसरों पर भी विचार लेना चाहिये। दूसरा सम्बन्ध

संयोग से उत्पन्न होता है। जैसे शरीर और त्वचा का, दूर से ही शरीर को देखकर त्वचा का होना अनुमान से साबित हो सकता है। दूर ही से सर्प को क्रोध में भर कर फुंकारते हुए झाड़ी की तरफ देखता हुआ मालूम करके झाड़ी में नेवले के होने का अनुमान इस प्रकार होता है कि जल को गर्म देख कर उसमें समवाय सम्बन्ध से रहने वाली अग्नि का अनुमान होता है।

प्रश्न—व्याप्ति से जो अनुमान करना बतलाया वह ठीक नहीं। क्योंकि धूए और अग्नि को मालूम करके दूर से धूलि को धुआँ मालूम करके उससे आग के होने का अनुमान होता है जो कि ठीक नहीं।

उत्तर—जब तक लिंग का ठीक ज्ञान न हो, तो उसके द्वारा जो अनुमान किया जाता है वह अनुमान हो नहीं कहला सकता, क्योंकि लिंग के ठीक ज्ञान से व्याप्ति अर्थात् सम्बन्ध द्वारा अनुमान करना बतलाया यदि लिंग का यथार्थ ज्ञान है नहीं तों वह अनुमान किस प्रकार कहला सकता है। अथवा व्याप्ति नहीं हुई तो भी उसको अनुमान नहीं कह सकते। इस वास्ते इस उदाहरण से अनुमान के प्रमाण होने में कोई दोष नहीं आता।

प्रश्न—जहाँ धुएं आदि के भूत भविष्यत् का ज्ञान हो वहां किस प्रकार अनुमान होगा ?

उत्तर—उस स्थान पर साध्य का भी भूत व भविष्यत् होने का अनुमान होने से ऐसा सम्भव है।

प्रश्न—जहाँ किसी रुकावट से धुएं आदि का वृत्तान्त भूत व भविष्यत् प्रतीत न हो, वहां किस प्रकार अनुमान होगा ?

उत्तर—वहाँ अनुमान ही नहीं, क्योंकि वहाँ साध्य की सत्ता में ही सन्देह है।

प्रश्न--पूर्वापर विचारने से मध्याह्न के समय जो धुंए का सन्देह होता है, उसमें अनुमान किस प्रकार होगा ?

उत्तर---उसी दिन के धुएं से उसी दिन की अग्नि अनुमान करने में ऐसे ही व्याप्ति अर्थात् सम्बन्ध है। इसी प्रकार के अन्य आक्षेप हो सकते हैं। किन्तु या तो व्याप्ति अथवा लिंग ज्ञान में दोष होने की अवस्था में ही अनुमान में खराबी आ सकती है। वह अनुमान ही नहीं इस वास्ते अनुमान के ज्ञान के यथार्थ होने में कोई सन्देह ही नहीं।

प्रश्न--उपर्युक्त उदाहरणों से व्याप्ति है, किन्तु उससे अनुमान नहीं होता जैसे समुद्र के चढ़ने से चन्द्रमा की कला में विशेषता जल के कारण अगस्त सितारे का प्रकाशित होना, फूलों के प्रकाश से चांद चढ़ने का, चौदह तारों के निकलने से दूसरे चौदह सितारों के छिपने का रस से रूप का या विशेष प्रकार के रस का या विशेष प्रकार के रस का अनुमान रस से किया जाता है।

उत्तर—अस्येदं कार्यकारणसम्बन्धश्चावयवा द्भवति ॥२॥

अर्थ---इन धुंए आदि साधनों से अग्नि आदि साध्य का या अग्नि आदि व्यापक वस्तु में जो व्याप्य धूमादि है ऐसे अवसर पर केवल घिरे हुए की विशेषता हीं आवश्यक है कार्य कारण का सम्बन्ध आवश्यक नहीं। इस विचार को दूर करने के वास्ते प्रथम सूत्र में लिखे हुए कार्य कारण के सम्बन्ध को भी इस सूत्र में वर्णन किया इस सम्बन्ध को नमूने की तरह उपस्थित करने से अन्य प्रकार के सम्बन्ध भी सम्मिलित हो जाते हैं। सम्बन्ध शब्द से अनुभव करने वाला अथवा पकाने वाला तात्पर्य है और वह सम्बन्ध किससे मालूम करना चाहिये उसके सम्बन्ध में बतलाया कि अवयव से अवयवी के सम्बन्ध को भी मालूम कर के

संयोग से उत्पन्न होता है। जैसे शरीर और त्वचा का, दूर से ही शरीर को देखकर त्वचा का होना अनुमान से साबित हो सकता है। दूर ही से सर्प को क्रोध में भर कर फुंकारते हुए झाड़ी की तरफ देखता हुआ मालूम करके झाड़ी में नेवले के होने का अनुमान इस प्रकार होता है कि जल को गर्म देख कर उसमें समवाय सम्बन्ध से रहने वाली अग्नि का अनुमान होता है।

प्रश्न--व्याप्ति से जो अनुमान करना बतलाया वह ठीक नहीं। क्योंकि धूए और अग्नि को मालूम करके दूर से धूलि को धुआँ मालूम करके उससे आग के होने का अनुमान होता है जो कि ठीक नहीं।

उत्तर--जब तक लिंग का ठीक ज्ञान न हो, तो उसके द्वारा जो अनुमान किया जाता है वह अनुमान हो नहीं कहला सकता, क्योंकि लिंग के ठीक ज्ञान से व्याप्ति अर्थात् सम्बन्ध द्वारा अनुमान करना बतलाया यदि लिंग का यथार्थ ज्ञान है नहीं तों वह अनुमान किस प्रकार कहला सकता है। अथवा व्याप्ति नहीं हुई तो भी उसको अनुमान नहीं कह सकते। इस वास्ते इस उदाहरण से अनुमान के प्रमाण होने में कोई दोष नहीं आता।

प्रश्न--जहाँ धुएं आदि के भूत भविष्यत् का ज्ञान हो वहां किस प्रकार अनुमान होगा ?

उत्तर---उस स्थान पर साध्य का भी भूत व भविष्यत् होने का अनुमान होने से ऐसा सम्भव है।

प्रश्न---जहाँ किसी रुकावट से धुएं आदि का वृत्तान्त भूत व भविष्यत् प्रतीत न हो, वहां किस प्रकार अनुमान होगा ?

उत्तर---वहाँ अनुमान ही नहीं, क्योंकि वहां साध्य की सत्ता में ही सन्देह है।

प्रश्न--पूर्वापर विचारने से मध्याह्न के समय जो धुंए का सन्देह होता है, उसमें अनुमान किस प्रकार होगा ?

उत्तर---उसी दिन के धुएं से उसी दिन की अग्नि अनुमान करने में ऐसे ही व्याप्ति अर्थात् सम्बन्ध है। इसी प्रकार के अन्य आक्षेप हो सकते हैं। किन्तु या तो व्याप्ति अथवा लिंग ज्ञान में दोष होने की अवस्था में ही अनुमान में खराबी आ सकती है। वह अनुमान ही नहीं इस वास्ते अनुमान के ज्ञान के यथार्थ होने में कोई सन्देह ही नहीं।

प्रश्न--उपर्युक्त उदाहरणों से व्याप्ति है, किन्तु उससे अनुमान नहीं होता जैसे समुद्र के चढ़ने से चन्द्रमा की कला में विशेषता जल के कारण अगस्त सितारे का प्रकाशित होना, फूलों के प्रकाश से चांद चढ़ने का, चौदह तारों के निकलने से दूसरे चौदह सितारों के छिपने का रस से रूप का या विशेष प्रकार के रस का या विशेष प्रकार के रस का अनुमान रस से किया जाना है।

उत्तर---अस्येदं कार्यकारणसम्बन्धश्चावयवाद्भवति ॥२॥

अर्थ---इन धुंए आदि साधनों से अग्नि आदि साध्य का या अग्नि आदि व्यापक वस्तु में जो व्याप्य धूमादि है ऐसे अवसर पर केवल घिरे हुए की विशेषता ही आवश्यक है कार्य कारण का सम्बन्ध आवश्यक नहीं। इस विचार को दूर करने के वास्ते प्रथम सूत्र में लिखे हुए कार्य कारण के सम्बन्ध को भी इस सूत्र में वर्णन किया इस सम्बन्ध को नमूने की तरह उपस्थित करने से अन्य प्रकार के सम्बन्ध भी सम्मिलित हो जाते हैं। सम्बन्ध शब्द से अनुभव करने वाला अथवा पकाने वाला तात्पर्य है और वह सम्बन्ध किससे मालूम करना चाहिये उसके सम्बन्ध में बतलाया कि अवयव से अवयवी के सम्बन्ध को ही मालूम कर के

प्रश्न---परार्थ अनुमान किसे कहते हैं ?

उत्तर---जो दूसरे से प्रेरणा किये हुये न्याय से उत्पन्न हुए व्याप्ति के ज्ञान से अर्थात् न्याय के बतलाये हुए पाँच अवयव अर्थात् अनुमान के अंगों से अनुमान किया जाता है वह परार्थ अनुमान है।

प्रश्न न्याय के बतलाये हुए पाँच अंग कौन से हैं ?

उत्तर—प्रथम प्रतिज्ञा, दूसरे हेतु, तीसरे उदाहरण, चौथे अवयवी जहां हेतु को प्रतिज्ञा में साबित किया जावे, पांचवे निगमन, जिसमें प्रतिज्ञा के हेतु की उपस्थिति को दिखला कर प्रतिज्ञा के साबित करने का परीणाम निकाल दिया जाता है। जैसे कहा कि शब्द अनित्य है यह प्रतिज्ञा है। अब उसका हेतु उपस्थि करता है कि उत्पन्न होने से। उदाहरण दिया कि जिस प्रकार घड़ा उत्पन्न होने से अनित्य है, क्योंकि संसार में जो जो वस्तु उत्पन्न हुई है सब अनित्य है। कोई भी उत्पन्न हुई वस्तु नित्य नहीं। क्योंकि एक किनारे वाला दरीया किसी ने नहीं देखा इस वास्ते जिसका आदि है उसका अन्त भी है इस वास्ते जो-जो उत्पन्न हुई वस्तु है सब ही अनित्य है। पहले यह हो गया अब दिखलाते हैं। चूंकि प्रत्येक उत्पन्न हुई वस्तु में अनित्यत्व रहता, और यह उत्पन्न हुआ है। इस वास्ते यह भी अनित्य है। इस प्रकार जो अवयवों से अनुमान किया जाता है वह परार्थ अनुमान कहलाता है। और उसकी जांच में भी वाद जल्प, वितण्डा तीन प्रकार का शास्त्रार्थ होता है। शेष प्रमाणों का अनुमान में शामिल करना साबित करने के वास्ते दूसरे प्रकरण को आरम्भ करते हैं।

एतेन शाब्दं व्याख्यातम् ॥३॥

अर्थ---जो शब्द के द्वारा ज्ञान उत्पन्न होता है जो न्याय आदि शास्त्रों में प्राप्त उपदेश से संगत करके कहा है वह भी इसी अनुमान

अनुमान हो सकता है। और जो सीमा के गुणवाला हैं उसका तात्पर्य यह है कि जिसका किसी के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध हो वह ही सीमा के गुणवाला हो सकता है। यह सीमा का गुण दो प्रकार का होता है। एक स्वाभाविक दूसरा नैमित्तिक। वह किसी-किसी प्रत्यक्ष में साध्य में घिरे हुए न होने से और किसी-किसी अवसर पर साधन के घिरे होने का गुण विश्वास होने से, किन्तु प्रत्यक्ष के विरुद्ध जो वस्तु इन्द्रिय से अनुभव होने योग्य नहीं और प्रमाण से साबित है। जिनकी सत्ता में प्रतिषेध हो नहीं सकता, उनकी चार अवस्था हैं। कोई-कोई साध्य और साधन दोनों में व्यापक है और कोई-कोई दोनों में व्यापक नहीं है और कोई केवल साधन और कोई साध्य में वियापक है। उनमें पहला साधन में व्यापक होने से और दूसरा साध्य में उपस्थित न होने से। चौथा साधन में व्यापक न होने से। यह तो नैमित्तिक नहीं, किन्तु स्वाभाविक मानना चाहिये। तीसरे में भी व्यापक का केवल उसी में व्यापक होना सम्भव न होने से दूसरे का केवल उसमें व्यापक होना किस प्रकार हो सकता। यहां इस आक्षेप पर विचार करना चाहिये जिसके स्वभाविक और नैमित्तिक होने में युक्तियाँ बराबर हों अथवा हानि लाभ बराबर हो, उसे स्वभाविक गुण ही खयाल करना चाहिये। इसमें किस प्रकार की उपाधि होगी इस प्रकार की विना प्रमाण की शंका, जो प्रत्येक अच्छे काम करने और बुरे काम को छोड़ देने में रुकावट डालने वाली है, न हो इस वास्ते जिस गुण का द्रव्य के पश्चात् आरम्भ हो वह नैमित्तिक है, जो गुण और द्रव्य के साथ अनादि हो वह स्वभाविक है। अब व्याप्ति और नैमित्तिक का वर्णन करके वतलाते हैं कि अनुमान दो प्रकार का है एक स्वार्थ दूसरा परार्थ।

प्रश्न—स्वार्थ अनुमान क्या है ?

उत्तर—जो आप ही, व्याप्ति पक्ष और गुण से जाँच करने से अनुमान होता है वह स्वार्थ अनुमान है।

में शामिल है, क्योंकि लिंग एक शब्द के अन्दर आ जाता है। जिस प्रकार अनुमान प्रमाण, व्याप्तिग्रह अर्थात् सम्बन्ध के मालूम होने से होता है। विना व्याप्ति को मालूम किये नहीं हो सकता। ऐसे ही शब्द प्रमाण भी शक्ति ग्रह अर्थात् शब्द अर्थों के सम्बन्ध के मालूम होने से ही साबित होता है इस के विना नहीं हो सकता, क्योंकि जब शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध मालूम हो जाता है। तब ही उस शब्द से वह अर्थ मालूम होता है। जिस प्रकार अनुमान दो तरह का वर्णन किया गया है ऐसे ही शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भी दो ही तरह से लिया जाता है एक शब्द के अन्दर जो अर्थ वतलाने वाली शक्ति रहती है। दूसरे लक्षणा और व्यञ्जनादि से। जैसे पहले किसी ने धूम के साथ अग्नि का सम्बन्ध पाकशाला में देखा हो तब ही वह दूर से धूम को देखकर अग्नि का अनुमान कर सकता है। ऐसे ही जिसने शब्द और अर्थ का सम्बन्ध पहले गुरु से मालूम कर लिया है वही इस शब्द से ठीक अर्थ मालूम कर सकता है। विना इसके कोई नहीं कर सकता जिस प्रकार व्याप्ति के ठीक-ठीक मालूम होने पर और लिंग के केवल ज्ञान होने पर यथार्थ अनुमान हो सकता है।

प्रश्न--बहुत अवस्थाओं में एक ही वाक्य का मतलब लोग अलग-अलग समझ लेते हैं, किन्तु अनुमान के अन्दर ऐसा सम्भव नहीं ?

उत्तर—वाक्य संयुक्त है। शब्द से यदि शब्द के ठीक-ठीक अर्थों को समझने में किसी प्रकार की हानि हो तो उसका तात्पर्य दूसरा हो जायेगा। परन्तु जो मनुष्य शब्दों के अर्थ और उनके सम्बन्ध सबको ठीक-ठीक समझते हैं उनके समझने में भेद नहीं होता इसी प्रकार अनुमान में पांच अवयवों के विरुद्ध समझने से अनुमान विरुद्ध हो सकता है एक शुद्ध और कई प्रकार के अशुद्ध मिलकर अनुमान से भी अलग-अलग परिणाम निकल सकते हैं।

प्रश्न—वाक्य का अवयव शब्द तो कई अर्थों के साथ सम्बन्ध रखता है। जैसे सैन्धव शब्द घोड़े को और नमक को जाहिर करता है। परन्तु अनुमान में दो अलग अलग सम्बन्ध नहीं होते। इसलिये अनुमान के साथ शब्द का मुकावला ठीक नहीं ?

उत्तर—जिस प्रकार शब्द का अर्थ मालूम होता है उसी प्रकार अनुमान। जिस प्रत्यक्ष से व्याप्ति अर्थात् सम्बन्ध को मालूम करके उस प्रत्यक्ष के अन्दर व्याप्ति करते समय किसी प्रकार दोष होने से उदाहरणतः जिस प्रकार एक शब्द के दो अर्थ होने पर भी प्रकरण को जानने वाले के वास्ते किसी प्रकार की खराबी उत्पन्न ही नहीं करते क्योंकि वह प्रकरण से ठीक अर्थ को मालूम कर लेता है। प्रकरण को न जानने वाला ही भ्रम में पड़ता है। ऐसे प्रत्यक्ष में प्रकाश की कमी में एक ही रस्सी सांप, पानी की धार, डण्डा, और रस्सी चार चीजों को जाहिर करती हैं। जिससे चार आदमी चार अलग-अलग परिणाम निकालते हैं। जिसने उसको सांप ख्याल किया वह इससे डरता है और जिसने उसे पेशाब की धार समझा है वह गन्दा ख्याल करके हटकर चलता है, और जिसने डण्डा ख्याल किया है वह उठाने को तैयार हो जाता है। जिसने रस्सी ख्याल किया है वह इस ख्याल से अलग फेंक देता है कि कोई साँप समझ कर न डरे। जिस प्रकार अज्ञानी आदमी एक शब्द के दो अर्थ होने से सन्देह में पड़ सकता है इसी प्रकार अज्ञानी प्रत्यक्ष और अनुमान से भी गलत परीणाम उत्पन्न कर सकता है।

प्रश्न—लक्षणादि का व्यवहार किस प्रकार से हो जिससे शब्द का ज्ञान ठीक हो सके ?

उत्तर—जहां आकांक्षा, योग्यता और आसक्ति आदि उत्पन्न हो

था वही स्मरण हो गया, जिस पर उसने काम किया। ऐसे ही अंगुली उठने से को नवीन ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ किन्तु पुराना बतलाया हुआ याद आ गया। इस प्रकार विचार लेना चाहिये कि शब्द और लिंग केवल पहले सम्बन्ध को स्मरण कराकर उसकी सत्ता को बताते हैं, किसी नवीन अर्थ को नहीं बतलाते इस वास्ते शब्द प्रमाण अनुमान के अन्दर ही सम्मिलित है।

प्रश्न—शब्द कैसे लिंग हो सकता है ? शब्द का अर्थ करने वाला होने से लिंग से पृथक् होने से ?

उत्तर—हेतुरुपदेशो लिंगं प्रमाणं करणमित्यनर्थान्तरम् ॥४॥

अर्थ—जिससे अर्थ अर्थात् मतलब को कह दें वह उपदेश कहलाता और वह हेतु अर्थात् कारण और लिंग अर्थात् निशान बोधक है। निशान के नियम से प्रमाण अर्थात् यथार्थ ज्ञान के कारण को ही प्रमाण कहते हैं। इस प्रकार करण या कारण को अनुमान कहते हैं। लिंग अर्थात् निशान या लक्षणा का बोध ही विचार लेना चाहिये। दोनों ही का कारण अर्थात् करण या हेतु से ज्ञान होता है। कुछ सम्बन्ध के कारण जो इन्द्रिय और अर्थ का मेल होता है उससे व्याप्ति अर्थात् सम्बन्ध को मालूम करके किया जाता है। और कुछ जहाँ एक के बिना दूसरा न हो सके, इस नियम के बल से किया जाता है।

प्रश्न—जबकि शब्द का न तो मतलब से मेल है और न ऐसा सम्बन्ध है कि जहां एक के बिना दूसरा न रह सकता हो। इस अवस्था में शब्द अर्थ का वर्णन किस प्रकार कर सकता है ?

उत्तर—पहले प्रमाणित कर चुके हैं कि शब्द का अर्थ से संकेत अर्थात् बंधे हुए नियम से सम्बन्ध है। इस वास्ते शब्द में उस अर्थ का वर्णन हो जाता है।

वही लक्षणा हो सकती है।

प्रश्न---जो पद, और अर्थों का सम्बन्ध बतलाया वह खराब है क्योंकि शब्द और अर्थों में संसग नहीं और शब्द और अर्थ आगे केवल नियत किया हुआ सम्बन्ध पहले प्रमाणित कर चुके हैं।

उत्तर--जिस प्रकार कारण कार्यादि के सम्बन्ध भी संसार में उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भी ईश्वर के नियमित नियम के विरुद्ध होता है। यह पहले प्रमाणित कर चुके हैं। इस वास्ते जिस प्रकार कार्य कारण से अनुमान खराब न हो, ऐसे शब्द को विचार कर लो।

प्रश्न---बहुत से मनुष्य लक्षणादि को जो तात्पर्य को पूरा करने के वास्ते शब्दों के अर्थ में व्यवहार में लाई जाती है, अप्रमाण कहते हैं ?

उत्तर---लक्षणादि दो प्रकार से हो सकती है एक आवश्यकता के समय, जब शब्दों से कहने वाले का मतलब समझ में न आता हो। दूसरे अपने मतलब को पूरा करने के वास्ते खींच तान कर कहने वाले के मतलब को बिगाड़ने के लिये। उनमें से प्रथम शास्त्रानुसार होने से और सृष्टि में बराबर मानी जाने से ठीक प्रमाण और जो ठीक नहीं है उसके प्रमाण होने से जो असली लक्षणा है नहीं, कोई हानि नहीं।

प्रश्न---क्या लक्षणादि दूसरे ज्ञान को उत्पन्न नहीं करती ?

उत्तर---लक्षणा से केवल कहने वाले के मतलब का स्मरण होता है कोई नवीन अर्थ उत्पन्न नहीं होता जैसे किसी ने कहा कि जब शंख बजे तब तुम चले आना अथवा जिस समय अंगुली उठे तब तुम उसको सजा देना अब शंख बजने से उसको शब्द के अर्थ से कोई पता नहीं लगा। जो प्रथम उपदेश किया गया

प्रश्न संकेत भी शब्दार्थ को प्रकाशित नहीं कर सकता, क्योंकि संकेत पद के अर्थ में है न कि सम्बन्ध में संकेत है। यदि कहो सम्बन्ध में भी संकेत है तो भी नहीं, क्योंकि, सम्बन्ध अनेक प्रकार का होने से संकेत का जो विषय है, उसकी सत्ता के यथार्थ ज्ञान होने से। यदि कहो शब्द और अर्थों के संकेत के कारण वाक्यों का अर्थ भी मालूम हो जाता है तो यह भी नहीं, क्योंकि दूसरे के संकेत से, दूसरे की उपस्थिति से, अतिप्रसक्ति दोष होता है अर्थात् नियम भंग हो जाता है ?

उत्तर जबकि वाक्य शब्दों का संग्रह है और संग्रह में वही गुण होता है जो उसके अवयव में होता है। इस वास्ते शब्दों के अर्थ जानने से वाक्य का अर्थ मालूम हो जाता है। इस वास्ते शब्द भी एक प्रकार का लिंग है, जिससे उस अर्थ का अनुमान हो सकता है। अब उपमानादि शेष प्रमाणों को अनुमान में सम्मिलित करते हैं।

अस्येदमितिबुद्ध्यपेक्षितत्वात् ॥५॥

अर्थ--उपमान, अर्थापत्ति, अभाव ये सूत्र में शेष हैं। इस व्यापक का यह व्याप्य है, इस प्रकार की जो बुद्धि है, वह उत्पन्न करने वाले की आवश्यकता रखती है। जिसकी उसको आवश्यकता होती है उसकी सत्ता को उसके लिए आवश्यक कहते हैं। उसका यह कारण है अथवा कार्य है "इस ज्ञान वा सम्बन्ध की आवश्यकता वाले होने से ये चारों प्राण अनुमान के अन्दर आ जाते हैं। इनमें से उपमान तो शब्द के द्वारा अनुमान ही है। जैसे गौ के सदृश नीलगाय होती है, यह किसी वनवासी ने जनपद से कहा कि गौ की सदृश नीलगाय होती है इस साधिकरण होने के कारण से इस शब्द के सुनने के बाद वह जंगल में गया और उस प्रकार के शरीर को देखकर यह विचार हुआ कि यही नील गाय शब्द का अर्थ है अर्थात्

नीलगाय है विश्वास करता है। उस शब्द के सुनने के समय नीलगाय की प्रवृत्ति का कारण न जाना। इससे किस प्रकार नाम का विभाग हो उत्तर यह है कि लक्षणा से उसकी प्रतीति होना सम्भव होने से ज्ञानानुसार नीलगाय है।

प्रश्न—जब वाक्य में अन्वय से अर्थ न निकलता हो तब लक्षणा हो सकती है। जहाँ अर्थ निकलता है वहाँ किस प्रकार लक्षणा होगी ?

उत्तर—यथार्थतया मतलब न समझने से गौ के अनुसार गुणों का विना दर्शन के समझना लक्षणा से हो सकता है अथवा यह समझो की नीलगाय शब्द नीलगाय को बतलाने वाला है, किसी दूसरे के वास्ते व्यवहार न होने से विद्वानों ने उसका व्यवहार किया है इससे भी, दूसरी जगह व्यवहार न होने से जो शब्द जिस स्थान पर विद्वानों से व्यवहार किया है वह उसी का वाचक है अर्थात् उस शब्द के वही अर्थ हैं। जैसे गाय शब्द है। गाय यह शब्द अनुमान से भी नीलगाय से पृथक् और कुछ मिलता हुआ मालूम होता है। हेतु यही है कि जो तुमने उपमान की सहायता में कहा है वह अच्छा है और वह अनुमान प्रमाण के अन्दर आ भी जाता है इसकी बाबत विशेष अनुमान भाष्य में देखना चाहिए।

अर्थापत्ति प्रमाण भी अनुमान नहीं है। जैसे कहते हैं कि देवदत्त दिन में नहीं खाता, किन्तु मोटा है। इससे पता लगता है कि रात को खाता है, क्योंकि मोटा होना विना खाये सम्भव ही नहीं। शरीर के सम्पूर्ण अवयव भोजन से बनते हैं। विना भोजन के शरीर में अवयव उन्नति कर ही नहीं सकते। और विना अवयवों के उन्नति किये शरीर मोटा हो ही नहीं सकता। जब दिन में खाने को निषेध किया अर्थात् बतलाया कि दिन में नहीं खाता तो स्पष्ट

का प्रतीति करने वाला होने से उसको छोड़ना न चाहिये क्योंकि इन्द्रिय अभाव तक अनुभव कर सकती है। रहा ऐतिह्य प्रमाण, जिसकी तारीफ यह है कि जिसको हम नहीं जानते किन्तु दूसरे प्रकाशकों के लेख से उसका पता लगता है। यह शब्द प्रमाण के अन्दर होने से अनुमान ही है, क्योंकि शब्द में जो पूरा कल्पवाद के अन्दर आया है वह अभाव का दूसरा नाम ही है, यदि गलत है, तो प्रमाण ही नहीं, इस वास्ते स्पष्ट प्रमाणित हो गया कि केवल प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण हैं इनसे सब काम चल सकते हैं। अनुमान प्रमाण का वर्णन करके अब दूसरे विषय को आरम्भ करते हैं।

आत्ममनसोः संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः ॥६॥

अर्थ---आत्मा अर्थात् जीवात्मा और मन के विशेष प्रकार के सम्बन्ध और संस्कारों के होने से स्मृति उत्पन्न होती है अर्थात् स्मृति जिसे विद्या का एक भाग बता चुके हैं, उसका समवायि कारण तो आत्मा है और आत्मा और मन का विशेष प्रकार का सम्बन्ध असमवायि कारण है और संस्कार निमित्त कारण हैं और शब्द 'च' से यह मालूम होता है कि जिसका पहले कर्म होते हुए अनुभव हो चुका है उसकी स्मृति होती है। यदि अनुभव यथार्थ हुआ है तो उसके संस्कार से ठीक स्मृति होगी यदि यथार्थ अनुभव नहीं तो उसके संस्कार से स्मृति भी अशुद्ध होगी। जैसा रस्सी में सांप सोचने के द्वारा ही उसकी वैसी स्मृति होगी, यह नहीं कि स्मृति यथार्थ हो जाये। क्योंकि इसका होना संस्कार पर निर्भर है। वह किसी अवस्था में संस्कार के विरुद्ध नहीं हो सकती इस वास्ते प्रशस्त देव जी ने अपने भाष्य में कहा है अर्थात् लिंग दर्शन इच्छा के दो वार स्मरण करने पर जो आत्मा का मन से संयोग होता है वही विशेष संयोग है। बहुत दफे वार-वार उत्पन्न हुए ज्ञान से संस्कार उत्पन्न हुआ है, देखे, सुने अथवा अनुभव

अनुमान हो जाता है कि रात में खाता है।

प्रश्न—यहाँ किस प्रकार का अनुमान होगा ?

उत्तर—यहाँ अनुमिति-अनुमानं अर्थात् अनुमान से उत्पन्न होने वाला अनुमान होगा। अर्थात् प्रथम तो यह विश्वास करना होगा कि विना खाये मोटा होना असम्भव है, फिर जब मालूम हो गया कि खाने से मोटा होता है तो दिन में खाने का निषेध होने से रात में खाना प्रमाणित हो जायेगा, क्योंकि विना खाये मोटा होना असम्भव है।

सम्भव प्रमाण भी अनुमान ही है। जैसे कहें कि सम्भव है कि मन में सेर रहता है सेर में छटांक रहती है। ऐसे ही हजार मन में सौ का होना सम्भव है।

प्रश्न—यदि सम्भव को अनुमान माना जाय तो ब्राह्मण में विद्या होना सम्भव है। क्षत्रिय में शूरवीरता सम्भव है, इससे प्रत्येक ब्राह्मण विद्वान् और प्रत्येक क्षत्रिय शूरवीर होना चाहिये जो नहीं होता, इससे अनुमान ठीक नहीं।

उत्तर—यह सम्भव प्रमाण ही नहीं, क्योंकि किसी सम्बन्ध से विश्वास दिलाने वाला नहीं, अभाव भी कोई प्रथक् प्रमाण नही, वह भी अनुमान नहीं है। कारण से कार्य की सत्ता के अनुमान की तरह कारण के अभाव से कार्य के अभाव का अनुमान हो जायगा, क्योंकि इसमें व्याप्ति का उत्पन्न होना ठीक है। क्योंकि जिस प्रकार कारण की सत्ता कार्य की सत्ता के उत्पन्न होने का कारण है इसी प्रकार कारण का अभाव कार्य के अभाव का कारण है। इसलिये अभाव प्रमाण अनुमान में ही सम्मिलित करना चाहिये। पृथक् प्रमाण समझना वे फायदा है। घट के स्थान में भूतल पर अभाव को प्रतीत करने वाला प्रमाण अनुपलम्भ नामी है। वह कहीं प्रत्यक्ष में आ जाता है, कहीं अनुमान में। चक्षु आदि इन्द्रियों से ही अभाव के मालूम होवे से इन्द्रियों

किये पदार्थों में जो दुबारा स्मरण करने के कारण इच्छा व घृणा में उनसे जो व्यतीत हुये विषय का विचार है वह स्मृति कहलाती है। आर्ष ज्ञान सूत्रकार ने पृथक बनाया है। वह योगी प्रत्यक्ष के अन्दर आ जाता है। उसको उसी स्थान में बतला दिया है। जैसे की जिन ऋषियों पर वेद प्रकाशित हुए, भूत, भविष्यत् और वर्तमान की और इन्द्रिय से प्रतीत होने के अयोग्य धर्मादि में जिसका वर्णन अनेक पुस्तकों में है। लिंगादि की आवश्यकता न कह कर जो आत्मा और मन के संयोग से विशेषतया धर्म की विशेषता से मन के शुद्ध होने के कारण जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह आर्ष ज्ञान है। यहां तक चार प्रकार की विद्या का वर्णन करके अब अविद्या का वर्णन करते हैं। सांदेहिक ज्ञान का प्रथम वर्णन हो चुका है। अब स्वप्न का वर्णन करते हैं।

तथा स्वप्नः ॥७॥

अर्थ—जिस प्रकार आत्मा और मन के विशेष प्रकार के संयोग और संस्कार से स्मृति होती है उसी प्रकार स्वप्न होता है। जब इन्द्रियां बाहरी सम्बन्ध छोड़ दे और मन भी अपने सम्बन्ध को बाह्य विषयों से हटाकर अन्दर चला जावे। उस समय जो इन्द्रिय और मन से ज्ञान होता है वह स्वप्न है। और यह तीन प्रकार का है। प्रथम संस्कार कि विशेषता से अथवा जो काम सोते समय करो वह कार्यादि जिस प्रकार के विचार करता हुआ सोता है, उसका उस अवस्था में भी प्रत्यक्ष की शकल का ज्ञान होता है। दूसरे जो पुराणादि के सुनने के संस्कारों के कारण उत्पन्न होता है। जैसे कर्ण और अर्जुन का यह युद्ध हो रहा है। तीसरे, विचारों की खराबी से जो उत्पन्न होता है। वहाँ आदि के दोष से आकाश में उड़ना, पृथ्वी का भ्रमण करना, सिंहादि के डर से भागना और गरमी की खराबी के

कारण अग्नि में कूदना, अग्नि की शिखा को पकड़ना, सोने के पहाड़ बिजली की बेल और अंगारों और सितारों का, दिशाओं का चलना आदि देखता है। और कफ की खराबी से समुद्र से पार होना, दरिया में स्नान करना, पानी का बड़े जोर से बरसना, इसके अतिरिक्त पूर्व जन्म के कर्म फल से भी स्वप्न होता है अर्थात् पूर्व जन्म के अनुभव किये हुये विषय जिनका मन पर फोटू खिच रहा है उनसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसमें पूर्व जन्म के धर्म से शुभ अर्थात् सुख देने वाला देखता है। हाथी की सवारी, पहाड़ से पार होना, सर पर ताज का रखा जाना, खीर का खाना, राज का भोग करना आदि, अधर्म से दुःख देने वाले जैसे तेल का शरीर पर मर्दन, ऊंट की सवारी, अन्धे कूप में गिरना, कीचड़ में स्नान करना, अपना विवाह आदि देखना, इस प्रकार का स्वप्न ज्ञान होता है यह कारण तीनों प्रकार के स्वप्नों का मिला हुआ भी जानना।

प्रश्न--जो ज्ञान स्वप्न में स्वप्न के जाने हुए अर्थों का स्मृति रूप होता है उसमें स्वप्नत्व तो है नहीं, स्वप्न के अनुभव रूप होने से उसकी उत्पत्ति किस प्रकार होती है ?

स्वप्नान्तिकम् ॥८॥

अर्थ – जिस प्रकार आत्मा और मन के विशेष प्रकार के सम्बन्ध से स्वप्न उत्पन्न होता है उससे ही स्वप्न के अन्दर दूसरा स्वप्न उत्पन्न हो जाता है। उसमें केवल इतनी विशेषता है कि स्वप्न का ज्ञान तो प्रथम प्रतीति किये हुए संस्कार के कारण उत्पन्न होता है, किन्तु स्वप्न में जो स्वप्न उत्पन्न होता है वह उस समय के अनुभव किये हुए ज्ञान के संस्कारों से उत्पन्न होता है। यह प्रशस्त देव आचार्य जी ने भी कहा है कि पिछले ज्ञान के अनूभव करने से ही स्मृति ही स्वप्न है, और वृत्ति लिखने वाले ने भी कहा है अनुभव की हुई वस्तु को जो मन अनुभव

करता है वह स्मृति न हो तो स्वप्न ज्ञान है और स्वप्न के बीच में जो प्रत्यक्ष रीति से अनुभव होने वाला ज्ञान है वह स्वप्नान्तिक है।

अब स्वप्नादि का कारण बतलाते हैं :—

धर्म्माच्च ॥९॥

अर्थ—मतलब यह है कि धर्म और अधर्म के संस्कारों से ही स्वप्न उत्पन्न होता है जब धर्म के संस्कारों से स्वप्न होगा तो सुख देने वाले पदार्थ दृष्टिगत होंगे। जिससे इस समय नें सुख अनुभव करेगा। जब अधर्म के संस्कारों से स्वप्न होगा तो भयानक दुःख देने वाली वस्तु को देखेगा। जिससे दुःख प्रतीत होगा। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार की फोटू इन्द्रियों द्वारा मन पर उतरी है उन्ही के देखने का नाम स्वप्न है। और यदि वह अच्छे कामों के हैं तो सुख उत्पन्न होगा, यदि पाप कर्मों के हैं तो दुःख देगें।

प्रश्न—अविद्या की उत्पत्ति का कारण क्या है ?

इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्चाऽविद्या ॥१०॥

अर्थ—अविद्या अर्थात् विरुद्ध ज्ञान दो प्रकार उत्पन्न होता है। एक इन्द्रिय में किसी प्रकार की खराबी आने से और इन्द्रिय के सहायक में खराबी आने से अविद्या उत्पन्न होती है। जैसे थोड़ी रोशनी में, जहां अन्धेरा ज्यादा है, रस्सी में साँप का ज्ञान होता है। ऐसे और भी इन्द्रियों के सहायकों की आवश्यकता से ज्यादा या कम सहायता मिलने के कारण विरुद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है। दूसरा संस्कार के कारण भी विरुद्ध ज्ञान हो जाता है जैसे संखिया अथवा अफीम बुरी वस्तु है किन्तु जिनका स्वभाव हो वह उनको अपने जीवन का कारण समझते हैं। इस प्रकार और स्थानों पर विचार लेना कि प्रत्येक प्रकार

को अविद्या इन्द्रिय और संस्कार की खराबी के कारण उत्पन्न होती हैं।

प्रश्न अविद्या का लक्षण क्या है ?

तद् दुष्टज्ञानम् ॥११॥

अर्थ--वह अविद्या दोष खराबी वाले ज्ञान का नाम है। तात्पर्य यह है कि दुष्ट ज्ञान को अविद्या कहते हैं। अथवा विरुद्ध ज्ञान का नाम अविद्या है। बदलने वाला ज्ञान अथवा और में और का। इसी प्रकार प्रत्येक प्रकार के दुष्ट ज्ञान का नाम अविद्या है।

प्रश्न क्या अज्ञान अर्थात् ज्ञान का न होना अविद्या नहीं ?

उत्तर--ज्ञान के अनुभव न होने का नाम अविद्या नहीं, किन्तु दुष्ट और विरुद्ध ज्ञान का नाम अविद्या है। इसी वास्ते चार प्रकार की अविद्या बतलाई। सांदेहिक ज्ञान, विरुद्ध ज्ञान, स्वप्न का ज्ञान, अविश्वास योग्य ज्ञान, और बदलने वाला ज्ञान यह सब अविद्या में सम्मिलित हैं।

प्रश्न---विद्या क्या है ?

उत्तर---अदुष्टं विद्या ॥१२॥

अर्थ—दोष अर्थात् प्रत्येक प्रकार की खराबी से अतिरिक्त ज्ञान का नाम विद्या है अर्थात् जिस ज्ञान में न तो किसी प्रकार का इन्द्रियों का दोष कारण हो और न ही संस्कार से उत्पन्न हुई किसी की खराबी हो। उस ज्ञान को विद्या कहते हैं। अर्थात् जो पदार्थ जैसा हो उसे उसी प्रकार का जान लेना विद्या है।

प्रश्न—प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त आर्ष ज्ञान को भी पृथक् प्रमाण मान लेना चाहिये क्योंकि न तो वह प्रत्यक्ष के अन्दर आ सकता है न ही वह इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है।

और न ही अनुमान के अन्दर है। क्योंकि किसी प्रकार की व्याप्ति अर्थात् सम्बन्ध को प्रमाणित किये बिना उत्पन्न होने से। इस वास्ते यह तृतीय प्रमाण है।

आर्षसिद्धदर्शनञ्च धर्मेभ्यः ॥१३॥

अर्थ—जो गौतम आदि ऋषियों का केवल योग से भूत भविष्यत् के सम्बन्ध का ज्ञान है, वह आर्ष है अर्थात ऋषियों का ज्ञान है और जो सिद्ध लोगों का दूरबीन और अंजन खुर्दबीन आदि से जो बारीक और दूर की वस्तु का ज्ञान है अर्थात् दूर और छिपी हुई सूक्ष्म वस्तू का जो देखना है। इन दोनों प्रकार के धर्म से यथार्थ ज्ञान प्रमाणित होता है। वह योगी के प्रत्यक्ष क अन्दर आ जाने म तीसरा प्रमाण नहीं। यह वृत्तिकार कहते हैं। आर्ष ज्ञान चतुर्थविद्या है वह ऋषियों को लोक में होती है उसी का नाम मानसिक प्रत्यक्ष है। या तो मन के अन्दर जिज्ञासा रखते हुए प्रत्यक्ष होती है। अथवा नियमादि के यथार्थतया देखने से लिंग उत्पन्न हुआ है। प्रथम कृत संस्कार ही इस स्थान पर व्याप्ति अर्थात् सम्बन्ध का ज्ञान है। जिस प्रकार प्रथम संस्कारों से बछड़ा अपनी माता के स्तनों से दूध चूसने लगता है और उसको सिखलाने वाला प्रथम संस्कारों के अतिरिक्त कोई नहीं होता। प्रशस्तपादाचार्य कहते हैं जो ज्ञान खुर्दबीन आदि के कारण से सिद्ध लोगों को होता है वह प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य प्रकार का ज्ञान नहीं किन्तु प्रत्यक्ष ही है। यदि वह सूर्य चन्द्रादि की चालों के कारण होने वाला हो तो अनुमान है। इस वास्ते प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण हैं, आर्ष ज्ञान तीसरा प्रमाण नहीं।

नवें अध्याय का दूसरा आह्निक समाप्त

वैशेषिक दर्शन भाषानुवाद

अध्याय १०, आह्निक १

अब आत्मा के गुणों का विचार करना दसवें अध्याय का विषय है और बहुत से लोगों का यह विचार है कि सुख कोई वस्तु नहीं। दुःख के न होने का नाम ही सुख है और बहुत से मनुष्य कहते हैं कि दुःख कोई वस्तु नहीं, सुख के न होने का नाम दुःख है। इस प्रकार पृथक्-पृथक् विचारों को दूर करने के वास्ते विचार करते हैं।

इष्टानिष्टकारणविशेषाद्विरोधाच्च मिथः सुखदुःखयोरर्थान्तरभावः ॥१॥

अर्थ—सुख और दुःख दोनों एक दूसरे से पृथक् गुण वाले हैं। क्योंकि सुख तो इष्ट कारण से उत्पन्न होता है अर्थात् जो इष्ट पदार्थ हैं उनके संग से सुख उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि दोनों कारणों का संग्रह है अथवा पृथक-पृथक है और उनमें विरोध है। जहाँ दुःख होगा वहाँ सुख नहीं होगा और जिसे सुख होगा उस समय उसे दुःख नहीं। एक समय में दोनों एक स्थान पर नहीं रहते। और शब्द "च" से यह बतला दिया कि जिस प्रकार उनके कारण पृथक्-पृथक् हैं जैसे सुखी मनुष्य का मुखड़ा प्रफुल्लित, आँखें रोशन और शरीर फूला हुआ मालूम होता है। और दुःखी मनुष्य का मुखड़ा मलिन और निर्बल सा प्रतीत होता है। यह प्रशस्त पादाचार्य ने भी अपने भाष्य में कहा है।

जिसमे मुख पर प्रफुल्लता मालूम हो वह सुख है। वह चन्दनादि इच्छानुसार विषय प्राप्ति मेरे लिये इष्ट है, ऐसा जानकर इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से धर्मादि की आवश्यकता रखता हुआ आत्मा और मन के संयोग से जो मुख पर प्रफुल्लता उत्पन्न करने वाला है वह सुख है। जो गौतम जी ने अपने न्यायदर्शन में इस प्रकार के सुख को भी समझना बतलाया है। उसका मतलब केवल वैराग्य उत्पन्न करना है।

प्रश्न--इन सुख-दुःख के, जो आपस में पृथक्-पृथक् हैं ज्ञानादि भी, स्मृति के अनुभव होने मे पृथक्-पृथक् होंगे ?

उत्तर—संशयनिर्णयान्तराभावश्च ज्ञानान्तरत्वे हेतुः ॥२॥

अर्थ—सुख दुःख में पृथक्-पृथक् ज्ञान होने से सन्देह और जांच से पृथक्त्व का कारण है। उसका मतलब यह है। सुख-दुःख यह ज्ञान नहीं वह सन्देह रूप होगा या जांच करने योग्य होगा। सन्देह रूप नहीं हो सकता क्योंकि उसके वास्ते दो प्रकार का विचार होना आवश्यक है। जैसे कहते हैं, खम्भा है या आदमी, और नहीं जाँच के योग्य होगा, क्योंकि यह एक ही होता है। इस वास्ते कहा है कि जब तक विशेषता के रोकने से सामान्य अनुरोध है। ज्ञान में दो ही प्रकार की विशेषता है। सांदेहिक हो वा आनुमानिक वे दोनों सुख-दुःख में हो नहीं सकते, क्योंकि सांदेहिक और वैश्वासिक ज्ञान सुख-दुःख में नहीं होता। "च" शब्द से बतलाया कि अनुभव भी नहीं हो सकता सुख-दुःख में, सुखी हूँ अथवा दुःखी हूं यह मन में अनुभव होता है। ऐसा अनुभव नहीं होता कि मैं सुख को जानता हूँ या सन्देह करता हूँ या बिश्वास करता हूँ। इसमें दूसरा भेद करने वाले बतलाते हैं।

तयोर्निष्पत्तिः प्रत्यक्षलैङ्गिकाभ्याम् ॥३॥

अर्थ--सन्देह और विश्वास की उत्पत्ति उन पदार्थों में होती है, जो प्रत्यक्ष और अनुमान में साबित हों। यह सुख-दुःख दोनों न तो प्रत्यक्ष की सामग्री से उत्पन्न होते हैं न अनुमान से उत्पन्न होते हैं। अथवा अनुमान के कारण से उत्पन्न होते हैं। विषयों से उत्पन्न होने वाला सुख चार प्रकार का है। प्रथम मनोरथ अर्थात् मन में बड़ी-बड़ी आशा तृष्णा बढ़ाने से जो सुख उत्पन्न होता है, दूसरे मानिक जो अपने को दूसरे से बड़ा समझने से उत्पन्न होता है तीसरा अभ्यास से उत्पन्न होने वाला। इन तीनों का तो इन्द्रियों के सम्बन्ध से उत्पन्न होना सम्भव ही नहीं।

प्रश्न--यदि प्रथम सुख को इन्द्रियार्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ सुख मानो तो क्या हानि होगी।

उत्तर--कार्य के कारण के एक देश से एक अस्तित्व के उत्पन्न होने से अर्थात अवयव और अवयवी एक नहीं वरन दिशा और काल तो प्रत्येक कार्य के साथ कुछ सम्बन्ध रखते हैं सबके साधिकरण हो जायेगें क्या वह सुख जो इन्द्रिय के सम्बन्ध से उत्पन्न नहीं होता सो विकल्प अर्थात जिसमें सन्देह रहे ऐसा होगा वा निर्विकल्प अर्थात सन्देह से खाली होगा ? पहला नहीं क्योंकि इन्द्रियों से अनुभव होने के अयोग्य मानना पड़ेगा। दूसरा भी नहीं, क्योंकि विशिष्ट और विशेष्य द्वारा दोनों का वर्णन के योग्य न होने से किन्तु सुख दुःख के आवश्यक जानने योग्य होने से और ज्ञान के आवश्यक यथार्थ जानने योग्य होने से अनवस्था दोष होगा। और अनुमान होता है, यह लिंग से ही जाना जाता है। सुख-दुःख ऐसा भी नहीं। वृत्तिकार यह कहते हैं कि ज्ञान और सुख की उत्पत्ति प्रत्यक्ष और अनुमान से अर्थात प्रत्यक्ष और अनुमान के व्याख्यानों से

वर्णन की गई। प्रत्यक्ष का ज्ञान इन्द्रिय से होता है। अनुमान लिंग द्वारा होता है। सुख-दुःख ऐसे नहीं हैं। अनुमान से होने वाले ज्ञान और सुख आदि के भेद के विभाग में एक और भेद बतलाते हैं।

अभूदित्यापि ॥४॥

अर्थ—जिस प्रकार अनुमान के विषय में भूत और भविष्यत का व्यवहार होता है ऐसा सुखादि में नहीं होता। जैसे कहा जाता है कि पर्वत में अग्नि लगी थी, क्योंकि जले हुए वृक्षों से मालूम होता है। लगेगी, क्योंकि बाँस रगड़ खा रहे हैं। अनुमान ज्ञान में इस प्रकार का व्यवहार दृष्टिगत होता है, किन्तु सुख उत्पन्न हुआ मैंने पाया, अथवा दुःख उत्पन्न हुआ मैंने पाया, ऐसा नहीं होता। तात्पर्य यह है कि उपस्थित सुख-दुःख का ही ज्ञान होता है। इससे सुख-दुःख अनुमान ज्ञान से पृथक है! एक और भेद करने का वर्णन करते हैं।

सति च कार्यादर्शनात् ॥५॥

अर्थ—इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध होने पर या व्याप्ति का विचार होने पर भी सुख-दुःख कार्य को न देखने से, क्योंकि न दुःख और सुख का केवल प्रत्यक्ष होता है और नहीं अनुमान होता है। इस वास्ते सुख-दुःख ज्ञान के अनुकूल नहीं हो सकते। विशेष प्रकार का ज्ञान या तो प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है या अनुमान इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध की अवस्था कपूर वा चन्दनादि का प्रत्यक्ष है अस्तित्व का अनुभव होने से और नहीं दूसरा अर्थात् चन्दनादि का अनुमान होने से अथवा अग्नि आदि का अनुमान होने से। सुख-दुःख के अस्तित्व का अनुभव होने से विशेष प्रकार का ज्ञान भी सुख का एकार्थ नहीं। और भेद करने वाले को बतलाते हैं।

एकार्थसमवायिकरणान्तरेषु दृष्टत्वात् ॥६॥

अर्थ—सुख-दुःख में समवायि कारण के अतिरिक्त कारण में एकार्थ अर्थात् सम्मिलित देखने मे भी ज्ञान सुख-दुःख से पृथक है, तात्पर्य यह है कि सुख का असाधारण कारण जो एक ही अर्थ में समवेत है वह धर्म है, सुख में राग अर्थात् सुख के कारण की इच्छा और उसके उपादान चन्दन कपूर आदि के वास्ते पुरुषार्थ किया जाता है। ऐसा ही दुःख का असाधारण कारण अधर्म है। दुःख में द्वेष होता है इस वास्ते इसके कारणों को अर्थात् काँटे आदि में, हानि है इस प्रकार का जान कर दूर करने का यत्न करता है। तात्पर्य यह है कि सुख-दुख के धर्म और अधर्म का अनुमान में स्थिति से रहने वाला देखने से सान्देहिक ज्ञान के वास्ते एक ही वस्तु में रहने वाला होने के अतिरिक्त अन्य किसी असाधारण कारण भी आवश्यकता नहीं। सान्देहिक ज्ञान में विशेषता के जानने की आवश्यकता होती है। वह दूसरा कारण नहीं होता केवल मन का संयोग साधारण रीति मे आवश्यक होता है। यद्यपि स्मृति और संस्कार की सामान्यतया आवश्यकता है तो भी ज्ञान मे भेद होना स्पष्ट प्रतीत होता है। इसी प्रकार के अनुभव से इस भेद को विचारने से अनुमान ज्ञान में यद्यपि सम्बन्ध की स्मृति की आवश्यकता है। और पक्ष और विशेष आदि का जानना भी आवश्यक है। तो भी दूसरा कहने मात्र से आ जाता है। सो यह प्रमाण का मतलब सुख-दुःख में पृथक्-पृथक् अनुभव होने में अपने साधिकरण और सजातीय का विशेष कारण से उत्पन्न होने से स्मृति की तरह है।

प्रश्न—यदि कारण के विभाग पर ज्ञान के अधिकार होने से सुख-दुःख का अर्थात् सुख से दुःख का घड़े और खम्बे की तरह भेद है,

तो शरीर और उसके अवयव सिर, पैर, पीठ, आदि का आपस में भेद न होना चाहिये क्योंकि उनके कारण परमाणु दो तक आदि अथवा रज वीर्य और रक्त आदि बराबर ही हैं।

एकदेश इत्येकस्मिन् शिरः पृष्ठमुदरं मर्माणि तद्विशेषस्तद्विशेषेभ्यः ॥७॥

अर्थ—एक शरीर में पृथक-पृथक अवयव का जो विभाग है, वह भी उनके कारणों में विभाग के कारण से है। जैसे सिर एक भाग है, पेट दूसरा, पीठ तीसरा ऐसे नाड़ी आदि उनके कारण हैं। एक से दूसरे में विशेषता और अजानित्व उपस्थित है। मतलब यह है कि जिन परमाणुओं से सिर बना है पैर उससे नहीं बने क्योंकि किसी भाव में अग्नि ज्यादा, कहीं जल ज्यादा, कहीं मिट्टी ज्यादा, कहीं वायु ज्यादा मतलब यह है कि इन कारणों में भेद है। यद्यपि घड़ा और कपड़ा जिन परमाणुओं से बनते हैं उनसे परमाणु पन सामान्य होने से उनका कारण एक ही हैं किन्तु परमाणुओं के विभागों में भेद है। किसी में और किसी प्रकार के कम होने से उनमें भेद है। इसी कारण शरीर के अवयवों में जो भेद है वह कारण के भेद से है।

दशवेंअध्याय का पहला आह्निक समाप्त ॥
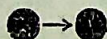
वैशेषिक दर्शन भाषानुवाद

अध्याय १०, आह्निक २
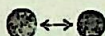
अब प्रसंगानुसार यथा अवसर तीनों कार्यों के विशेष प्रकार से विभाग का विचार करते हैं।

कारणमितिद्रव्ये कार्यसमवायात् ॥१॥

अर्थ--यह समवायि कारण है, इसका व्यवहार द्रव्य में मालूम करना चाहिये। यह किस प्रकार है इस पर कहते हैं द्रव्य ही में, गुण और कर्म समवाय सम्बन्ध से रह सकते हैं। गुण और कर्म में द्रव्य नहीं रह सकता। जिसमें रह सके, वही समवायि कारण हो सकता है। और जिसमें आधार होने की योग्यता नहीं, किन्तु वह दूसरों में ही रहने वाला है वह समवायि कारण नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि द्रव्य में ही समवायि कारण होता है।

प्रश्न--क्या द्रव्य केवल समवायि कारण ही हो सकता है या कोई अन्य कारण भी ?

उत्तर---संयोगाद्वा ॥२॥

अर्थ--जिस प्रकार कपड़े की उत्पत्ति में सूत की तारें समवायि कारण हैं उसी प्रकार तारों के संयोग के कपड़े के कारण से जुलाहे के अस्त्र से जो इस संयोग के कारण हैं, वह निमित्त

१—'कारणे समवायात्त कर्माणि' इति पाठः।

कारण हैं। क्योंकि संयोग जो समवायि कारण है उसकी उत्पत्ति वस्त्रों के बिना नहीं हो सकती, इस वास्ते द्रव्य समवायि कारण और निमित्त कारण होता है, और असमवायि कारण कर्म होता है। अब यह बतलाते हैं कि कर्म किस प्रकार के कारण होते हैं।

कारणेऽसमवायात् कर्म्माणि ।३॥

अर्थ—कर्म असमवायि कारण होते हैं। असमवायि कारण किसे कहते हैं? जो कारण और कार्य के सम्बन्ध को एक ही में मिला दे वह असमवायि कारण है वह कार्य में मिला देने से अथवा कारण में मिला हुआ रहने से इसमें मिला हुआ रहने से इसमें कार्य में रहने वाला हो तो छोटा और कारण में रहने वाला वैशेषिक शास्त्र में बड़ा कहा है।

प्रश्न—किस प्रकार संयोग, विभाग और संस्कार का कर्म कारण होता है?

उत्तर—कारण में रहने से कारण अर्थात् संयोगादि के समवायि कारण में रहने से। और कार्य में मिलने से संयोगादि का कर्म समवायि कारण है।

प्रश्न—रूप आदि गुण जो अवयव में रहते हैं। अवयवी के गुणों के किस प्रकार के कारण होते हैं।

तथारूपे कारणैकार्थसमवायात् ॥४॥

अर्थ यहाँ रूप उदाहरणों के वास्ते उपलक्षण अर्थात् नमूना उपस्थित किया गया है अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, भार, स्पन्दन और द्रव्यत्व होने का उपलक्षण है। इसी प्रकार समवायि कारण में मिलने से रूप होता है। समस्त जो रूपादि गुण हैं, उनका समवायि कारण जो अवयवी अर्थात् सम्पूर्ण द्रव्य है। उसके साथ मिले रहने से बड़ा होने से रूपादि-को उत्पन्न करता है। ऐसा

प्रत्येक स्थान में विचार लेना चाहिये। शब्द 'च' से यह बतलाया कि कहीं रूपादि निमित्त से होते हैं। द्रव्य के उत्पन्न करने में संयोग जो समवायि कारण है उसके और कारणों से निर्बन्धता को बतलाते हैं।

कारणसमवायात् संयोगः पटस्य ॥५॥

अर्थ--कारण अर्थात् समवाय कारण में रहकर संयोग भी कपड़े आदि कार्य में मिलकर रहने से उसका समवायि कारण संयोग भी है। यहां कपड़े से कुल कार्य को जानना चाहिये। यदि अवयव और अवयवी का संयोग भी कपड़े आदि के बनने में असमवायि कारण है और कोई ऐसा मानते हैं कि कारण में सम्मिलित होकर रहता है अब यह बतलाते हैं कि संयोग कहीं बहुत बड़े कारण का होता है।

कारणाकारणसमवायाच्च ॥६॥

अर्थ—मिट्टी के गोले के अवयव में जो संयोग है जिसका नाम परिचय है, वह गोले में महत्व उत्पन्न करता है और कारण में मिलकर रहने से ही वह संयोग महत्व को उत्पन्न करता है। तात्पर्य यह है कि परमाणुओं के संयोग से महत् पदार्थों में महत्व पाया जाता है, इस प्रकार समवायि कारण की विशेषता को बतलाकर अब निमित्त कारण का वर्णन करते हैं।

संयुक्तसमवायादग्नेर्वैशेषिकम् ॥७॥

अर्थ—अग्नि में जो विशेष गुण गर्मी है वह पाकज अर्थात निमित्त गर्मी वाली वस्तु में निमित्त कारण है यह उपलक्षण केवल ज्ञान के लिये है। सब निमित्त कारण की विशेषता वाले हैं। बुद्धि, सुख-दुःख इच्छा, घृणा, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, विश्वास आदि निमित्त कारण की विशेषता सुख आदि में है। इस भेद को दिखाते हैं। अब सम्पूर्ण

शास्त्र को समाप्त करने से प्रथम वेदों के प्रमाण को दृढ़ करने के वास्ते दिखलाते हैं। यद्यपि यह दोनों सूत्र प्रथम भी आ चुके हैं। इनकी पुनरावृत्ति इसलिये है कि न तो कोई वैदिक कर्म निष्फल जाता है और न ही विना वेद के तत्त्वज्ञान मालूम हो सकता है।

दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय ॥८॥

अर्थ--जो कर्म प्रमाण से मालूम हुए हैं, यज्ञ, दान, स्नान, संस्कार आदि जो शास्त्रों ने प्रयोजन दिखलाया है। उसको मालूम करके जैसा कहा कि जिसको स्वर्ग की इच्छा हो वह सदैव यज्ञ करे। अथवा मुक्ति की इच्छा वाला अग्निहोत्र करे। इस प्रकार की शिक्षा में बुद्धि के अनुसार फलता है। और किसी स्थान पर अर्थवाद होता है, जिसकी इच्छा, स्तुति, निन्दा, प्रकृति और पुराकल्प रूप से अच्छे, कर्मों का संचार करना होता है। जिसकी स्तुति की जाती है उसका फल सदैव लाभकारी होता है। यदि संसार में लाभकारी न हो तो समझ लेना चाहिये, कि यह मोक्ष का साधन है। इसी प्रकार जिसकी निन्दा की जाती है वह हानिकारक होता है। यदि यहाँ उसकी हानि मालूम न हो तो मोक्ष में अनुरोधक है जैसे वेद में कहा है. कि निष्काम दूसरों का भला करो अब इससे संसार में कोई फल नहीं मिलता, तो यह कर्म निष्फल न होगा, किन्तु अन्तःकरण को शुद्ध करके मोक्ष की तरफ ले जायेगा और मोक्ष के कारण ईश्वर उपासना और ज्ञान के योग्य बना देगा। वेदों ने बतलाया, कि जीव की हिंसा मत करो, मांस मत खाओ, सुरापान मत करो। यदि इन बातों से संसार में कोई हानि दृष्टिगत न होवे तो भी मन को खराब करके ईश्वरोपासना और ज्ञान के योग्य नहीं रहने देता। जिससे लाभ के स्थान में जीव हानि-कारक परमाणुओं को प्राप्त कर दुःख पाता है। तात्पर्य यह है,

कि वेद का वतलाया हुआ कर्म निष्फल कभी नहीं जाता। इसलिये वेदोक्त कर्म करने चाहिये।

प्रश्न – वेदोक्त कर्म निष्फल क्यों नहीं जाता ?

उत्तर—यद्यपि मन और इन्द्रियों के दोष से, भ्रम, आलस्य, राग-द्वेषादि के कारण अशुद्धि होती, किन्तु ईश्वर में कोई इस प्रकार का दोष नहीं है इस वास्ते वेदों में किसी प्रकार की खराबी का होना असम्भव है।

प्रश्न - ईश्वर ने वेद बनाया है इसमें भी सन्देह है ?

उत्तर—तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यमिति ।६॥

अर्थ – यह सूत्र प्रथम भी आया था अर्थात प्रतिज्ञा विषयक था, अब जाँच करने के पश्चात् परिणाम विषयक दिखलाते हैं। उस ईश्वर अर्थात् सवव्यापक परमात्मा का उपदेश होने से आम्नाय जो वेद है उसको तत्वज्ञान अर्थात मोक्ष के वास्ते प्रमाण स्वीकार करना चाहिये। बिना वेद के वतलाये हुये नियमों के ईश्वर, जीव, प्राकृति के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान न होने के कारण कर्म से मोक्ष होना सम्भव नहीं। वेद किसी मनुष्य के बनाये हुये नहीं। यदि कहा वाक्य होने से मनुष्य का बनाया हुआ है तो वेद के अन्दर जो आध्यात्मिक विद्याऐं हैं उनका बनाने वाला कोई मनुष्य होना असम्भव है जिस प्रकार सूर्य का बनाने वाला कोई मनुष्य नहीं हो सकता क्योंकि मनुष्य इन्द्रियों द्वारा जानकर ही उपदेश कर सकता है किन्तु वेदों में ऐसी बातें हैं जो प्रमाणों से साबित होने पर भी इन्द्रियों से अनुभव नहीं हो सकती। इसलिये वेद ऐसे सर्वज्ञ का बनाया वाक्य है, जो प्रत्येक शारीरिक, आत्मिक और बाहर के ज्ञान का पूरी तरह जानने वाला हो क्योंकि ऐसा कोई मनुष्य संसार में हो नहीं सकता जो कि सर्वज्ञ हो क्योंकि किसी सीमा वाले

विषय में अनन्त गुणों का होना सम्भव हो नहीं क्योंकि प्रत्येक प्रमाण के विरुद्ध हैं। और न ही कोई ऐसा सीमा वाला पदार्थ दृष्टिगत होता है, कि जिसमें अनन्त गुण हों। इस वास्ते वेदों में जो प्रत्येक यथार्थ का ज्ञान का भण्डार है वह किसी मनुष्य के मष्तिक का परिणाम नहीं किन्तु ऐसे सर्वशक्तिमान का वाक्य है जिसका सर्व विद्याओं का प्रभाव हो। किन्तु प्रत्यक्ष और परोक्ष के ज्ञान में भेद होता है। परन्तु उपदेश से मालूम होता है कि उसके कर्त्ता को सब ज्ञान प्रत्यक्षवत् मालूम होते हैं। जिससे केवल सर्वव्यापक परमात्मा के अतिरिक्त किसी-किसी जीव को सर्व पदार्थ प्रतीत नहीं हो सकते। इस वास्ते वेद का उपदेश करने वाला सर्वव्यापक परमात्मा ही है। जो स्वर्ग, नरक, आत्मा, प्रकृति आदि सम्पूर्ण विषयों को प्रत्यक्षवत् मालूम कर रहा है।

वैशेषिक दर्शन भाषानुवाद का दसवां अध्याय समाप्त।

परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ स्वामी अनुभवानन्द सरस्वती जी के शिष्य श्री स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती का किया हुआ वैशेषिक दर्शन का भाषानुवाद समाप्त हुआ।

॥ इति शुभम् ॥

लक्ष्मी प्रिन्टर्स, ३४० शाहबाद, बरेली

* स्वाध्याय योग्य

पुस्तक	लेखक	मूल्य
उपनिषद् प्रकाश	स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती	
सांख्य दर्शन	,, ,, ,,	
वेदान्त दर्शन	,, ,, ,,	
न्याय दर्शन	,, ,, ,,	
वैशेषिक दर्शन	,, ,, ,,	
योग रहस्य दर्शन	,, ,, ,,	
मीमांसा दर्शनम्	,, ,, ,,	
गीता सिद्धान्त	,, ,, ,,	६-००
मनुस्मृति	स्वामी तुलसी राम जी	१०-००
कथा पच्चीसी	स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती	२-५०
दर्शनानन्द ग्रन्थ संग्रह	,, ,, ,,	१५-००
चाणक्य नीति	पं० बिहारीलाल शास्त्री	२-००
दृष्टान्त सागर	,, ,, ,,	३-००
सत्यनारायण की कथा	महात्मा आनन्द स्वामी	२-००
प्राणायाम विधि	महात्मा नारायण स्वामी	०-७५
सत्यार्थ प्रकाश	स्वामी दयानन्द जी	६-५०
संस्कार विधि	,, ,,	४-००
वेद रहस्य	महात्मा नारायण स्वामी	२-५०
मालावार हत्याकांड और आर्य समाज	ले० महात्मा हंसराज जी	२-५०
धर्म शिक्षा	पं० शिव शर्मा	०-५०

प्रेम पुस्तक भण्डार